सस्ता साहित्य मण्डल : उनसठवां ग्रन्थ

रोटी का सवाल

अथवा

भावी क्रांति का संगठन

[प्रिंस क्रोपाटकिन की 'Conquest of Bread' का अनुवाद]

अनुवादक
गोपीकृष्ण विजयवर्गीय

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
—शाखायें—
दिल्ली . लखनऊ : इन्दौर

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

संस्करण
जून १९३२ : २०००
अगस्त १९३७ : १०००
जून १९४० : १०००

मूल्य
बारह आना

मुद्रक
एम० एन० ठुलल
फेडरल ट्रेड प्रेस,
नया बाज़ार, दिल्ली

तीसरे संस्करण के लिए

प्रस्तुत पुस्तक का तीसरा संस्करण पाठकों के सामने है। प्रथम संस्करण के प्रकाशित होने के समय से अबतक ज़माना बहुत बदल गया है। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों मे उथल-पुथल मची है, परिवर्तन हो रहे हैं और दुनिया का नक्शा बदल रहा है। फिर भी रोटी का सवाल तो लोगो के सामने जैसा पहले था वैसा ही अब भी है। भारत मे आज भी वह दल मौजूद है जो समाजवादी या साम्यवादी शासन-प्रणाली को भारत के लिए वर्तमान स्थितियों मे ठीक समझता है। उनके लिए यह पुस्तक अवश्य ही उपयोगी होगी और मार्ग-प्रदर्शन का काम करेगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

युगो से पीडित किसान, और कारखानो मे काम करने वाले मज़दूरो के लिए भी यह पुस्तक वरदान-स्वरूप है। अपने दुख दूर करने का मार्ग वे इसमे पा सकेंगे।

हमे आशा है कि पाठक पहले दो संस्करणो की भांति इस संस्करण को भी अपनावेंगे।

पुस्तक के प्रारम्भ मे प्रिंस क्रोपाटकिन का चित्र और अत मे श्री गार्डनर तथा श्री बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा लिखा प्रिस क्रोपाटकिन का 'परिचय' और जोड दिया गया है। इनके प्राप्त करने के लिए हम श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी के कृतज्ञ हैं।

इतना मैटर बढ़ाते हुए तथा काग़ज की तथा छपाई की असाधारण तेजी के होते हुए भी हम इस का मूल्य पहले से ।) कम कर रहे है। पहले इसका मूल्य १) था अब ॥।) कर दिया गया है।

—प्रकाशक

पहले संस्करण से

बुद्ध, महावीर, ईसा, शंकर, मुहम्मद, रामदास, दयानन्द आदि जितने भी मनुष्य-जाति के पथ-प्रदर्शक हुए है, उन सबने ऐसा ही प्रयत्न किया जिससे मनुष्य-जाति सुखी हो सके। जितने धर्म-ग्रन्थ है, जितने नीति-ग्रन्थ है, जितने भी ईश्वर-प्रोक्त या ऋषि-प्रोक्त ग्रन्थ है, उन सबमें ऐसे उपदेश और आदेश है कि यदि मनुष्य-समाज उन पर चले तो वह अवश्य सुखी हो जाय। फिर भी मनुष्य-समाज क्यो दु:खी है ? धर्म का इतना उपदेश होते हुए भी, संसार मे अधर्म इतना क्यो है ? नीति का इतना उपदेश होते हुए भी जगत् में इतनी अनीति क्यो है ? जब सारे महापुरुष और सारे धर्म यही कहते रहे है कि दूसरो की आत्मा को अपने समान समझो, विश्व को कुटुम्ब समझो, तो क्यो सदा ही मनुष्य-समाज इसके विपरीत आचरण करता रहा है और एक-दूसरे पर अत्याचार करता रहा है ? क्यो पडोसियो को लूटता रहा है और विश्व मे मानव-जाति के संहार के लिए सेना और शस्त्रास्त्र मे वृद्धि करता रहा है ? जब सारे धर्मों, नीतियो और दर्शनो का यही सार है कि निर्लोभ नि.स्वार्थ, अहिसक, सत्याचारी, दयालु, परोपकारी, सर्वस्व-त्यागी, निरभिमानी पाखण्ड-रहित रहो, तो क्या कारण है कि मनुष्य इतने लोभी, हिसक, स्वार्थी,अत्याचारी,निर्दय,परस्वापहारी,सर्वसंचयी,दुराभिमानी, पाखण्डपूर्ण है। जब सारे समाज-सुधारक यही कहते रहे है कि संसार मे चोरी, डकैती, धोखेबाज़ी, जालसाज़ी, कत्ल, रिश्वतखोरी मिट जाय, तो क्यो निरन्तर इनकी संख्या बढती ही जा रही है, और हमारे कानून, न्याय, अदालत,जेल सब व्यर्थ हो रहे है ?

हमे मानना पडेगा कि हमारे समाज में ही कोई मौलिक दोष आ गया है, जिससे यह उलटा परिणाम हुआ है—सुख के स्थान पर दु.ख, नीति के स्थान पर अनीति, प्रेम के स्थान पर स्वार्थ। समाजवादी कहते है कि वह दोष है, प्रकृति-प्रदत्त सम्पत्ति, और भूत-वर्तमान के सारे मनुष्य-समाज की श्रमार्जित सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार का होना।

इस पुस्तक मे यही बताया गया है कि जो-जो सम्पत्ति आज व्यक्ति की मानी जाती है, वह वास्तव मे उसकी नही, सबकी सम्मिलित है। समाजवादियो का कथन है कि इस एक सिद्धान्त के परिवर्तन से ही मनुष्य-समाज की कायापलट हो जायगी। आज जो स्वार्थ और लोभ, निर्दयता और धोखेबाज़ी है वह न रहेगी। सब भावनाये और मनोवृत्तियां ही बदल जायँगी।

भारतीय रामराज्य और सुराज्य की कल्पना क्या है? यही कि उस व्यवस्था मे कोई चोरी न करेगा, कोई डकैती न करेगा, कोई असत्य न बोलेगा, कोई मद्यपान न करेगा, कोई किसी का घात न करेगा। कोई किसी को कटु वचन न कहेगा, सब एक-दूसरे से प्रेम करेंगे। अतिथियो का सदा स्वागत होगा, जिससे जो चीज़ माँगी जायगी वह प्रसन्नता से देगा। कोई निर्धन और भूखा, नंगा, बे-घर न होगा। घरो में ताले तक न लगेंगे। किसी की पड़ी हुई या भूली हुई चीज़ कोई न उठायेगा। सब विद्वान होंगे, नाना कला-कुशल होंगे। कोई रोग से पीडित न होगा, सब स्वस्थ और सुन्दर होंगे। ईतिभीति दुष्काल न होंगे। सब ब्रह्मचारी या संयमाचारी होंगे। प्रत्येक व्यक्ति धर्मात्मा होगा। उस समय का मानसिक विकास इतना ऊँचा होगा कि अधिकांश लोग ऋषि या ऋषि-तुल्य विचारक होंगे। मनुष्य प्रकृति का पूर्ण आनन्द लेंगे। सब स्वतन्त्र और सुखी होंगे। कला, विद्या, विज्ञान और अध्यात्म की पूर्ण उन्नति होगी। धर्मग्रन्थो का यही रामराज्य है, पौराणिकों का यही सतयुग और स्वर्ग है; नीतिग्रन्थो का यही सुराज्य है, समाज-सुधारकों का यही आदर्श समाज है, और समाजवाद के तत्ववेत्ताओका यही भावी मनुष्य-समाज है। इसी आदर्श का प्रतिपादन इस पुस्तक में किया गया है। इस पर जो शंकाये और आशङ्काये हैं उनके निवारण का प्रयत्न भी पुस्तक मे किया गया है।

समाजवादियो के अनुसार, समाजवाद का एक बड़ा ऊँचा आदर्श है। अभी तक तो वह कल्पना में ही है। रूस का साम्यवादी राज्य भी समाजवाद नही है। समाजवादियो का कहना है कि जबतक बडे-बडे साम्राज्य और पूँजीवाद कायम हैं, जबतक अधिकाँश भूमण्डल

पूंजीवाद और सेनावाद के अत्याचारो से पीडित है, तबतक पूर्ण समाजवाद कही व्यवहार में नही आ सकता। रूस के साम्यवाद को तो अधिक-से-अधिक राजकीय समाजवाद (State-Socialism) ही कह सकते हैं। फिर भी समाजवादी यह विश्वासपूर्वक कहते है कि समाजवाद केवल कल्पना नही है, पूर्णतः व्यवहार-योग्य भी है। वह समय आने वाला है जब संसार भर मे व्यक्तिगत पूँजीवाद और उसके साथी सेनावाद और साम्राज्यवाद न रहेगे, सर्वत्र समाजवाद ही होगा।

क्रोपाटकिन ने इस पुस्तक को यूरोप में, यूरोपवासियो के लिए ही लिखा था, इसलिए इसमें यूरोप की ही रीति-नीतियो और यूरोप की अवस्था के उदाहरण हैं। फिर भी, उसके तत्त्व-तत्त्व तो हमारे देश में भी उपयोगी हो सकते है। इसलिए इस ग्रन्थ का यह अनुवाद प्रकाशित किया जाता है। जो अंश ऐसे थे, जिनमे केवल यूरोप की अवस्था का ही वर्णन था और उनसे भारतीय जनता को अधिक लाभ न था, वे अनुवाद करते समय छोड दिये गये हैं। परन्तु उपयोगी अंश कोई नही छोडा गया है।

इस पुस्तक मे यूरोप की सर्दी का, वहां के मकानो मे नक़ली गरमी पहुँचाने का, वहाँ की ऋतु-विशेषो मे विशेष-विशेष फसलो का, और कृषि में नक़ली गरमी पहुँचाने के प्रयोगों आदि का वर्णन है उनको पढते समय पाठक यूरोप की अवस्था का अवश्य ध्यान रक्खे।

लेखक की एक बात से हमें मत-भेद है। उसे हम प्रकट भी कर देना चाहते हैं। वह है उद्योगवाद। समाजवादियो में भी कई विचारको का ख़याल है कि समाजवाद की अवस्था मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आज का-सा न रहेगा। इसलिए, आजकल के बडे-बड़े कारख़ाने न रहेंगे। हॉ, सामाजिक या व्यक्तिगत उपयोग के छोटे-छोटे व्यवसाय या छोटे-छोटे यन्त्र रहेंगे। आजकल के युद्ध और व्यापार-सम्बन्धी बडे-बडे जहाज़, हवाई जहाज़, रेल और कारख़ाने न रहेगे। परन्तु क्रोपाटकिन ने प्रत्येक कार्य के लिए यहॉतक कि घरेलू कार्यों तक के लिए, यन्त्रो के उपयोग का वर्णन किया है। जब मनुष्य-श्रम का व्यर्थ नाश न होगा, जब

उत्पादको अर्थात् श्रमकर्ताओं की संख्या बढ़ जायगी और लोगों के पास समय काफी रहेगा, तो हाथ से दस्तकारी करने में ही अधिक आनन्द आयगा। बडी मशीनो से काम न लिया जायगा। हाँ, जन-संख्या की वृद्धि का सवाल हो सकता है। परन्तु वह तो समाजवाद के स्थापित होने के कई पीढ़ियों बाद का सवाल होगा। अभी पृथ्वी पर निवासयोग्य भूमि बहुत पडी हुई है। क्रोपाटकिन जैसे महान् विचारको से मतभेद प्रकट करना है तो दु.साहस, परन्तु बडे विचारकों के सारे ही अनुमान सदा ही सही नही होते, और छोटे विचारको का अनुमान भी सही निकल सकता है। इस दृष्टि से हमने अपना विनम्र मतभेद प्रकट कर दिया है। और हम अपने विचार के अकेले ही नहीं हैं। महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति भी यही सम्मति रखते है। समाजवादियो मे भी ऐसे विचारक है।

इसके अतिरिक्त कई बातें, जो आजकल के समाजवादियो के विषय में कही जाती है, परन्तु इस पुस्तक में उनका वर्णन नही है, वे हैं—निरीश्वरवाद, हिंसावाद और विवाह-विरोध। आजकल के समाजवाद के प्रचार मे ये प्रमुख है, परन्तु इस पुस्तक में क्रोपाटकिन ने इनका समर्थन नही किया है, इसलिए इनके विषय मे हमें कुछ कहना नहीं है। हमारा कथन इतना ही है, कि समाजवाद का भारतीय अवतार भारतीय परिस्थिति और आदर्शोंके अनुकूल, और भारतीय वेश में ही होना चाहिए। परन्तु मतभेद के होते हुए भी हम क्रोपाटकिन के प्रशंसक है। पुस्तकान्तर्गत उसके विचार सारे जीवन के निरीक्षण, अध्ययन और मनन के फल हैं।

क्रोपाटकिन रूस के सरदारो मे से थे। वह अपने विचारो के कारण निर्वासित भी रहे। उन्होने दीर्घकाल तक जेल की यातनाये सहन की। वह रूस की क्रान्ति के जन्मदाताओ मे से थे। वह संसार के श्रेष्ठ विचारको में से ही नही, व्यावहारिक कार्यकर्ता भी थे। वर्षों तक निर्वासित रह कर उन्होने देश-देश में बडा निरीक्षण, अध्ययन और मनन किया। इस पुस्तक के सिद्धान्तो के बनाने और प्रचार करने में क्रोपाटकिन ने अपने जीवन मे कितना मूल्य दिया है? वास्तव मे क्रोपाटकिन की विषय-प्रतिपादन और शंका-समाधान की शैली बडी प्रभावशाली है।

लेखक की भूमिका

साम्यवाद और समाजवाद पर बहुत से आक्षेप किये जाते है। उनमें से एक यह भी है कि यह कल्पना तो इतनी पुरानी, है किन्तु अभी तक कार्य-रूप मे कहीं नही आई। प्राचीन यूनान के तत्त्ववेत्ताओं ने आदर्श राज्य की योजनायें बनाईं। उसके बाद आरम्भ काल के ईसाई लोगों ने साम्यवादी समूह स्थापित किये। उनके सैकडों वर्ष पीछे जब यूरोप मे सुधार-आन्दोलन शुरू हुआ तो बडे-बडे साम्यवादी भ्रातृ-मण्डल बने। तदनन्तर इग्लैण्ड और फ्रॉस की महान् राज्य-क्रान्तियों के समय इन्हीं आदर्शों का पुनरुद्धार हुआ। अन्त मे सन् १८४८ ई० मे जो फ्रान्सीसी विप्लव हुआ उसके प्रेरक भी बहुत-कुछ यही समाजवादी आदर्श थे। समालोचक कहते है, "देखो न, फिर भी तुम्हारी योजनायें पूरी होने में कितनी कसर है? क्या अब भी तुम नहीं समझते कि मानव-स्वभाव और उसकी आवश्यकताओं के तुम्हारे ज्ञान मे कोई मौलिक दोष है?"

पहले-पहल तो यह आक्षेप बहुत गम्भीर प्रतीत होता है। किन्तु मानव-इतिहास पर ज़रा अधिक ध्यान से विचार करने पर इसमें कुछ तथ्य मालूम नहीं होता। प्रथम तो हम देखते है कि करोडों मनुष्यों ने ग्राम-पंचायतों के रूप मे सैकडों वर्ष से समाजवाद के एक प्रधान तत्त्व की सफलता-पूर्वक रक्षा की है। वह इस प्रकार, कि उत्पत्ति का मुख्य साधन अर्थात् ज़मीन सबकी सम्मिलित सम्पत्ति मानी जाती है, और भिन्न-भिन्न कुटुम्बों का जितना परिश्रम करने का सामर्थ्य होता है ज़मीन के उतने ही भाग उन्हें सौंप दिये जाते है। हम यह भी देखते है कि पश्चिमी यूरोप मे भूमि के सार्वजनिक स्वामित्व का नाश किसी भीतरी दोष के कारण नहीं हुआ है, प्रत्युत बाहर के आक्रमण से हुआ है। वहाँ शासकों ने उमरावों और मध्यम श्रेणी के लोगों का ज़मीन पर एकाधिकार कर दिया है। दूसरी बात यह विदित होती है कि मध्यकालीन नगर अपने यहाँ लगातार कई शताब्दियों तक उत्पत्ति और व्यापार पर एक प्रकार से समाजवादी संगठन बनाये रहे। इस काल में बौद्धिक,

औद्योगिक और कला-सम्बन्धी उन्नति भी तीव्र गति से हुई। और इन साम्यवादी संस्थाओ का ह्रास कैसे हुआ ? इसी से कि लोगो मे शहर और गॉव, किसान और नागरिक की शक्तियो का इस प्रकार संयोग करने की योग्यता नही थी कि वे मिलकर सेनावादी राज्यो की वृद्धि का सामना कर सकते। इन राज्यो ने ही उन स्वाधीन नगरो को नष्ट किया।

तो इस तरह समझने पर मानव-इतिहास से साम्यवाद के विरुद्ध दलील नही मिलती। प्रत्युत यह दिखाई देता है कि किसी-न-किसी प्रकार का साम्यवादी संगठन स्थापित करने का प्रयत्न बराबर होता रहा है। इस प्रयत्न को यत्र-तत्र थोडी-बहुत सफलता भी कुछ समय तक मिली है। इससे हमे अधिक-से-अधिक यही नतीजा निकालने का अधिकार है कि मनुष्य को अभी तक साम्यवादी सिद्धान्तो के आधार पर कृषि का द्रुतगति से बढ़ते हुए उद्योग और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के साथ योग करने की विधि मालूम नही हुई है। इस प्रकार के व्यापार से तो उलटी गडबड होती है, क्योकि अब दूरवर्ती व्यापार और निर्यात से केवल व्यक्ति ही धनवान नही बनते, बल्कि राष्ट्र-के-राष्ट्र अनुचित लाभ उठाते है। खराबी बेचारे उन देशो की है जो औद्योगिक विकास में पीछे रह जाते है।

यह हालत अठारहवीं सदी के अखीर से शुरू हुई। किन्तु इसका पूरा विकास हुआ नेपोलियन की लडाइयां खतम हो जाने पर उन्नीसवी सदी मे ही। आधुनिक साम्यवाद को इस पर विचार करना ही पड़ता है।

अब यह स्पष्ट हो गया है कि फ्रांसीसी विप्लव का राजनैतिक अभिप्राय तो था ही, साथ ही उसमे लोगों ने सन् १७९३ और १७९४ मे समाजवाद से थोडी बहुत मिलती-जुलती तीन भिन्न-भिन्न दिशाओ मे भी प्रयत्न किया था। प्रथम तो था धन का समान बटवारा। इसके लिए क्रमश बढ़ने वाले आय-कर और उत्तराधिकार कर लगाये गये ज़मीन को थोडी-थोडी बॉट देने के लिए प्रत्यक्ष रूप मे ज़ब्ती की गई और सिर्फ धनिको पर भारी-भारी युद्ध-कर लगाए गये। दूसरा प्रयत्न एक तरह का नागरिक साम्यवाद था। उसके द्वारा सबसे ज़्यादा ज़रूरत की वस्तुये म्युनिसिपैलिटियॉ खरीद लेती और उन्हे लागत के दामो पर बेच देतीं।

तीसरा प्रयत्न था सब पदार्थों के वाजिब भाव मुकर्रिरकर देने की विस्तृत राष्ट्रीय प्रणाली। इन भावों मे उत्पत्ति की असली लागतऔर व्यापार का उचित मुनाफा शामिल करना था। कन्वेन्शन सरकार ने इस योजना के लिए बडी कोशिश की थी, वह उसको पूरा करने मे सफल भी हो गई थी, परन्तु शीघ्र ही प्रतिक्रिया प्रबल हो गई।

इस विलक्षण आन्दोलन का अभी तक उचित रूप से अध्ययन नही किया गया। इसी आन्दोलन के बीच मे आधुनिक साम्यवाद का जन्म हुआ है। लायन्स मे तो ला'एन्ज और उसका फ़ोरियर मत उत्पन्न हुआ और बोनारोटी वेब्यूफ और उनके साथियो का सत्तावादी साम्यवाद उत्पन्न हुआ। महान् राज्यविप्लव के तत्काल पश्चात् ही आधुनिक समाजवाद के सिद्धांतो के तीन महान् जन्म-दाता फोरियर, सेन्ट सायमन और और रावर्ट ओवेन, तथा गाडविन भी प्रकट हुए। और बोनारोटी और वेब्यूफ की समितियो से निकलने वाली गुप्त-समाजवादी समितियो ने आगामी पचास वर्ष के लिए तीव्र सत्तात्मक समाजवाद पर अपनी मुहर लगा दी।

तो हम कह सकते है कि आधुनिक साम्यवाद सौ वर्ष का भी नही है, और इस सौ वर्ष में से आधे समय तक तो, इसके विकास मे केवल दो राष्ट्र, ब्रिटेन और फ्रॉस ही, भाग लेते रहे, क्योकि यही उद्योग-धन्धो मे बढे हुए थे। उस समय ये दोनो ही देश नेपोलियन के पंद्रह वर्ष के युद्धो से बुरी तरह ज़ख्मी थे और दोनो ही पूर्व से आने वाली यूरोपियन प्रतिक्रिया मे फॅसे हुए थे।

वास्तव में, जब और १८३० की फ्रान्स की क्रान्ति ने १८३०-३२ के इंग्लैण्ड के सुधार आन्दोलन ने इस भयंकर प्रतिक्रिया को हटाना शुरू कर दिया, तभी सन १८४८ की क्रान्ति के कुछ वर्ष पहले साम्यवाद पर चर्चा होना सम्भव हुआ। उन्ही वर्षों मे फोरियर, सेन्ट सायमन और रावर्ट ओवेन के अनुयायियो ने अपने नेताओ के आदर्शों को कार्यान्वित किया, और तभी आजकल पाये जाने वाले विविध साम्यवादी मतो का रूप निर्धारित हुआ और उनकी परिभाषायें हुईं।

ब्रिटेन में राबर्ट ओवेन और उनके अनुयायियो ने अपनी योजनानुसार ऐसे समाजवादी ग्राम क़ायम किये जिनमें कृषि और उद्योग साथ-साथ ही हों। बडे-बडे सहयोगी संघ इसलिए चालू किये गये कि उनके मुनाफे से और भी समाजवादी बस्तियां बसाई जायँ। ग्रेट कान्सालिडेटेड ट्रेड यूनियन (महान् सम्मिलित व्यवसाय-संघ) कायम किया गया। इसी से आगे चलकर आजकल की लेबर-पार्टियाँ तथा इन्टरनेशनल वर्किंग-मेन्स ऐसोसिएशन, दोनो निकले।

फ्रान्स मे फ़ोरियर-मत-वादी कन्सीडरेन्ट ने अपनी प्रसिद्ध विज्ञप्ति प्रकाशित की। उसमे बडी सुन्दरता से पूँजीवाद की वृद्धि के वे सब सैद्धान्तिक विवेचन दिये हुए थे, जो आजकल "वैज्ञानिक साम्यवाद" के नाम से प्रसिद्ध है। प्राउडन ने अपने राज्य-संस्था-रहित अराजकवाद और परस्परवाद के विचारो को विकसित कर बताया। लुई ब्लैक ने अपनी "आरगेनीज़ेशन आव लेबर" नामक योजना प्रकाशित की, जो बाद में लैसेल का कार्यक्रम ही बन गया। फ्रान्स मे वाइडल ने और जर्मनी मे लारेञ्ज स्टीन ने क्रमशः १८४६ और १८४७ मे दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये, और उसमे कन्सीडरेन्ट के सिद्धान्तो का और भी विकास हुआ। अन्त मे वाइडल ने और विशेषकर पेकर ने समष्टिवाद (Collectivism) प्रणाली को ब्यौरेवार विकसित किया। वाइडल की इच्छा थी कि १८४८ की "नेशनल एसेम्बली" (राष्ट्रीय परिषद्) उस प्रणाली को कानून बनाकर स्वीकार करले।

परन्तु उस समय की साम्यवादी योजनाओ मे एक विशेषता थी और वह ध्यान मे रख लेनी चाहिए। उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे साम्यवाद के जिन तीन जन्मदाताओ ने लेख या ग्रन्थ लिखे वे उज्ज्वल भविष्य की कल्पना से इतने प्रभावित हुए थे कि उसे नया ईश्वरीय ज्ञान ही समझने लगे, और अपने को एक नये धर्म के प्रवर्तक मानने लगे। वे साम्यवाद को नया धर्म बनाने लगे और अपने नये मत से सरपरस्त होकर उसकी प्रगति का संचालन करने का विचार करने लगे। इसके अलावा जब फ्रान्स की क्रान्ति के बाद प्रतिक्रिया हुई, और क्रान्ति मे

सफलता की अपेक्षा असफलता ही अधिक हुई, तो उस समय लेख लिखते हुए उनका साधारण जनता पर विश्वास न था। जिन परिवर्तनो को करना वे आवश्यक मानते थे उनके विषय मे वे जनता से कोई अपील नही करते थे। बल्कि उनका विश्वास था कि एक साम्यवादी नेपोलियन, एक महान् शासक की जरूरत है। वह नवीन ईश्वरीय ज्ञान को समझेगा। जब वह उनके सिद्धान्तानुसार चलनेवाले आश्रमो या संघो के सफल प्रयोगो को देखेगा, तो उसे विश्वास हो जायगा कि नवीन ज्ञान अच्छा है, और वह अपनी सत्ता से मनुष्य-जाति को सुख और आनन्द प्राप्त करानेवाली क्रान्ति को शान्ति और सफलतापूर्वक पूर्ण कर देगा। सेनावादी महापुरुष नेपोलियन यूरोप पर राज्य कर ही चुका था, तो ऐसे साम्यवादी महापुरुष की कल्पना भी क्यो न की जाती, जो सारे यूरोप का नेता बन कर नये ज्ञान को वास्तविक जीवन मे कार्यान्वित करदे? ऐसा विश्वास बड़ा गहरा हो गया था और उसने बहुत समय तक साम्यवाद का रास्ता रोका। उसके चिन्ह तो हममे आजकल तक पाये जाते है।

१८४०-४८ मे जब सब लोगो को मालूम होने लगा कि क्रान्ति समीप ही है, और जब श्रमिक दलवाले मोर्चों पर ही साम्यवादी झण्डे उड़ाने लगे, तब साम्यवादी योजनाये बनाने वालो के दिलो मे जनता का विश्वास फिर होने लगा। एक ओर तो उन्हे रिपब्लिकन प्रजातन्त्र मे विश्वास होने लगा, और दूसरी ओर श्रमजीवियो के अपने-आप अपना संगठन कर लेने की शक्ति मे विश्वास होने लगा।

परन्तु इसके बाद फरवरी सन् १८४८ की क्रांति आई, मध्यमवर्ग का रिपब्लिक प्रजातन्त्र कायम हुआ और उसके साथ भग्न आशायें भी आई। मजदूरो का विद्रोह खड़ा हुआ, और वह रक्त-पात के बाद दबा दिया गया। उसके बाद मज़दूरो का कत्लेआम और बहुत-सी जनता का निर्वासन हुआ, और राज्य की ओर से अचानक ज़बर्दस्त प्रहार हुआ। साम्यवादियो का भयकर दमन किया गया, और उनको इस प्रकार छांट लिया गया कि फिर दस-पन्द्रह वर्ष तक लोग साम्यवाद का नाम ही भूल गये। १८४८ से पहले के प्रचलित समग्र साम्यवादी विचारो का नामोनिशान

तक इस प्रकार मिट गया कि बाद मे वे प्रकट हुए तो नये अन्वेषण के समान मालूम हुए।

परन्तु १८६६ के लगभग, जब नवीन जागृति हुई और समाजवाद और समष्टिवाद फिर मैदान मे आए, तो मालूम हुआ कि इन दोनो के साधनो के विषय मे बडा विचार-परिवर्तन हो गया है। राजनैतिक प्रजातन्त्रवाद का विश्वास तो हटता जाता था, और जब लन्दन में १८६२ और १८६४ में पेरिस के मज़दूरो और ब्रिटिश-ट्रेड-यूनियन वालो और ओवेन-मत वादियो की परिषद् हुई, तो जिस मूल-सिद्धान्त पर वे एकमत हुए वह यह था कि "श्रमिको की स्वतन्त्रता श्रमिक लोगो द्वारा ही प्राप्त की जानी चाहिए।" वे इस पर भी एकमत हुए। कि स्वयं मज़दूर-संघों को उत्पत्ति-साधनो पर कब्ज़ा करना पडेगा, और उत्पत्ति का प्रबन्ध करना पडेगा। इस समय फोरियर मत-वादी और परस्परवादी 'एसोसि-एशन' की फ्रान्स की कल्पना, और राबर्ट ओवेन की दि ग्रेट कन्सोलिडेटेड ट्रेड्स यूनियन की कल्पना मिल गई। अब वह बढा कर एक 'इन्टरनेशनल वर्किंग मेन्स एसोसिएशन' बनादी गई।

साम्यवाद का यह नवीन जीवन भी थोडे समय के लिए ही टिका। शीघ्र ही १८७०-७१ का जर्मन-फ्रान्स युद्ध छिड गया, और पेरिस के कम्यून-सङ्गठन का विप्लव हुआ। इस से फ्रान्स मे साम्यवाद की स्वतंत्र वृद्धि फिर असम्भव हो गई। परन्तु इधर तो जर्मनी ने १८४८ के फ्रान्सीसी साम्यवादियो का साम्यवाद, अर्थात् कन्सीडरेंट और लुई ब्लैङ्क के विचार तथा पेकर के सम्मिलित-समष्टिवाद के विचार अपने जर्मन गुरुओ मार्क्स और एन्जेलस से ग्रहण किये, और उधर फ्रांस एक क़दम और भी आगे बढ़ा।

मार्च १८७१ मे पेरिस ने यह घोषणा कर दी कि वह अब फ्रांस के पिछडने वाले भागो के लिए न ठहरेगा, और उसका विचार है कि वह अपने कम्यून मे ही अपना साम्यवादी विकास प्रारम्भ कर देगा।

वह आन्दोलन इतने थोडे दिन टिका कि उससे कोई भी निर्णयात्मक परिणाम न हो सका। वह तो पञ्चायती बन कर ही रह गया। वह कम्यून

पञ्चायत की पूर्ण स्वाधीनता के अधिकारो का आग्रह करके ही रह गया; परन्तु पुराने 'इन्टरनेशनल' के मज़दूरो ने उसके ऐतिहासिक महत्व को समझ लिया। उन्होने समझ लिया कि स्वतन्त्र कम्यून (पंञ्चायत) ही एक ऐसा माध्यम होगा, जिसके द्वारा आगे आधुनिक साम्यवाद के विचार कार्यान्वित हो सकेगे। यह जरूरी नही समझा गया कि १८४८ से पहले इङ्गलैण्ड और फ्रांस मे जिन स्वतन्त्र उद्योग और कृषि के सम्मिलित पचायती ग्रामो की इतनी चर्चा थी, वे छोटे-छोटे आश्रम या २००० आदमियो के समुदाय ही हो। वे पेरिस की तरह से बडे-बडे समुदाय या छोटे-छोटे प्रदेश होने चाहिये। कही-कही इन्ही पञ्चायतों के सङ्गठन मिल कर राष्ट्र बन सकेगे और यह आवश्यक नही कि वे राष्ट्र आजकल की राष्ट्रीय सीमाओ के भीतर ही रहे (जैसे कि सिक बन्दरगाह या हंसा नगर थे)। इसके साथ ही पंचायतों के रेल, बन्दरगाह आदि परस्पर-संबन्धों के लिए श्रमिको के बडे-बडे संगठन खडे हो जायगे।

इसी प्रकार के कुछ-कुछ विचार १८७१ के बाद विचारशील श्रमिको मे घूमने लगे, विशेप कर लैटिन देशो में। श्रमिक लोगो ने समझा कि, राज्य सारी औद्योगिक सम्पत्ति पर कब्जा करे और राज्य ही कृषि और उद्योग का अपनी ओर से प्रबन्ध करे, इसकी अपेक्षा तो उनके विचारानुकूल किसी सगठन से ही साम्यवाद अधिक सरलता से कार्यान्वित हो सकेगा। हा, उसकी सारी तफसीले उन सिद्धांतो के अनुसार जीवन व्यतीत करने पर ही निर्धारित होगी।

इस पुस्तक को लिखे हुए कई वर्प गुजर गये हैं। उनका सिंहावलोकन करने पर मैं अन्त.करण-पूर्वक कह सकता हूँ कि इसके प्रधान विचार सही थे। राजकीय साम्यवाद के प्रचार की सचमुच काफी प्रगति हुई है। राज्य की रेलें, राज्य के बैङ्क, और राज्य का मादक पदार्थ व्यवसाय यत्र-तत्र स्थापित हो गये है। किन्तु इस दशा मे प्रत्येक कदम पर, चाहे उससे वस्तु-विशेप सस्ती हुई हो, मजदूरो के अपने उद्धार के मार्ग मे नई बाधा उपस्थित हुए बिना नही रही। यही कारण है कि आज मजदूरों मे, विशेपत पश्चिमी यूरोप मे यह विचार दृढ होता पाया जाता है कि

रेलों जैसी विशाल राष्ट्रीय सम्पत्ति का कार्य-सञ्चालन भी राज्य संस्था की अपेक्षा रेलवे मजदूरो के सम्मिलित-संघ द्वारा अच्छे ढंग से हो सकता है।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि यूरोप और अमेरिका भर मे ऐसे असंख्य उद्योग हुए हैं जिनका मुख्य हेतु एक तरफ तो यह है कि उत्पत्ति के बड़े-बड़े विभाग स्वयं मज़दूरो के हाथो मे आ जॉय, और दूसरी तरफ यह कि नगर-वासियों के हित के जितने कार्य नगर द्वारा किये जाते हैं उनका क्षेत्र सदा अधिकाधिक विस्तीर्ण होता चला जाय। एक तो, श्रमजीवी संघो की यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि भिन्न-भिन्न व्यवसायो का संगठन अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से किया जाय, और उनको केवल मज़दूरो की दशा सुधारने के साधन ही न बनाये जायँ, प्रत्युत उन्हे ऐसे संगठन का रूप दिया जाय जो समय आने पर अपने हाथो मे उत्पत्ति की व्यवस्था भी ले सके। दूसरे, सहयोग उत्पत्ति और विभाजन मे और उद्योग और कृषि में, दोनो, दिशाओं मे ही सहयोग बढ़ रहा है और आजमायशी बस्तियों मे दोनो प्रकार के सहयोगों को मिला कर दिखाने की कोशिश की जा रही है। तीसरे, नागरिक समाजवाद का अनेक विभिन्नताओ से परिपूर्ण क्षेत्र भी खुला है। इन दिनों इन्हीं तीन दिशाओ मे उत्पादक शक्ति का अधिक-से-अधिक विकास हुआ है।

अलबत्ता, इनमे से किसी एक को किसी अंश मे भी समाजवाद या साम्यवाद का स्थान नही दिया जा सकता। इन दोनो का सामान्य अर्थ ही है उत्पत्ति के साधनो पर सम्मिलित अधिकार। किन्तु इन प्रयत्नो को हमें ऐसे परीक्षण—प्रयोग—अवश्य समझना चाहिए, जिनसे मानवीय विचार-शक्ति साम्यवादी समाज के कुछ व्यावहारिक स्वरूपों की कल्पना करने को तैयार होती है। इन्ही सब आंशिक प्रयोगों का एक-न-एक दिन सभ्य राष्ट्रों मे से किसी की रचनात्मक बुद्धि द्वारा संयोग होकर रहेगा। किन्तु जिन ईंटो से यह महान् भवन निर्माण होगा उसके नमूने मनुष्य की उत्पादक प्रतिभा के विपुल प्रयत्न से तैयार हो ही रहे हैं।

ब्राइटन (इंग्लैण्ड)
जनवरी १९१३

—क्रोपाटकिन

विषय-सूची

P. Kropotkin

प्रिन्स क्रोपाटकिन

रोटी का सवाल

: १ :

हमारा धन—१

एक समय ऐसा था जब मनुष्य पत्थर के भद्दे औज़ार बनाते थे और शिकार पर गुज़ारा किया करते थे। शिकार कभी मिलता, कभी न मिलता। उस समय वे अपनी सन्तान के लिये बपौती के रूप में सिर्फ चट्टान के नीचे का झोपडा और कुछ टूटे-फूटे बरतन छोड जाते थे। प्रकृति उस समय एक विशाल, अज्ञात, और डरावनी वस्तु थी। उससे उन्हे अपने दु खी जीवन के लिए घोर संग्राम करना पडता था। परन्तु ये वहुत पुराने ज़माने की बातें है। मानव-जाति तब से बहुत आगे बढ गई है।

उस अतीत काल के पश्चात् अशान्ति के अनेक युगों का जो क्रम बीता है. उसमे मनुष्य-समाज ने अवर्णनीय सम्पत्ति सम्पादन करली है। ज़मीन साफ हुई है; दलदल सुखा लिए गये है, जंगल कट गये है; सडके बन गई है, पहाडो के बीच मे मार्ग निकाल लिए गये हैं। विविध प्रकार की पेचीदा कलें तैयार हो गई है। प्रकृति के रहस्य खोज निकाले गये है। भाप और बिजली को वश मे करके सेवक बना लिया गया है। परिणाम यह हुआ है कि आज सभ्य मानव-समाज को जन्म लेते ही अपने उपयोग के लिए पूर्वजो की अतुल संचित पूँजी उपलब्ध हो जाती है। यह पूँजी इतनी अधिक है कि मनुष्य यदि अपने परिश्रम के साथ दूसरो के परिश्रम का सहयोग लेकर इससे काम ले तो उसे इतना धन प्राप्त हो जाता है, जिसकी अलिफ-लैला के किस्सो मे कल्पना तक नही की गई है।

भूमि दूर-दूर तक साफ कर ली गई है। उसमे उत्तम-से-उत्तम बीज बोया जा सकता है। वह अपने पर व्यय किये गये कौशल और परिश्रम का विपुल पुरस्कार देने को प्रस्तुत रहती है। इस पुरस्कार से मानव-समाज

वह लूट, देश-निर्वासन, लडाई, अज्ञान, और अत्याचार की घटनाओ से परिपूर्ण है। मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियो पर विजय प्राप्त की, उससे पहले उसका जीवन-क्रम यही तो था। दूसरा कारण यह भी है कि प्राचीन स्वत्वो की दुहाई देकर ये थोडे-से आदमी मानवीय परिश्रम के दो तृतीयांश फल पर कब्ज़ा जमाये बैठे है, और उसे अत्यन्त मूर्खता एवं लज्जापूर्ण ढग से बरबाद करते है। इस सर्वव्यापी दुःख का तीसरा कारण यह है, कि इन मुट्ठीभर लोगो ने सर्वसाधारण की ऐसी दुर्दशा करदी है कि उन बेचारो के पास एक महीने क्या, एक सप्ताह भर के गुज़ारे का सामान भी नही रहता, इसलिए ये लोग उन्हे काम भी इसी शर्त पर दे सकते है कि जिससे आय का बडा हिस्सा इन्हीं को मिले। चौथा कारण यह है कि ये थोडे-से मनुष्य बाकी लोगों को उनकी आवश्यकता के पदार्थ भी नही बनाने देते, और उन्हें ऐसी चीजें तैयार करने को बाध्य करते है जो सब के जीवन के लिए ज़रूरी न हो, बल्कि जिनसे एकाधिकार-धारियो को अधिक-से-अधिक लाभ हो। बस, इसी मे समाजवाद का सार-सर्वस्व है।

किसी सभ्य देश को लीजिए। इसमे जहाँ पहले जंगल और दलदल भरे पडे थे, वहां अब साफ-सुथरे मैदान और स्वच्छ जल-वायु है। वह देश रहने लायक बन गया है। जहां पहले भूमि पर छोटी-मोटी बनस्पति ही पैदा होती थी, वहां अब बहुमूल्य फ़सलें होती है। पहाडो की घाटियो मे चट्टानो की दीवारे काट-काट कर चबूतरे बना दिये गये है और उनपर अंगूर की बेले लगा दी गई है। जिन जंगली पौधों पर पहले खट्टे बेरो और अखाद्य कन्दमूल के सिवाय कुछ नही लगता था, उनकी वर्षों संस्कार करके कायापलट कर दी गई है। आज वे ताज़ी तरकारियो और स्वादिष्ट फलों से लदे रहते है। हजारो सडको और रेलवे लाइनो की पृथ्वी-तल पर धारियॉ-सी पड गई है, और पर्वतो के आरपार सुरंगे बन गई हैं। आल्पस, काफ और हिमालय पर्वत की निर्जन घाटियों मे एंजिन का चीत्कार सुनाई पडने लगा है। नदियो मे जहाज़ चलने लगे हैं। समुद्रतटो की भलीभॉति पैमाइश होकर उन्हे सुगम बना लिया गया है।

जहाँ ज़रूरत हुई, खोदखाद कर उस पर कृत्रिम बन्दरगाह तैयार कर लिए गए हैं, जहाँ जहाज़ो को आश्रय मिलता है और समुद्र का कोप-तूफ़ान भी उनका कोई बिगाड नही कर सकता। चट्टानो मे गहरी खाने खोद ली गई है, और भूगर्भ में ऐसी बारहदरियाँ निर्माण कर ली गई हैं जहाँ से कोयला आदि खनिज पदार्थ निकाले जा सके। राजमार्गों के चौराहो पर बडे-बडे शहर बस गए है, जिनके अन्दर उद्योग, विज्ञान और कला की सब नियामतें एकत्र कर ली गई है।

हमको इस सदी मे जो महान् वैभव उत्तराधिकार मे मिला है, वह उन लोगो का संचित किया हुआ है, जो पीढ़ियो तक दु ख मे ही जिये और दुःख मे ही मरे—जिन पर उनके स्वामियो ने अत्याचार और दुर्व्यवहार किये, और जो घोर परिश्रम से ही जर्जरित होकर चल बसे।

सहस्रो वर्षों तक करोडो आदमियो ने जंगलो को साफ़ करने, दल-दलो को सुखाने, और जल और स्थल-मार्ग बनाने के लिये घोर परिश्रम किया है। जिस धरती पर हम आज खेती करते है उसके कण-कण को मानव संतान की कई नसलो ने अपने पसीने से सींचा है। प्रत्येक एकड पर बेगार, असहनीय मेहनत और सर्वसाधारण के कष्टो की कहानी लिखी हुई है। रेल-मार्ग के प्रत्येक मील पर, टनल (पहाडी सुरंग) के प्रत्येक गज़ पर मानव-रुधिर की बलि लगी है।

खानो की दीवारो पर आज भी खुदैयो की कुदाली के चिन्ह बाकी है। वहाँ के खम्भो के बीच मे जो स्थान है, वहाँ न जाने कितने मजदूरो की कब्रे बनी हैं। और यह कौन कह सकता है कि ऐसी प्रत्येक क़ब्र मे कितने आँसू, कितने उपवास और कितने अकथनीय दु.ख छिपे हुए है। ऐसे कितने अभागे परिवार हुए होंगे, जिनका आधार एक मज़दूर की थोडी-सी मज़दूरी पर रहा होगा, और वही भरी जवानी के दिनो खान मे आग लगने, चट्टान टूट पडने या बाढ आ जाने से चल बसा होगा?

शहरो की बात भी ऐसी ही है। उनका एक-दूसरे से रेल और जल-मार्गों के द्वारा सम्बन्ध बना हुआ है। उन्हे खोदकर देखिए। उनकी तह में एक-पर-एक बाजारो, घरो, नाट्य-शालाओ और सार्वजनिक इमारतो

की बुनियादें मिलेंगी। उनके इतिहास खोजिए, आपको विदित होगा कि किस प्रकार नगर की सभ्यता, उसके उद्योग, और उसके विशेष स्वरूप का क्रमशः विकास हुआ है, और किस प्रकार नागरिकों की पीढ़ियों के सहयोग से उसे आधुनिक स्वरूप प्राप्त हुआ है। प्रत्येक मकान, कारखाने और गोदाम का मूल्य, जिस प्रकार लाखों भूतपूर्व मज़दूरों की सम्मिलित मेहनत से कायम हुआ था, उसी प्रकार आज भी वहाँ बसनेवाले बहुसंख्यक श्रमजीवियों की उपस्थिति और श्रम से उस मूल्य की रक्षा हो रही है। जो राष्ट्रों की सम्पत्ति कही जाती है उसके प्रत्येक परमाणु का महत्व इसी में तो है कि वह एक महान् वस्तु का अंश है। यदि लन्दन का एक जहाज़ी अड्डा या पेरिस का एक बड़ा माल-गोदाम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के इन महान् केन्द्रों में न हो, तो उसका महत्व ही क्या होगा? यदि जल और स्थल-मार्ग से नित्य लाखों-करोड़ों रुपये का माल एक स्थान से दूसरे स्थान को न भेजा जाय, तो खानों, कारखानों और रेलों की क्या दशा हो?

जिस संस्कृति पर हमें आज गर्व है उसके निर्माण में करोड़ों मानव-प्राणियों का हाथ रहा है और करोड़ों मनुष्य पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में इसे बनाये रखने के लिए परिश्रम कर रहे हैं। उनके बिना पचास वर्ष में ही खंडहर के सिवाय कुछ भी बाकी नहीं रह सकता।

एक भी विचार, एक भी आविष्कार, जिसका उदय अतीत काल में हुआ हो या वर्तमान में, ऐसा नहीं है जिसे सबकी सम्पत्ति न कहा जा सके। ऐसे हज़ारों ज्ञात और अज्ञात आविष्कारक हुये हैं, जो बेचारे दरिद्रता से ही मर गये, किन्तु उन्हीं के सहयोग से ये मशीनें निकली हैं जिन्हें आज मानवीय प्रतिभा की मूर्ति कहा जाता है।

सहस्रों लेखकों, कवियों एवं विद्वानों ने परिश्रम करके ज्ञान की वृद्धि, दोष-निवारण और वैज्ञानिक विचार के वातावरण की रचना की है, जिसके बिना इस शताब्दि के चमत्कार असम्भव थे। और स्वयं इन हजारों तत्ववेत्ताओं, कवियों, विद्वानों, एवं आविष्कारकों को पिछली सदियों के परिश्रम का सहारा मिला है। क्या भौतिक और क्या मानसिक,

इनके जीवन का आधार और पोषण तो सब प्रकार के बहुसंख्यक श्रमजीवियो और कारीगरो से ही प्राप्त हुआ है। उन्हे प्रेरणा तो आस-पास की परिस्थिति से ही हुई है।

इसमे सन्देह नही कि संसार के सारे पूंजीपतियो की अपेक्षा नवीन दिशाओं मे उद्योगो का विस्तार वैज्ञानिको की प्रतिभा के कारण अधिक हुआ है। किन्तु प्रतिभाशाली पुरुष भी तो उद्योग और विज्ञान की ही सन्तान है। जबतक हज़ारो भाप के एंजिन सबकी आँखो के सामने वर्षो तक चल न चुके थे, और उनके द्वारा ताप संचालक-शक्ति मे, और संचालक-शक्ति, शब्द, प्रकाश और विद्युत मे, बराबर परिणत नही होने लगी थी तबतक प्रतिभा यन्त्र-शक्ति के उद्गम-स्थान की ओर भौतिक शक्तियो की एकता को घोषणा ही कहाँ कर सकी थी ? और यदि उन्नीसवी सदी के हम लोगो की समझ मे यह विचार आ गया है और इसका करना भी जान गये है, तो इसका कारण भी यही है कि रोज़मर्रा के तजुर्बे ने हमारा रास्ता साफ़ कर दिया था। यह विचार तो अठारहवी शताब्दि के विचारको की समझ मे भी आ गया था, और उन्होने इसे प्रकट भी कर दिया था। परन्तु इसका विकास इसलिए नही हो पाया कि हमारे युग की भाँति उस समय बाष्प-यन्त्र की इतनी प्रगति नही हुई थी। यदि वाष्प-यन्त्र के आविष्कारक वाट को ऐसे चतुर कारीगर न मिलते जो उसकी कल्पनाओ को धातु मे ढाल सकते थे, यदि वे उसके एंजिन के सब पुरज़ो को सम्पूर्णता का रूप न दे सकते तो क्या आज भाप को मशीन-द्वारा बन्द करके उसे घोडे से भी अधिक आज्ञाकारी और पानी से भी ज़्यादा सरल बनाया जा सकता था ? क्या आधुनिक उद्योग-धन्धो मे यह क्रान्ति हो सकती थी ?

प्रत्येक यन्त्र का यही इतिहास है—वही रातो जागना, वही दरिद्रता, वही निराशाये, वही हर्ष और वही अज्ञात मज़दूरो की कई पीढ़ियो-द्वारा किए गए आंशिक सुधार जिनके बिना अधिक-से-अधिक उर्वरा कल्पना-शक्ति बेकार ही सिद्ध होती। इसके अतिरिक्त एक बात और है। प्रत्येक नया आविष्कार एक योग है—ऐसे असंख्य आविष्कारो का परिणाम है,

जो यन्त्र-शास्त्र और उद्योग-धन्धो के विशाल-क्षेत्र में उससे पहले हो चुके है।

विज्ञान और उद्योग, ज्ञान और प्रयोग, आविष्कार और व्यावहारिक सफलता, मस्तिष्क और हाथ का कौशल, मन और स्नायु का परिश्रम, ये सब साथ-साथ काम करते है। प्रत्येक आविष्कार, प्रत्येक प्रगति और मानव-सम्पत्ति मे प्रत्येक वृद्धि भूत और वर्तमान काल के सम्मिलित शारीरिक और मानसिक श्रम का फल होती है।

फिर किसी को क्या अधिकार है कि वह इस सम्पूर्ण वस्तु का एक टुकडा भी छीनकर यह कह सके कि यह तो मेरा है, तुम्हारा नही ?

हमारा धन—३

परन्तु मानव इतिहास मे जो अनेक युग बीते हैं, उनमें बात यह हो गई है कि जिन साधनो से मनुष्य सम्पत्ति बढाता है और अपनी उत्पादक-शक्ति बढाता है, वे सब थोडे-से लोगों ने छीन लिए है। आज यह हाल है कि जमीन का असली मूल्य तो है बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओ के कारण, परन्तु वह है ऐसे मुट्ठी-भर आदमियो के अधिकार मे, जो उस पर जनसाधारण को या तो खेती करने ही नही देते और करने भी देते है तो आधुनिक ढंग से नही। खानो की भी ऐसी ही बात है। वे बनी तो हैं कई पीढ़ियो के परिश्रम से और उनका सारा महत्व भी राष्ट्र-विशेष की औद्योगिक आवश्यकताओ और जन-संख्या की अधिकता से ही है, परन्तु उन पर आधिपत्य है थोडे-से व्यक्तियो का। और यदि इन व्यक्तियो को अपनी पूँजी लगाने के लिये दूसरे अधिक लाभदायक क्षेत्र मिल जाते है, तो या तो ये कोयला निकालना ही बन्द कर देते है या थोडा निकालने लगते है। मशीनें भी इन अल्पसंख्यक आदमियो के एकाधिकार मे आ गई है। यद्यपि किसी भी मशीन के प्रारम्भिक भद्दे स्वरूप मे क्रमश. जितने सुधार हुए है, वे सब तीन-चार पीढियो से काम करनेवाले मज़दूरो के किये हुए है, तो भी उसके मशीन के एकमात्र स्वामी ये थोडे-से लोग ही रहते है। बात यहां

तक बढ गई है कि जिस आविष्कारक ने एक शताब्दि पूर्व गोटा बनाने की पहली मशीन बनाई थी, आज यदि उसी की सन्तान गोटे के कारखाने मे जाकर अपने स्वत्व का दावा करे, तो उन्हे भी कह दिया जायगा कि "दूर रहो जी, यह मशीन तुम्हारी नही है।" वे यदि उस मशीन को लेने का प्रयत्न करेगे तो उन्हे गोली से उडा देने मे संकोच नही किया जायगा।

इसी प्रकार यदि लाखों की आबादी, उद्योग, व्यापार और मण्डियां न हो तो रेलवे भी पुराने लोहे की भाँति पडी-पडी सडा करे। परन्तु इन पर भी इने-गिने हिस्सेदारो का ही अधिकार है। इन हिस्सेदारो को शायद यह भी मालूम नही होता कि जिन रेलवे-लाइनो से उन्हे मध्यकाल के राजाओ से भी ज्यादा आमदनी होती है, वे है कहाँ-कहाँ? इन रेल-मार्गों को पर्वतो के बीच मे होकर खोदते समय हज़ारो मज़दूर मृत्यु के शिकार हुए है। अगर किसी दिन इन महानुभावो के सामने उन्ही मजदूरो के बच्चे चिथडे पहने और भूखो मरते हाज़िर होकर रोटी का सवाल कर बैठें, तो उन्हें संगीनो और छुरों से जवाब मिलेगा, और स्थापित हितो की रक्षा के लिए उन्हे तितर-बितर कर दिया जायगा।

यह इसी दानवी-पद्धति की कृपा का फल है कि जब श्रमजीवी-सन्तान जीवन-पथ पर अग्रसर होती है तो जबतक वह अपनी कमाई का बडा हिस्सा मालिक को देना स्वीकार नही करती, तबतक न तो उसे खेती करने को खेत मिलता है, न चलाने को मशीन, और न खोदने को खान। उसे अपनी मेहनत थोडी-सी और वह भी सन्दिग्ध—मज़दूरी पर बेचनी पडती है। उसके बाप-दादा ने इस खेत को साफ करने, इस कारख़ाने का निर्माण करने, और इस यन्त्र को सम्पूर्ण बनाने में अपना लहू पसीना एक किया था। इस काम मे उन्होने अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी। इससे अधिक उनके पास और देने को था भी क्या? परन्तु उन्ही का उत्तराधिकारी जब संसार मे प्रवेश करता है, तो वह अपने आपको जंगली-से-जंगली आदमियो से भी निर्धन पाता है। यदि उसे ज़मीन जोतने की मंजूरी मिलती भी है, तो इस शर्त पर कि पैदावार का

एक चतुर्थांश तो वह मालिक के अर्पण करे, और दूसरा चतुर्थांश सरकार और साहूकार के। और सरकार, पूँजीपति, जागीरदार और बीचवाले व्यापारी का लगाया हुआ यह कर सदा बढ़ता ही रहता है। इसके मारे उसके पास अपनी खेती सुधारने की शक्ति क्वचित् ही बच रहती है। यदि वह उद्योग की ओर नजर दौड़ाता है, तो उसे काम मिल जाता है—वह भी सदा नहीं—परन्तु इस शर्त पर कि उत्पत्ति का आधा या दो तृतीयांश वह ऐसे व्यक्ति को देदे, जिसे दुनिया ने मशीन का मालिक मान रक्खा है।

हम पिछले जमाने के भूस्वामियों पर तो "शर्म! शर्म!" के नारे लगाते है कि वे किसान से चौथ वसूल किये बिना ज़मीन पर फावड़ा तक नहीं चलाने देते थे। उस समय को कहा भी जाता है बर्बरता का युग। परन्तु रूप भले ही बदला हो, किसान और ज़मींदार के बीच सम्बन्ध तो वैसा-का-वैसा ही है! नाम तो है स्वतन्त्र शर्तनामे का, किन्तु उसकी आड़ मे मजदूरों पर भार वही जागीरदारों की सी शर्तों का डाला जाता है। वह कहीं भी चला जाय, उसे तो हर जगह एक-सी स्थिति मिलती है। सब चीजे व्यक्तिगत सम्पत्ति बन गई है। या तो इसको स्वीकार करो या भूखो मरो।

इसका परिणाम भी बुरा हुआ। हम चीजे पैदा करते है, मगर ग़लत ढग से, उल्टी दिशा मे। उद्योग-धन्धों से समाज की आवश्यकता का खयाल नहीं किया जाता। उसका एकमात्र उद्देश्य सट्टेबाजो के मुनाफ़े मे वृद्धि करना रह गया है। यही कारण है कि व्यापार में सदा उतार-चढ़ाव और समय-समय पर हड़तालें होती रहती हैं। इन मे से एक-एक अवसर पर हजारों मजदूर बेकार होकर दर-दर भीख मांगने लगते हैं।

बेचारे मज़दूरों को तो इतनी मज़दूरी भी नहीं मिलती कि वे अपनी बनाई हुई चीजें खुद ख़रीद लें। इसीलिए दूसरे राष्ट्रों के धनिक-वर्ग में माल बेचने की कोशिश की जाती है। यूरोप-वासियों को इस तरह विवश होकर पूर्वीय देशों से, अफ्रीका मे, मिश्र मे, टांकिङ्ग मे या कांगों मे सर्वत्र दासत्व की वृद्धि करनी पडती है। यही वे करते हैं, किन्तु उन्हे शीघ्र ही

पता लग जाता है कि सब जगह एक से ही प्रतिस्पर्धी होते हैं। सब राष्ट्रो का विकास एक ही ढंग से होता है। फलत. बाज़ार पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये आयेदिन संग्राम करने पडते है। पूर्व पर अधिकार जमाने के लिये लडाई, समुद्र पर साम्राज्य स्थापित करने की ख़ातिर संघर्ष, आयात पर कर लगाने के हेतु लडाई, पडोसी राष्ट्रो को शर्तों के पाश मे बांधने के निमित्त लडाई, विद्रोही 'काली' जातियो को सीधा करने के लिए लडाई, बात-बात मे लडाई मोल ली जाती है। संसार मे तोपो की गर्जना कभी बन्द ही नही हो पाती। जातियो की जातियाँ बध कर दी जाती है। यूरोप के राष्ट्र अपनी आय का तृतीयांश केवल अस्त्र-शस्त्र पर ख़र्च कर डालते है। और हम जानते हैं कि यह भारी कर-भार सारा-का-सारा बेचारे मजदूरो के सिर पर पडता है।

शिक्षा का लाभ भी मुख्यतः मुट्ठी-भर लोगो को ही मिलता है। जब मज़दूरो के बच्चो को दस-बारह वर्ष की आयु से ही खान मे उतर कर या खेत पर जाकर अपनी मेहनत से माता-पिता की मदद करनी पडती हो, तब उनके लिए शिक्षा की सुविधा कहाँ? जो मज़दूर घोर परिश्रम और उसके पाशविक वायुमण्डल से थक कर शाम को घर लौटता हो, उसके लिए अध्ययन कैसा? इस प्रकार समाज को दो विरोधी दलो मे विभक्त रहना पडता है। ऐसी हालत मे स्वतन्त्रता तो सिर्फ कहने की ही वस्तु रह जाती है। सुधारक पहले तो राजनीतिक अधिकार की वृद्धि की मांग करता है, किन्तु उसे जल्दी ही मालूम हो जाता है कि स्वाधीनता की हवा से ग़रीब लोगो मे प्राणो का संचार होने लगता है। तब वह पीछे हटता है, अपना मत बदल लेता है और दमनकारी कानून और तलवार के शासन का आश्रय लेता है।

फिर इन विशेष अधिकारो की रक्षा के लिए अदालतो, न्यायाधीशों, जल्लादो, सिपाहियो और जेलरो के बडे भारी दल की आवश्यकता होती है। इस दल के परिणाम-स्वरूप गुप्तचर-प्रथा, झूठी गवाही, धमकी और दुराचार आदि की पद्धति का जन्म होता है।

जिस पद्धति के आधीन हम रहते है वह हममे सामाजिक भावना

को नही पनपने देती। हम सब जानते है कि ईमानदारी, स्वाभिमान, सहानुभूति और सहयोग के बिना मानव-जाति भी इसी तरह नष्ट हो जायगी, जिस प्रकार आततायीपन पर गुज़र करनेवाली कुछ पशु-जातियाँ अथवा दास बनाने वाली चीटियाँ नष्ट हो जाती है। किन्तु ऐसे विचार शासक-वर्ग को अच्छे नही लगते। उन्होने इनके विरुद्ध पाठ पढ़ाने के लिए झूठे शास्त्र-के-शास्त्र रच डाले है।

'जिनके पास कुछ है, उन्हे ऐसे लोगो को हिस्सा देना चाहिए जिनके पास कुछ नही है'—इस सूत्र पर व्याख्यान तो बडे सुन्दर-सुन्दर दिये जाते है, किन्तु कोई इस सिद्धान्त का अनुसरण करने लगे तो उसे तुरन्त सूचना दे दी जायगी कि ये मनोहर भाव काव्य के लिए अच्छे हैं, व्यवहार मे लाने योग्य नही हैं। कहा तो यह जाता है कि 'झूठ बोलना अपने आपको गिराना और दाग लगाना है।' फिर भी सारा सभ्य जीवन एक महान् असत्य के पंजे मे है। हम अपने आपको और अपनी सन्तान को धोखेबाज़ी और दुमुँही नीति के अभ्यस्त बना लेते हैं। किंतु चूंकि झूठ-ही-झूठ से चित्त अशान्त रहता है, इस कारण हम आत्मवंचना का सहारा लेते है। इस प्रकार छल और आत्मवंचना सभ्य मनुष्य का स्वभाव-सा हो जाता है। परन्तु समाज इस तरह से जीवित नही रह सकता। उसे सत्य की ओर जाना पडेगा। अन्यथा उसका नाश अनिवार्य है।

इस प्रकार एकाधिकार की मौलिक दुहाई से पैदा हुए परिणाम सारे सामाजिक जीवन मे व्याप्त हो जाते है। जब मृत्यु सामने दीखने लगती है तब मानव-समाज मूल-सिद्धान्तो का आश्रय लेने को विवश होता है। जब उत्पत्ति का साधन मनुष्यो का सम्मिलित परिश्रम है तो पैदावार भी सबकी संयुक्त-सम्पत्ति ही होना चाहिए। व्यक्तिगत अधिकार न न्याय्य है न उपयोगी। सब वस्तुएँ सबकी है। सब चीज़े सब मनुष्यों के लिये है, क्योंकि सभी को उनकी ज़रूरत है, सभी ने उन्हे बनाने मे अपनी-अपनी शक्ति-भर परिश्रम किया है और जगत की सम्पत्ति के निर्माण में किसने कितना योग दिया है, इसका हिसाब लगाना असम्भव है।

बस, सब पदार्थ सब लोगो के लिए हैं। औज़ारो का विशाल भण्डार विद्यमान है। जिन्हे हम यन्त्र या मशीन कहते हैं, वे लोहे के गुलाम हमारी नौकरी मे हाज़िर है। वे हमारे लिए चीरने और रन्दा करने, कातने और बुनने, बिगाडने और कच्चे माल की अद्भुत वस्तुएँ बना कर देने के लिए, हाथ बाँधे खडे रहते है। किन्तु किसी को इनमे से एक भी अपने कब्जे मे करके यह कहने का हक नही है कि "यह मेरी है, तुम्हे इसे काम मे लेना हो तो अपनी पैदावार पर मुझे कर चुकाना होगा।" इसी प्रकार मध्यकालीन भूस्वामियो को भी किसानो से कहने का हक नही था कि "यह पहाडी, यह गोचर भूमि मेरी है। इस पर से जो एक-एक पूला धान काटो, और जो एक-एक घास की गंजी बनाओ, उसका लगान मेरे हवाले करना होगा।"

सारा धन सबका है। यदि स्त्री और पुरुष सब अपने-अपने वाजिब हिस्से का काम कर दे, तो सबकी बनाई हुई चीज़ो मे से उन्हे योग्य भाग पाने का अधिकार है। वह भाग उनके सुख के लिए काफ़ी भी है। अब ये थोथे मन्त्र नही चलेगे कि 'सब को काम करने का अधिकार है' अथवा 'सबको अपनी-अपनी मेहनत का सारा फल मिलना चाहिए।' हम तो यह घोषित करते है कि 'सुख पाने का सबको हक़ है, और वह सबको मिलना चाहिए।'

: २ :

सबका सुख—१

सबको सुख मिले, यह कोई स्वप्न नहीं है। सबको सुख मिलना संभव है और वह मिल भी सकता है, क्योकि हमारे पूर्वजो ने उत्पादक-शक्ति को बहुत बढा दिया है।

वस्तुत हम जानते है कि यद्यपि उत्पत्ति के काम मे लगे हुए लोगों की संख्या मुश्किल से सभ्य ससार के निवासियों का एक-तृतीयांश होगी, तथापि वे आज भी इतना माल पैदा कर लेते है, जिससे प्रत्येक घर

खास हद तक सुखी हो सकता है। हमे यह विदित है कि जो दूसरो की खरी कमाई बर्बाद करने मे ही लगे हुए है, यदि उन सबको उपयोगी कार्य मे अपना खाली समय व्यतीत करने को विवश किया जा सके, तो हमारी उत्पत्ति का परिमाण बहुत बढ़ जाय। इसी प्रकार यह भी मालूम हो चुका है कि मानव-जाति की सन्तति-जनन-शक्ति से माल पैदा करने की शक्ति तेज है। भूमि पर मनुष्यो की जितनी घनी बस्ती होगी उतनी ही उनकी सम्पत्ति उत्पन्न करने की शक्ति बढेगी।

इंग्लैण्ड मे सन् १८४४ से १८९० तक आबादी सिर्फ ६२ फीसदी बढी, परन्तु वहाँ की उत्पत्ति कम-से-कम उससे दुगुनी बढी है, अर्थात् १३० फीसदी। फ्रांस मे आबादी और भी धीरे-धीरे बढी है, परन्तु उत्पत्ति की वृद्धि तो वहाँ भी बहुत तेज़ ही हुई है। भले वहाँ कृषि को बार-बार आपत्तिकाल से गुज़रना पडा, भले ही वहाँ राजसत्ता का दख़ल है, रक्तकर और सट्टेबाज़ी का व्यापार और लेन-देन है, फिर भी पिछले अस्सी वर्षों मे गेहूँ की उत्पत्ति चौगुनी और औद्योगिक उत्पत्ति दस गुनी बढ गई है। अमेरिका मे प्रगति इससे भी अधिक हुई है। यद्यपि विदेशो के लोग वहाँ आ-आकर बस गये, या ठीक बात तो यह है कि यूरोप के फालतू श्रमिक वहाँ जाकर भर गए, फिर भी संपत्ति दस गुनी बढ गई है।

परन्तु इन आँकडो से तो केवल इतना-सा अनुमान हो जाता है कि यदि परिस्थिति अच्छी हो जाय तो हमारी सम्पत्ति बहुत अधिक बढ़ सकती है। क्योकि आजकल तो जहाँ हमारी सम्पत्ति-उत्पादन की शक्ति शीघ्रता से बढी है, वहाँ साथ-ही-साथ निठल्ले और बीचवाले लोगो की संख्या भी बहुत अधिक बढी है। समाजवादियो का ख़याल था कि पूंजी धीरे-धीरे थोडे व्यक्तियो के हाथ मे ही केन्द्रीभूत हो जायगी और फिर समाज को अपना न्याय्य उत्तराधिकार पाने के लिए केवल उन थोडे-से करोडपतियो की सम्पत्ति ले लेनी पडेगी, परन्तु वास्तव मे बात उल्टी ही हो रही है। मुफ्तख़ोरो का दल निरन्तर बढ रहा है।

फ्रान्स मे तीस `नवासियो के पीछे दस भी वास्तविक उत्पत्ति-कर्त्ता

नही है। देश की सारी कृषि-सम्पत्ति सत्तर लाख से भी कम आदमियो की कमाई है और खानो और कपडे के दोनो प्रधान उद्योगो मे पच्चीस लाख से भी कम मजदूर है। मजदूरो को लूट-लूटकर खानेवाले कितने है। इंग्लैण्ड के संयुक्त-राज्य मे कुल दस लाख से कुछ ही अधिक स्त्री-पुरुष और बालक मजदूर कपड़ो मे लगे है, नौ लाख से कुछ कम मजदूर खानो मे काम करते है, भूमि जोतने मे भी बीस लाख से बहुत कम मजदूर काम करते है और पिछली औद्योगिक गणना के समय सारे उद्योग-धंधो मे चालीस लाख से कुछ ही अधिक स्त्री-पुरुष और बालक लगे थे। फलतः गणना-विभाग वालो को अपने गणनाङ्क बढ़ाने पडे, इसलिए कि साठ करोड जन-संख्या पर अस्सी लाख उत्पादको की संख्या दिखाई जा सके। सच पूछो तो जो माल ब्रिटेन से दुनिया के सब कोनो पर भेजा जाता है उसका निर्माण करने वाले साठ-सत्तर लाख मज़दूर ही है। और, इसके मुकाबिले मे, जो लोग मज़दूरो की मेहनत का बडे-से-बडा लाभ स्वयं उठा लेते है, और उत्पादक और ख़रीददार के बीच मे पड कर बिना श्रम किये सम्पत्ति संचित कर लेते हैं, उनकी संख्या कितनी है?

किन्तु इस शक्ति के शीघ्रगामी विकास के साथ-साथ निठल्ले और बीचवाले दलालो की संख्या मे भी भारी वृद्धि हो रही है। यदि पूंजी धीरे-धीरे थोडे-से आदमियो के हाथ मे ही एकत्र होती जाय तो समाज को केवल इतना ही करना पडे कि मुट्ठीभर करोडपतियो से छीन कर उसे जिनकी है उन्हे दे दी जाय। परन्तु बात समाजवादियों की इस कल्पना के सर्वथा विपरीत हो रही है। मुफ्तखोरो का दल बुरी तरह बढता जा रहा है।

इतना ही नही, पूँजीपति लोग माल की पैदावार भी बराबर कम करते रहते है। कहना नही होगा, कि आयस्टर (घोघो) की गाडियों-की-गाडियाँ समुद्र मे सिर्फ इसलिए फेक दी जाती है कि जो चीज़ आज तक केवल धनवानो का एक ख़ास व्यंजन समझी जाती थी, वह कही ग़रीबो के खाने का पदार्थ न बन जाय। और भी कितनी ही विलास की सामग्रियो

का यही हाल किया जाता है। उन्हें कहां तक गिनाया जाय ? केवल यह स्मरण रख लेना काफी है कि किस प्रकार अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं की पैदावार सीमित की जाती है। लाखों खुदैये रोज कोयला खोदने को तैयार हैं, ताकि वह कोयला ठण्ड से ठिठुरते हुए लोगों को गरमी पहुंचाने के लिए भेजा जा सके। किन्तु बहुधा उनमें से एक-तिहाई या आधे तक को सप्ताह में तीन दिन से अधिक काम नहीं करने दिया जाता। क्यों ? इसीलिए कि कोयले का भाव ऊँचा रखना है। हजारों जुलाहों को करघे नहीं चलाने दिये जाते, भले ही उनके स्त्री-बच्चों के तन को ढकने के लिए चिथडे भी न हों, और बहुत से लोगों को काफी कपडा भी न मिले।

सैंकडों भट्टियां, हजारों कारखाने समय-समय पर बेकार रहते हैं। बहुतों में सिर्फ आधे समय काम होता है। प्रत्येक सभ्य देश में लगभग बीस लाख मनुष्य तो ऐसे बने ही रहते हैं,* जिन्हें काम चाहिए, पर दिया नहीं जाता।

यदि इन लाखों नर-नारियों को काम दिया जाय, तो वे कितने हर्ष से बंजर जमीन को साफ करके, या खराब ज़मीन को उपजाऊ बना कर उम्दा फसलें तैयार करने में लग जांय ! इनका एक ही वर्ष का सच्चे दिल से किया गया परिश्रम लाखों बीघा बेकार ज़मीन की पैदावार को पॉच गुना कर देने के लिये काफी है। किन्तु दुर्भाग्य तो देखिए कि जो लोग धनोपार्जन की विविध दिशाओं में अग्रसर बनने में सुख मानते हों, उन्हींको केवल इस कारण हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना पडता है कि भूमि, खानों और उद्योग-शालाओं के स्वामी समाज को चूस-चूस कर उस धन को तुर्की, मिश्र या अन्यत्र लगाना पसन्द करते है और वहां के लोगों को भी गुलाम बनाते हैं।

यह तो हुई उत्पत्ति को जान-बूझ कर और प्रत्यक्ष रूप से कम करने की बात। किन्तु इसका एक अप्रत्यक्ष ढंग भी है, जिसका कोई हेतु ही समझ में नहीं आता। वह ढंग यह है कि सर्वथा निरर्थक पदार्थों के

* भारत में तो यह संख्या करोडों तक पहुँचेगी।

बनाने में मानवीय परिश्रम खर्च किया जाता है, जिससे सिर्फ धनवानो के वृथा अभिमान की तुष्टि होती है।

यह हिसाब लगाना अशक्य है कि जिस शक्ति से उत्पादन का, और उससे भी अधिक उत्पादक-यन्त्र तैयार करने का काम लिया जा सकता है, उस शक्ति का कितना अपव्यय किया जाता है, और सम्पत्ति का उपार्जन किस सीमा तक कम किया जाता है। इतना बता देना काफी है कि बाजारों पर प्रभुत्व प्राप्त करने, पडोसी देशो पर बलात् अपना माल लादने, और घर के गरीबों का खून आसानी से चूस सकने के एकमात्र उद्देश्य से यूरोप सेनाओ पर बेशुमार रुपया खर्च करता है। करोडो रुपया हर साल नाना प्रकार के कर्मचारियो के वेतन पर खर्च किया जाता है। और, इन कर्मचारियो का काम क्या है? यही कि वे अल्पसंख्यक लोगों अर्थात् मुट्ठीभर धनिकों के 'स्वत्वो' की रक्षा करे, और राष्ट्र की आर्थिक प्रगतियों को इनके स्वार्थ की अनुकूल दिशा मे चलाते रहे? करोडो रुपया न्यायाधीशो, जेलखानो, पुलिस वालो और नामधारी न्याय के दूसरे कार्यों पर व्यय किया जाता है। इससे कोई प्रयोजन भी सिद्ध नही होता, क्योंकि यह अनुभव की बात है कि बडे-बडे नगरो मे जब-जब जनता का थोडा-सा भी कष्ट-निवारण हुआ है, तभी अपराधो की संख्या और मात्रा बहुत कम हुई है। इसी प्रकार करोडों रुपया अमुक-दल, कोई खास राजनीतिज्ञ, अथवा अमुक सट्टेबाजो के किसी विशेष समूह के लाभ के लिए समाचार-पत्रों द्वारा हानिकर सिद्धान्तो और झूठी ख़बरो के फैलाने में लगाया जाता है।

किन्तु इस सबसे अधिक विचार तो उस परिश्रम का करना है जो सर्वथा व्यर्थ जाता है। कही तो धनवानो के लिए अश्वशालाएं, कुत्तेखाने और नौकरों के दल-के-दल रक्खे जाते है; कहीं समाज की बेहूदगियों और फैशन के भूत की कुरुचियो को सन्तुष्ट करने के लिए सामग्री जुटाई जाती है, कहीं ग्राहकों को अनावश्यक वस्तुएं खरीदने को विवश किया जाता है, या झूठे विज्ञापन देकर घटिया माल उनके सिर मढ़ दिया जाता है, अथवा कारखानेदारों के फायदे के लिए सर्वथा हानिकारक चीजे तैयार

की जाती है। इस प्रकार जिस सम्पत्ति और शक्ति की हानि की जाती है, उससे उपयोगी वस्तुओं की उत्पत्ति दुगुनी हो सकती है, या कारखाने इतने यन्त्रों से सुसज्जित किये जा सकते हैं कि थोड़े ही समय में दूकानें उस माल से भर जाय, जिसके बिना अधिकांश जनता दु:ख उठा रही है। वर्तमान व्यवस्था में तो प्रत्येक राष्ट्र के चतुर्थांश उत्पादक अङ्ग साल में तीन-चार मास बेकार रहने को बाध्य हैं और आधे नहीं तो एक-चौथाई लोगों की मेहनत का, सिवाय धनवानों के मनोरंजन अथवा जनता के रक्तशोषण के, कोई उपयोग नहीं होता।

इस प्रकार यदि हम एक ओर इस बात का विचार करें कि सभ्यराष्ट्रों की उत्पादक-शक्ति किस तेजी से बढ़ रही है, और दूसरी ओर इसका कि प्रत्यक्ष रूप में वर्तमान परिस्थिति के कारण उत्पादन कितना कम किया जाता है, तो हम इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि यदि हमारी आर्थिक पद्धति ज़रा और बुद्धि-संगत हो जाय, तो कुछ ही वर्षों में इतने उपयोगी पदार्थों का ढेर लग जाय कि हमें कहना पड़े, 'बस बाबा! रोटी, कपड़ा और ईंधन काफी है! अब तो हमें शान्ति-पूर्वक विचार करने दो कि हम अपनी शक्ति और अवकाश का उत्तम उपयोग कैसे करें।'

हम फिर कहते हैं कि सबको विपुल सुख-सामग्री मिले, यह स्वप्न नहीं है। हाँ, उस समय यह भले ही स्वप्न माना जाता हो, जब एकड़ भर जमीन से मर-पच कर भी थोड़े-से गेहूँ ही पल्ले पड़ते थे, और खेती और उपयोग के सारे औजार लोगों को हाथ से ही बनाने पड़ते थे। किन्तु अब यह कोरी कल्पना नहीं रही है, क्योंकि ऐसी संचालन (मोटर) शक्ति खोज निकाली गई है जो थोड़े-से लोहे और कुछ बोरी कोयले की सहायता से उसे घोड़े के समान बलवान आज्ञाकारी मशीनों और अत्यन्त पेचीदा यन्त्रजाल का स्वामी और संचालक बना देती है।

परन्तु यह कल्पना सत्य तभी सिद्ध हो सकती है जब यह विपुल धन, ये नगर, भवन, गोचर-भूमि, खेती की जमीन, कारखाने, जल और स्थल-मार्ग, और शिक्षा—व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहें और एकाधिकार-प्राप्त

लोग इसका स्वेच्छापूर्वक, उपयोग न कर सके। यह सब बहुमूल्य सम्पत्ति जिसे हमारे पूर्वजो ने बडे कष्ट से प्राप्त किया, बनाया, सजाया, अथवा खोज निकाला है, सबकी सम्मिलित सम्पत्ति बन जानी चाहिए। जिससे मानव-जाति के संयुक्त हिताहित का ध्यान रख कर सबका अधिक-से-अधिक भला किया जा सके। बस, नि:सम्पत्तिकरण होना चाहिए। सबका सुख, यह ध्येय है। नि.सम्पत्तिकरण, यह उपाय है।

सबका सुख—२

तो बस, नि:सम्पत्तिकरण ही बीसवीं शताब्दि की एकमात्र समस्या है। साम्यवाद ही मनुष्यमात्र के सर्वाङ्गसुख का उपाय है।

परन्तु यह समस्या कानून के द्वारा हल नही का जा सकती। इसकी कोई कल्पना भी नही करता। क्या गरीब और क्या अमीर, सभी समझते है कि न तो वर्तमान सरकार और न भावी राजनीतिक परिवर्तनो से उत्पन्न होने वाला कोई शासन ही इस समस्या को कानून से हल करने मे समर्थ होगा। सबको सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता अनुभव होती है। निर्धन और धनवान दोनों मानते हैं कि यह क्रान्ति निकट आ पहुंची है और कुछ ही वर्ष मे होने वाली है।

उन्नीसवी शताब्दि के उत्तरार्ध, मे विचारो मे बडा परिवर्तन हुआ है। इसे सम्पत्तिशाली वर्ग ने दबा रखने की और इसके स्वाभाविक विकास को कुण्ठित करने की बहुत कोशिश की है। किन्तु यह नवीन भावना अपने बन्धन तोड कर अब क्रान्ति के रूप मे देह—धारण किये बिना नहीं रह सकती।

क्रान्ति आयेगी किधर से? इसके आगमन की घोषणा कैसे होगी? इन प्रश्नो का उत्तर कोई नही दे सकता। भविष्य अभी गर्भ मे है। परन्तु जिनके आँखे है और मस्तिष्क है, वे उसके लक्षणो को समझने में गलती नही करते। मजदूर और उनके रक्त-शोषक, क्रान्तिवादी और प्रतिगामी, विचारक और कर्ममार्गी, सभी को ऐसा मालूम हो रहा है

कि क्रान्ति द्वार पर खडी है।

अच्छा, तो जब यह बिजली गिर चुकेगी, तब हम क्या करेंगे ?

हम प्राय क्रान्तियो के आश्चर्य-जनक दृश्यो का अध्ययन तो इतना अधिक करते है, और उनके व्यावहारिक अंग पर इतना कम ध्यान देते है, कि सम्भव है हम इन महान् आन्दोलनो के तमाशे को ही शुरू के दिनो की लडाई को ही—मोर्चाबन्दी को ही—देख कर रह जांय। परन्तु यह प्रारम्भ की भिडन्त जल्दी ही खत्म हो जाती है। क्रान्ति का सच्चा काम तो पुरानी रचना के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद ही शुरू होता है।

पुराने शासक अशक्त और जर्जर तो होते ही है, आक्रमण भी उन पर चारो ओर से होता है। बेचारे विद्रोह की फूंक लगते ही उड जाते है। सर्वसाधारण की क्रान्ति के सामने तो पुरातन व्यवस्था के विधाता और भी तेजी के साथ गायब हो जाते है। उसके समर्थक देश को छोड़ भागते है, और अन्यत्र सुरक्षित बैठ कर षडयन्त्रो की रचना और वापिस लौटने के उपाय सोचा करते है।

जब सरकार नही रहती, तो सेना भी लोकमत के ज्वार के सम्मुख खडी नही रहती। सेनानायक भी दूरदर्शिता-पूर्वक भाग जाते है, अन्यथा सिपाही उनका कहना भी नही मानते। सेना या तो निरपेक्ष खडी रहती है अथवा विद्रोहियो मे मिल जाती है। पुलिस आराम से खडी-खडी सोचती है कि भीड को मारे या साम्यवाद की जय पुकार उठे। कुछ पुलिस वाले ऐसे भी निकलते है जो अपने-अपने स्थान मे पहुंच कर नई सरकार की आज्ञा का इन्तजार करने लगते है। धनवान् नागरिक अपनी-अपनी पेटियाँ भर कर सुरक्षित स्थानो को चल देते है। साधारण लोग रह जाते है। क्रान्ति देवी का अवतरण इसी प्रकार होता है।

कई बडे-बडे शहरो मे साम्यवाद की घोषणा करदी जाती है। हजारो आदमी बाजारो मे इधर-उधर घूमने लगते है और शाम को सभास्थानो मे जाकर पूछते है--'हम क्या करे'? इस प्रकार उत्साह-पूर्वक सार्वजनिक

मामलोपर चर्चा होने लगती है। सब उनमे दिलचस्पी लेने लगते है। जो लोग कल तक उदासीन थे, वे ही शायद सबसे अधिक उत्साह दिखाने लगते है। सर्वत्र सद्भावना और विजय को निश्चित करने की उत्कट लालसा विपुल परिमाण मे पाई जाती है। ऐसे ही समय मे अपूर्व देशभक्ति के कार्य होते है। सर्वसाधारण को आगे बढ़ने की पूरी अभिलाषा रहती है।

ये सब बाते शानदार और ऊंचा उठाने वाली होती है। किन्तु ये भी क्रान्ति नही है। बात यह है कि क्रान्तिकारियों का कार्य यहाँ से शुरू होता है। निस्सन्देह परिशोध के कार्य होगे। जनता के कोपभाजन व्यक्ति अपने किये की सजा पायेंगे। किन्तु ये भी क्रान्ति नहीं है, केवल संग्राम की स्फुट घटनाएँ है।

समाजवादी राजनीतिज्ञ, कट्टर सुधारक, कल तक जिनकी पूछ नही होती थी, ऐसे प्रतिभाशाली पत्रकार, और हाथ-पैर पीट कर भाषण देने वाले वक्ता, मध्यवर्गी और मजदूर लोग, सभी जल्दी-जल्दी नगर-भवन मे और सरकारी दफ्तरो में पहुँच कर रिक्त स्थानो पर अधिकार कर लेगे। कुछ लोग जी भरकर अपने शरीर को सोने-चांदी के आभूषणो से सजा लेगे, मंत्रियो के दर्पणो मे उन्हे देख-देखकर अपनी सराहना करेगे, और अपने पद के योग्य महत्व की मुद्रा धारण करके आज्ञा देना सीखेगे। इन गौरव-चिन्हो के लगाये बिना वे अपने कारखाने या दफ्तर के साथियो पर रौब कैसे गांठ सकते है? दूसरे लोग सरकारी काग़ज़ात मे गड जायंगे और सच्चे दिल से उन्हे समझने की कोशिश करेगे। ये क़ानून बनायंगे और बडे-बडे हुक्म निकालेगे। हाँ, इनकी तामील करने का कष्ट कोई न उठायगा। क्रान्ति ही जो ठहरी!

इन्हे जो अधिकार मिला नही है, उसका ढोग रचने के लिए पुराने शासन के स्वरूप का सहारा लेगे। ये 'अस्थायी सरकार', 'सार्वजनिक रक्षा-समिति' 'नगर-शासक' इत्यादि अनेक नाम धारण करेगे। निर्वाचित हो अथवा स्वयंभू, वे समितियो और परिषदो मे बैठेंगे। वहाँ दस-बीस अलग-अलग विचार-सरणि के लोग एकत्र होगे। इनके मस्तिष्क मे क्रान्ति के क्षेत्र, प्रभाव और ध्येय की भिन्न-भिन्न कल्पनाएं होगी। वे वाग्युद्ध मे

अपना समय बर्बाद करेंगे। ईमानदार लोगों का एक ही स्थान मे ऐसे महत्वाकांक्षियो से पाला पडेगा, जिन्हे केवल सत्ता की चाह है, और जो उसके मिलने पर जिस जनता मे से निकलते हैं, उसी को ठोकर मारते है। ये परस्पर-विरोधी विचारो के लोग एकत्र होगे, जिन्हे आपस में क्षण-भंगुर सधियाँ करनी पडेगी, जिनका उद्देश्य सिर्फ बहुमत बनाना होगा। परन्तु यह बहुमत एक दिन से ज्यादा टिकने का नहीं। परिणाम यह होगा कि ये आपस मे झगडेंगे, एक दूसरे को अनुदार, सत्तावादी और मूर्ख बतायंगे, किसी गंभीर विषय पर एकमत न हो सकेंगे, ज़रा-ज़रा-सी बातो पर वाद-विवाद करेंगे, और सिवाय लंबी-चौडी घोषणाएं निकालने के, और कुछ ठोस काम न कर सकेंगे। एक ओर तो ये लोग इस प्रकार अपना महत्व प्रदर्शित करते रहेंगे और दूसरी ओर आन्दोलन की सच्ची शक्ति बाज़ारो मे भटकती फिरती होगी।

इन बातो से तमाशा-पसन्द लोग भले ही खुश हो ले, किन्तु यह भी क्रान्ति नही है।

हाँ, इस बीच मे जनता को तो कष्ट भोगने ही होते है। कारखाने बन्द रहते है। व्यापार चौपट हो जाता है। मजदूरों को जो थोडी-सी मजदूरी पहले मिलती थी, वह भी नही मिलती। खाद्य-पदार्थों का भाव बढ जाता है। वे फिर भी उस वीरोचित लगन के साथ, जो सदा उनका गुण रही है और जो महान् विपत्ति के अवसरो पर और भी उच्च हो जाती है, धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हैं। सन् १८४८ मे उन्होने कहा था कि "हम रिपब्लिक सरकार से तीन महीने तक कुछ न माँगेगे।" परन्तु उनके 'प्रतिनिधि' और नई सरकार के सफेद-पोश लोग और दफ्तर के टुच्चे-से-टुच्चे पदाधिकारी तक नियम से तनख्वाहे लेते रहे थे।

जनता तो कष्ट उठाती है। बालोचित विश्वास और स्वाभाविक प्रसन्नता के साथ लोग समझते है कि "नेताओ पर भरोसा रखना चाहिए। वे 'उस जगह', उस सभाभवन, नगरभवन, या सार्वजनिक रक्षा-समिति मे हमारी भलाई सोच रहे है।" परन्तु 'उस जगह' तो नेतागण दुनिया भर की बातो पर विवाद करते रहते हैं, सिर्फ जनता के हित की चर्चा नही

करते। १७९३ मे जब फ्रान्स मे दुष्काल हो गया और उसने क्रान्ति को लंगडा कर दिया और लोगो की बुरी दशा हो रही थी, (यद्यपि बाजार मे शानदार बग्घियो की भीड लगी रहती थी और स्त्रियाँ बढ़िया-बढ़िया आभूषण और पोशाके पहनकर निकलती रहती थी), तब रोब्सपियर जेकोबिन दल वालो को प्रेरित कर रहा था कि वे इंगलेण्ड की राज्य-व्यवस्था पर लिखे हुए उसके ग्रन्थ पर बहस ही कर ले। १८४८ में मज़दूर लोग तो सार्वजनिक व्यापार बंद हो जाने के कारण पीडित हो रहे थे, पर अस्थायी सरकार और राष्ट्रीय परिषद् इस पर झगड रही थी कि सिपाहियो को पेन्शन क्या दी जाय और जेलखाने मे मशक्कत कैसी ली जाय ? उन्हे उस बात की फिक्र नही थी कि जनता इस विपत्ति काल मे किस प्रकार दिन काट रही है। पेरिस की कम्यून सरकार प्रशिया की सेना के मुकाबिले मे खडी हुई थी और केवल सत्तर दिन ही जीवित रह पाई। उसने भी यही ग़लती की। उसने नही समझा कि अपने योद्धाओं को पेट-भर खिलाये बिना क्रान्ति सफल कैसे होगी, और सिर्फ थोडा-सा दैनिक वेतन मुकर्रर कर देने से ही कैसे तो आदमी युद्ध कर सकेगा और कैसे अपने परिवार का पोषण कर सकेगा ?

इस प्रकार कष्ट भोगती हुई जनता पूछती है, "इन कठिनाइयो को पार करने का उपाय क्या है ?"

सबका सुख—३

इस प्रश्न का एक ही उत्तर दिखाई देता है। वह यह कि हमे यह बात मान लेनी चाहिए और उच्च स्वर से घोषणा कर देनी चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य को जीवित रहने का सर्वोपरि अधिकार है, फिर चाहे वह मनुष्य-समाज में किसी भी श्रेणी का हो, बलवान हो या निर्बल, योग्य हो अथवा अयोग्य। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि समाज के हाथ में जीवन के जितने साधन हैं उनको सब मे निरपवाद रूप से बाँट देना उसका कर्तव्य है। हमे इस सिद्धान्त को मानकर उस पर चलना भी चाहिए।

क्रान्ति के प्रथम दिन से ही ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि श्रमजीवी यह जान जाय कि उसके लिए नवीन-युग का उदय हो गया। भविष्य मे अब किसी को, पास मे महल होते हुए, पुल के नीचे दुबक कर सोने की आवश्यकता नहीं पडेगी; धनका बाहुल्य रहते हुए किसी को भूखो नही मरना पडेगा। सब चीजे सब के लिए है। यह ख़ाली कल्पना ही नही, व्यवहार मे भी चरितार्थ होगा। क्रान्ति के प्रथम दिन से ही श्रमजीवी को यह मालूम पडना चाहिए कि इतिहास मे पहली ही बार ऐसी क्रान्ति हुई है जिसमे जनता को उसके कर्तव्यो का उपदेश देने से पूर्व उसकी आवश्यकताओं का विचार किया गया है।

यह सब कानून से नही होगा। काम करने का एकमात्र सच्चा और वैज्ञानिक ढंग अख्तियार करना होगा—ऐसा ढंग जिसे सर्वसाधारण समझ सकते और चाहते हो।—वह यह है कि सबके सुख-सम्पादन के लिए आवश्यक साधनो पर तुरन्त और भली प्रकार कब्जा कर लिया जाय। अन्नभण्डारो, कपडे की दुकानो और निवास-स्थानो पर जनता का अधिकार हो जाना चाहिए। कोई चीज बर्बाद नही होनी चाहिए। शीघ्र इस प्रकार का संगठन करना चाहिए कि भूखो को भोजन मिल जाय, सबकी आवश्यकताएं पूरी हो जायँ और उत्पत्ति इस प्रकार हो कि उससे व्यक्ति या समूह-विशेष को ही लाभ न पहुँचे, प्रत्युत सारे समाज के जीवन और विकास को सहायता मिले।

१८४८ की क्रान्ति मे 'काम करने का अधिकार' इस वाक्य से लोगो को बडा धोखा दिया गया। और अब भी ऐसे ही दुमानी वाक्यो से धोखा देने की कोशिश होती है। परन्तु अब उनकी ज़रूरत नही है। हमे साहस करके "सब के सुख" के सिद्धान्त को मंजूर करना चाहिए और उसकी संभावना को पूर्ण करना चाहिए।

१८४८ मे जब श्रमजीवियों ने काम करने के अधिकार का दावा किया तो राष्ट्रीय और म्युनिसिपल कारख़ाने बनाये गये और वहाँ उन्हे मजदूरी निश्चित करके काम कर-कर के मरने के लिए भेज दिया गया! जब उन्होने कहा कि "श्रमिको का संगठन" होना चाहिए तो जवाब दिया

गया, "मित्रो ! धैर्य रक्खो। सरकार इसका इन्तज़ाम कर देगी। अभी तो तुम मजदूरी लेते जाओ। वीर श्रमिको, जीवन भर भोजन के लिए युद्ध किया है, अब ज़रा आराम तो ले लो!" इस बीच तोपे सुधार ली गईं, फौजे बुला ली गईं और तरह-तरह की मध्यमवर्ग की जानी हुई तरकीबो से श्रमिको को नि शस्त्र कर दिया गया। यहां तक कि. जून १८४८ के एक दिन, पिछली सरकार के पलट देने के चार मास बाद ही, उनसे कह दिया गया कि या तो अफ्रीका मे जाकर बसो, नही तो गोलियो से मार दिये जाओगे।

परन्तु सुखपूर्वक जीवित रहने के अधिकार पर आरूढ़ होने मे जनता इससे भी अधिक महत्वपूर्ण दूसरे अधिकार की भी घोषणा करती है। वह यह कि इस बात का निर्णय भी वही करे कि उसको सुख किन चीज़ो से मिलेगा, उस सुख की प्राप्ति के लिए क्या-क्या माल पैदा करना चाहिए और क्या-क्या नही करना चाहिए। 'काम करने का अधिकार' और 'सबका सुख' इन दोनो सिद्धान्तो का भेद समझने योग्य है। पहले का अर्थ इतना ही है कि श्रमजीवी सदा थोडी-सी मज़दूरी का दास बना रहे, कठोर परिश्रम करने को विवश हो, उस पर मध्य-वर्ग के लोगो का शासन बना रहे और वे उसका रक्त-शोषण करते रहे। दूसरे सिद्धान्त का अर्थ यह है कि श्रमजीवी मनुष्यो की भांति रह सके, और उनकी सन्तान को वर्तमान से अच्छा समाज मिले। अब समय आ गया है कि व्यवहारवाद की चक्की में न पिसते रहकर सामाजिक क्रान्ति की जाय, और श्रमजीवियो को नैसर्गिक अधिकार प्राप्त हो।

: ३ :

अराजक समाजवाद—१

हमारा विश्वास है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति को मिटा देने के बाद प्रत्येक समाज को अपना संगठन अराजक समाजवाद के ढंग पर करना पडेगा। अराजकता का परिणाम समाजवाद और समाजवाद का परिणाम

अराजकता होता ही है, क्योकि दोनो का ही उद्देश्य समानता की स्थापना है।

एक समय ऐसा था जब एक किसान-कुटुम्ब यह समझता था कि जो अनाज वह उत्पन्न करता है, या जो कपडे वह बुनता है, वह उसी की जमीन की पैदावार है। किन्तु यह विचार-सरणि सर्वथा निर्दोष नही थी। सडके, पुल, दलदल और चरागाह आदि ऐसी बहुत-सी चीज़े थी, जिनके बनाने, साफ करने और ठीक रखने मे सब लोगो का परिश्रम ख़र्च होता था। यदि कोई एक व्यक्ति बुनाई या रंगाई मे कोई सुधार करता था तो उसका लाभ सभी को मिलता था। कोई परिवार एकाकी होकर जीवित नही रह सकता था। उसे अनेक प्रकार से गांव या जाति-भर पर निर्भर रहना पडता था।

आज तो यह दावा करने की ज़रा भी गुंजायश नही है कि पैदावार व्यक्ति-विशेप की मेहनत का फल है, क्योकि आधुनिक उद्योग-धन्धो के क्षेत्र मे हर चीज एक-दूसरी पर निर्भर है, और उत्पत्ति के सारे विभाग परस्पर गुंथे हुए है। सभ्य देशो मे कपडे और खान के उद्योगों ने जो आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है, उसका कारण यह है कि उनके साथ-साथ सैकडो छोटे-बडे दूसरे उद्योगो का विकास हुआ है, रेलमार्ग का विस्तार हुआ है, समुद्र-यात्रा के द्वार खुल गए है, हज़ारो मज़दूरो की हाथ की कारीगरी बढ़ गई है, और सारे श्रमजीवी-समाज की संस्कृति का परिमाण ऊँचा हो गया है। सार यह कि उन उद्योगो को संसार के सभी भागो मे रहनेवाले मज़दूरो के परिश्रम का लाभ मिला है।

तो, यह हिसाब कैसे लगाया जाय कि सबके परिश्रम से पैदा होने वाले धन मे प्रत्येक व्यक्ति का कितना हिस्सा हो? इस सम्बन्ध मे यह तो न कोई आदर्श व्यवस्था होगी, और न उचित कार्य ही, कि जिसने जितने घण्टे काम किया हो, उसे उतनी ही मज़दूरी दे दी जाय। ··· जब हम समाज की यह कल्पना रखकर चलते है कि उसमें परिश्रम के साधन समाज की सम्मिलित सम्पत्ति हैं, तो हमे मज़दूरी का सिद्धान्त तो छोडना ही पडेगा, चाहे वह किसी भी रूप मे हो।

मज़दूरी देने की प्रणाली का जन्म, भूमि और उत्पत्ति के अन्य साधनो पर व्यक्तियो के अधिकार होने के सिद्धान्त से हुआ है। पूँजीवाद के विकास के लिए यह आवश्यक थी। उसके नाश के साथ इसका नाश भी अनिवार्य है। जब हम परिश्रम के साधनो को सबकी सम्मिलित सम्पत्ति मान लेगे तो सम्मिलित परिश्रम का फल भी सब मिलकर ही भोगेंगे।

दूसरा विश्वास हमारा यह है कि समाजवाद केवल वॉछनीय ही नही है, प्रत्युत वर्तमान समाज जिसकी बुनियाद व्यक्तिवाद पर है, बलात् समाजवाद की ओर ही जा रहा है। पिछले तीन सौ वर्ष मे व्यक्तिवाद के इतना बढ़ने का कारण यह है कि धन और सत्ता के अत्याचारों से अपनी रक्षा करने मे व्यक्तियो को बडी कोशिश करनी पड़ी है। कुछ समय तक व्यक्तिवादी यह समझते रहे कि व्यक्ति राज्य और समाज से बिलकुल आज़ाद हो सकता है। वे कहते थे कि रुपये से सबकुछ ख़रीदा जा सकता है। परन्तु आधुनिक इतिहास ने उन्हे शीघ्र ही बता दिया कि यह खयाल गलत है। चाहे तिजोरियॉ सोने से भरी पडी हो, मनुष्य सब की मदद के बिना कुछ नही कर सकता।

ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तिवाद की लहर के साथ-साथ एक ओर तो प्राचीन आंशिक समाजवाद की रक्षा का, और दूसरी ओर आधुनिक जीवन के अनेक प्रकार के विकास मे समाजवाद के सिद्धान्त को प्रविष्ट करने का प्रयत्न होता रहा है। मध्यकालीन साम्यवादी जातियॉ ज्यों-ज्यो भूस्वामियो के चंगुल से निकलती गई, त्यो-त्यो सम्मिलित परिश्रम और सम्मिलित खर्च का विस्तार और विकास भी होता चला गया। व्यक्ति नही, नगर, सम्मिलित रूप से माल जहाज़ो मे भर-भर कर बाहर भेजने लगे, और विदेशी व्यापार से जो मुनाफा होता, उसे सब मिलकर बॉटने लगे। आरम्भ मे तो नगर-संस्थाये ही सारे नागरिको के लिए खाद्य-पदार्थ भी खरीदती थी। इन संस्थाओं के चिन्ह उन्नीसवी शताब्दि तक पाए जाते थे। अब भी उनकी दन्तकथाये प्रचलित है। पर अब वह सब विलीन हो गई। किन्तु ग्राम्य-संस्थाये आज भी इस प्रकार के साम्यवाद

का नाम बनाए रखने की चेष्टा कर रही हैं। हाँ, जब राज्य अपनी तलवार के ज़ोर मे उन पर आक्रमण करता है तो इन बेचारियो का कुछ वश नही चलता।

इस बीच अनेक भिन्न-भिन्न रूपों मे नये-नये संगठन बन रहे हैं। इनका आधार उसी सिद्धान्त पर है, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को उसकी आवश्यकता के अनुसार मिले। वस्तुत समाजवाद के थोडे-बहुत सहारे के बिना तो आधुनिक समाज जीवित ही नही रह सकता। व्यापारिक प्रणाली के कारण भले ही लोगों मे स्वार्थ की मात्रा बढ़ गई हो, किन्तु समाजवाद की रुचि और उसका प्रभाव अनेक प्रकार से बढ़ रहा है। पहले सडको और पुलो पर जो यात्रा-कर लिया जाता था, वह अब नही लिया जाता*। बालको के लिए नि.शुल्क अजायबघर, पुस्तकालय, पाठशालाएँ और भोजन तक विद्यमान है। बाग-बगीचे सबके लिए खुले हैं। बाज़ारो मे पक्की सडकें और रोशनी सब के लिये मुफ्त है। प्रत्येक घर में काफी पानी पहुँचाया जाता है। इस सारी व्यवस्था का मूल यही सिद्धान्त तो है कि 'जितनी जरूरत हो, उतना ले लो।'

रेल और ट्राम-गाडियों से महीने-महीने और वर्ष-वर्ष भर के टिकट मिलने लगे है। उनसे जितनी बार चाहो सफर कर लो। कई राष्ट्रों ने तो यह भी नियम कर दिया है कि रेल-मार्ग से चाहे कोई पाँच सौ कोस जाय, या हजार कोस, किराया एक ही लगेगा। अब तो डाक-विभाग की तरह सब स्थानो के लिए एक ही दाम लेने के नियम मे थोडी ही कसर रह गई है। इन अनेक नई-नई बातो से, व्यक्तिगत खर्च का हिसाब लगाने की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। कोई आदमी पाँच सौ मील जाना चाहे, दूसरे को आठ सौ मील जाना हो, यह अपनी-अपनी ज़रूरत की बात है। इससे यह सिद्ध नही होता कि एक को दूसरे से दुगुना मूल्य देना चाहिए। इस प्रकार की मनोदशा इस व्यक्तिवादी समाज की भी है।

एक प्रवृत्ति यह भी है, चाहे हल्की-सी ही सही, कि व्यक्ति की

---

*भारत मे तो अब भी लिया जाता है।

आवश्यकताओ का लिहाज़ किया जाय, उसकी पिछली या भावी सेवाओ पर ख़याल न किया जाय। हम सारे समाज का विचार इस ढंग से करने लगे है कि उसके प्रत्येक भाव का दूसरे से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है, कि एक की सेवा से सब की सेवा होती है। आप किसी पुस्तकालय मे जाइए। आपको पुस्तक देने से पहले आप से यह कोई न पूछेगा कि आपने समाज की क्या-क्या सेवाएं की है। इतना ही नही, यदि आपको पुस्तक-सूची देखना नहीं आता हो तो पुस्तकाध्यक्ष स्वयं आकर आपकी सहायता करेगा। इसी प्रकार वैज्ञानिक संस्थाओ मे प्रत्येक सदस्य को समान सुविधाएं मिलती हैं। विज्ञान-शालाओं मे आविष्कार करने के हेतु जो लोग प्रयोग करना चाहते हैं, उन्हे भी समान सुविधाएं दी जाती है। तूफानी समुद्र मे जब जहाज़ डूबता है तो रक्षा-नौका के खेवट अनजान यात्रियो की रक्षा भी अपनी जान जोखम मे डाल कर समान-भाव से करते है। वे केवल इतना ही जान लेते हैं कि ये मनुष्य है और इन्हे सहायता की जरूरत है। बस उसीसे प्राण-रक्षा पाने का उनका हक कायम हो जाता है।

इस प्रकार, कहने को व्यक्तिवादी होते हुए भी समाज के हृदय मे समाजवाद की ओर जाने की प्रवृत्ति चारो तरफ अपने आप पैदा हो रही है। हाँ, उसके रूप भिन्न भले ही हो। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि हमारे किसी बडे शहर पर, जो मामूली हालत मे स्वार्थी रहता है, कल ही कोई विपत्ति आपडी। मसलन्, शत्रु ने उसके चारो तरफ घेरा डाल दिया। परन्तु उस स्वार्थी शहर का ही निर्णय यह होगा कि सबसे पहले बच्चो और बूढो की आवश्यकताएँ पूरी की जायँ। यह कोई न पूछेगा कि इन लोगो ने समाज की क्या सेवा की है, और आगे क्या सेवा करेंगे। पहले उन्हे खाने-पीने को दिया जायगा। बाद मे योद्धाओ की ख़बर-गीरी होगी। परन्तु उनमे भी इस बात का कोई भेद नही किया जायगा कि किसने अधिक साहस अथवा बुद्धिमत्ता का सबूत दिया है। हज़ारो स्त्री-पुरुष बढ़-बढ़ कर घायलो की प्रेम-पूर्वक सेवा करेंगे। यह प्रकृति है तो सही, परन्तु दिखाई उसी समय देती है जब सबकी बडी-बडी ज़रूरते पूरी हो जाती हैं, और ज्यो-ज्यो समाज की उत्पादक-शक्ति बढती है। त्यो-त्यो यह प्रवृत्ति

बलवान् होती है। जब-जब कोई महान् विचार रात-दिन की पामर-कृतियो को दबा देने के लिए मैदान मे आता है, तब-तब तो यह प्रवृति क्रियात्मक शक्ति का रूप धारण कर लेती है।

तो फिर यह सन्देह कैसे हो सकता है कि जब उत्पत्ति के साधन सब की सेवा के साधन बन जायंगे, व्यवसाय साम्यवाद के सिद्धान्तो पर चलने लगेगा, मज़दूर फिर से समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करके सब को ज़रूरतो से भी ज्यादा माल पैदा करने लगेंगे तो यह परोपकार की भावना और भी बृहद् रूप धारण नही कर लेगी, और अन्त मे सामाजिक जीवन का मुख्य नियम न बन जायगी?

हम आगामी अध्यायो मे निःसम्पत्तीकरण के व्यावहारिक रूप पर विचार करेंगे। इन लक्षणो से हमे यह विश्वास होता है कि जब क्रान्ति वर्तमान प्रणाली की आधारभूत शक्तिको नष्ट कर देगी तो हमारा प्रथम कर्तव्य यह होगा कि हम अविलम्ब समाजवाद को ग्रहण कर लें। परन्तु हमारा यह समाजवाद अराजक या बिना किसी राज्य-शासन के स्वतंत्र लोगो का समाजवाद होगा। हमारा समाजवाद मानवी-जाति के युग-युग मे प्रचलित दो आदर्शों—आर्थिक और राजनीतिक स्वाधीनता का सम्मिश्रण होगा।

अराजक समाजवाद—२

जब हम अपने राजनीतिक संगठन को अराजक रूप देते है तो हम मानवीय उन्नति की दूसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति को प्रदर्शित करते है। यूरोपीय समाजो ने जब कभी उन्नति की है तब उन्होने राज-सत्ता के जुए को अपने कन्धो से उतार फेका है, और उसके स्थान मे वैयक्तिक सिद्धान्तो पर आधार रखनेवाली प्रणाली की स्थापना की है। इतिहास साक्षी है कि थोडी या बहुत जबकभी क्रान्ति हुई तब पुरानी सरकारे उखाड दी गई। उस समय आर्थिक तथा बौद्धिक दोनो प्रकार की उन्नति हुई। 'कम्यूनो' (संघो) के स्वतन्त्र होने के पश्चात् भी ऐसा ही हुआ। उस समय व्यवसायी संघो ने जितनी उन्नति की उतनी पहले कभी न की थी।

उस महान् किसान-विप्लव के पश्चात् भी ऐसा ही हुआ। रिफ़ार्मेशन (सुधार) आया और 'पोप' की शक्ति नाममात्र को रह गई। अटलांटिक महासागर के उस पार पुरानी दुनिया के उस असंतुष्ट समाज में भी ऐसा ही हुआ, जो थोड़े समय के लिए स्वतन्त्र हो गया था।

और यदि वर्तमान सभ्य जातियों के विकास को हम ध्यान से देखें तो हमें बिना सन्देह एक ऐसा आन्दोलन दिखाई देता है जो सरकारों के कार्यक्षेत्र को सीमित करने की ओर अधिकाधिक झुकता जाता है, और व्यक्ति को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता देता जाता है।

यह विकास हमारी आँखों के सामने हो रहा है। यद्यपि यह विकास उन पुरानी संस्थाओं के कूड़े-करकट से तथा पुराने मिथ्या-विश्वासों से लदा हुआ है, तथापि अन्य दूसरे विकासों के समान उन प्राचीन विघ्न-बाधाओं को, जो कि रास्ते को रोकती हैं, उखाड़ फेंकने के लिए वह केवल एक क्रान्ति की प्रतीक्षा कर रहा है, ताकि फिर से निर्माण किए जाने वाले समाज में वह पूर्ण क्षेत्र पा सके।

मनुष्य बहुत समय तक एक असाध्य समस्या को हल करने का प्रयत्न करता रहा है। वह चाहता है कि एक ऐसी राज्य-संस्था या सरकार बन जाय जो व्यक्ति से बल-पूर्वक आज्ञा-पालन भी कराये, और साथ ही समाज की सेवक भी बनी रहे। परन्तु ऐसी सरकार बन नहीं सकती। अन्ततः वह हरेक प्रकार की सरकार से ही अपने को स्वतन्त्र करने का प्रयत्न करता है। वह समान उद्देश्य रखने वाले व्यक्तियों और संघों के बीच स्वेच्छापूर्ण सहयोग और इक़रार कायम करके अपने संगठन की आवश्यकता को पूर्ण करने लगता है। प्रत्येक छोटे-से-छोटे प्रदेश की स्वाधीनता आवश्यक हो जाती है। बहुधा वर्तमान राज्यों की सीमाओं का उल्लङ्घन करते हुए सार्वजनिक हित के लिए आपसी समझौता कानून का स्थान ले लेता है।

पहले जो कुछ राज्य का कर्तव्य समझा जाता था, वह आज संदिग्ध है। राज्य के बिना भी प्रबन्ध अधिक सरलता और संतोष-पूर्वक

हो जाता है। इस दिशा मे अबतक जो उन्नति हुई है, उससे हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि मनुष्य-जाति की प्रवृति राज्य-संस्था को मिटा देने की ओर है। वास्तव मे अन्याय, अत्याचार और एकाधिकार का मूल कारण राज्य ही है।

अब भी हमे ऐसे जगत की झॉकी मिल सकती है, जहां मनुष्य-मनुष्य मे सम्बन्ध कायम रखने वाली चीज़ कानून नहीं, बल्कि सामाजिक रीति-रिवाज है। हम सबको इस बात की ज़रूरत महसूस होती है कि हम अपने पडोसियो का सहारा, उनकी मदद और उनकी सहानुभूति चाहे। हॉ, यह ज़रूर है कि राज्य-हीन समाज की कल्पना पर उतनी ही आपत्ति की जायगी जितनी बिना व्यक्तिगत पूँजी वाले समाज पर। बात यह है कि बचपन से हमे राज्य को एक तरह का ईश्वर समझना सिखाया जाता है। पाठशाला से लेकर विश्वविद्यालय तक यही शिक्षा दी जाती है कि राज्य मे विश्वास रक्खो और उसे माई-बाप समझो।* इस भ्रम को बनाये रखने के लिए बडे भारी तत्त्वज्ञान की रचना की जाती है। सारी राजनीति का आधार इस एक सिद्धान्त पर कायम किया जाता है और हरएक राजनीतिज्ञ जब रंग-मंच पर आता है तो उसके विचार चाहे कुछ भी हो वह जनता से यह कहे बिना तो नहीं रहता कि बस, मेरे दल के हाथ मे सत्ता दे दो। जिन दु.खो के मारे तुम मरे जातेहो, उन दु.खो को हम दूर कर देगे।

गरज़ यह कि जन्म से लेकर मृत्यु तक हमारे सारे काम इस एक विचार की प्रेरणा से होते हैं। आप किसी भी पुस्तक को, फिर चाहे वह समाज-विज्ञान पर हो, चाहे क़ानून पर हो, खोल लीजिए। आप देखेगे कि उसमे राज्य के संगठन और उसकी कार्रवाहियो को इतना अधिक स्थान दे दिया जाता है कि लोग यह मानने लग जाते हैं कि संसार में

---

* क्रोपाटकिन ने जब यह बात लिखी थी तब से अवस्था बहुत ज्यादा बदल गई है। अब तो विश्व-विद्यालयो मे राजनीति के विद्यार्थियों के लिए स्वतन्त्र गवेषणा का विस्तृत क्षेत्र खुला है।

सिवाय राज्य और राजनीतिज्ञो के और कुछ है ही नही।

अखबार भी कई तरह से हमे यही पाठ पढ़ाते हैं। राज्यसभाओ के वादविवाद और राजनीतिक षड्यन्त्रो पर तो कालम-के-कालम रंग दिये जाते हैं और राष्ट्र के विशाल दैनिक जीवन को इधर-उधर या तो आर्थिक विषयों वाले स्तम्भों ने या मार-पीट और दुराचार के मुक़दमों के हाल-चाल मे जगह दी जाती है। अख़बार पढने से तो उन असंख्य नर-नारियो का कुछ ख़याल ही नही आता, जो जीते है और मरते है, जिन्हे दु:ख होता है, जो काम करते है और खर्च करते है, और जो विचार करते है और पैदा करते है। मुट्ठीभर आदमियो को इतना महत्व दे दिया जाता है कि उनकी परछाईं के अन्धकार मे और हमारे अज्ञान के अँधेरे मे सारा मानव समाज छिप जाता है।

परन्तु ज्यों ही हम छापेख़ाने से निकल कर जीवन के मैदान मे पहुँचते है और समाज पर दृष्टिपात करते है तो यह देख कर हमे आश्चर्य होता है कि राज्य कितनी नगण्य वस्तु है। कौन नही जानता कि लाखो किसान जीवन-भर यह अनुभव नही कर पाते कि राज्य किस चिडिया का नाम है। वे सिर्फ इतना जानते है कि हमको दबा कर कोई भारी कर वसूल करता है। रोज करोडो का लेन-देन सरकार के हस्तक्षेप के बिना होता है। व्यापार और विनिमय का काम होता ही इस ढंग से है कि यदि एक पक्ष समझौते को तोडने पर तुल जाय तो राज्य की सहायता मॉगने से दूसरे पक्ष को कोई लाभ नही हो सकता। व्यवसाय को समझने वाले किसी भी आदमी से बात कीजिए तो आपको मालूम हो जायगा कि यदि परस्पर विश्वास न हो तो व्यापारियो का रोजमर्रा का क़ारोबार सर्वथा असम्भव हो जायगा। अपना वचन पालन करने की आदत और अपनी साख बनाये रखने की चिन्ता से यह आपस की ईमानदारी क़ायम रहती है। जिस आदमी को बडे-बडे नाम देकर दूषित दवाइयो से ग्राहको को जहर खिलाने मे जरा भी आत्म-ग्लानि नहीं होती उसे भी दूसरों को दिये हुए समय पर उनसे मिल कर अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने का खयाल रहता है। अब अगर इस गये-बीते ज़माने मे भी यह

सदाचार इस दर्जे तक वढ पाया है तो इसमे तो शक ही क्या है कि जव सिर्फ रुपया कमाना ही काम करने की एकमात्र प्रेरणा और एकमात्र उद्देश्य न रहेगा और समाज का आधार दूसरो की कमाई का फल हडप कर जाना ही न रह जायगा, तो उस समय इस सदाचार की तीव्र प्रगति होगी।

एक और बात मार्के की है। लोग अपने-अपने बूते पर अधिकाधिक साहस के काम करते जा रहे है, और सब प्रकार के स्वतन्त्र संगठनो का असाधारण विकास हो रहा है। ये संगठन भिन्न-भिन्न प्रकार के है। इनका क्षेत्र विशाल होता जा रहा है। वे एक-दूसरे से बडी आसानी से मिल जाते है और वे सभ्य-समाज की वढती हुई आवश्यकताओ के प्रमाण हैं। इनमे खास वात यह है कि वे बडे लाभदायक ढंग से राज्य के हस्तक्षेप की गुन्जायश नहीं रहने देते। इस कारण उन्हे समाज के जीवन का महत्वपूर्ण अङ्ग समझकर उनकी रक्षा करनी चाहिए। अगर आज ये संगठन जीवन की सव दिशाओ मे फैले हुए नहीं है तो इसका कारण यह है कि उनके रास्ते मे मज़दूरो की दरिद्रता, समाज की फूट, व्यक्तिगत पूँजी और राज्य जैसी ज़बरदस्त रुकावटे मौजूद है। इन रुकावटो को दूर कर दीजिए, फिर देखिए कि कितनी जल्दी सभ्य-समाज के महान् कार्य-क्षेत्र मे इन संगठनो का जाल बिछ जाता है।

पिछले पचास वर्षों के इतिहास से इस बात का सजीव प्रमाण मिलता है कि प्रतिनिधि-शासन उसे सौपे हुए सारे कर्तव्यो का पालन करने मे असमर्थ है। थोडे दिन मे यह कहा जायगा कि उन्नीसवी शताब्दी मे ही प्रतिनिधि-शासनवाद की कब्र खुद चुकी थी। प्रतिनिधि-सत्तावाद की यह असमर्थता, ये त्रुटियां और अन्दरूनी बुराइयां सव पर प्रकट हैं। असल मे यह है भी बेहूदा-सी बात कि मुट्ठी-भर आदमियो को मुकर्रर करके उनसे कह दिया जाय कि तुममे से किसी को कुछ आता-जाता तो नहीं है, फिर भी हमारे लिये कानून ऐसे बनादो जिनसे हमारे सव काम-काज ठीक-ठीक चलते रहे। अब तो हम देखने लगे है कि वहुमत पर चलनेवाले राज्य का अर्थ ही यह होता है कि

सभाओं और निर्वाचन-समितियो से जिन मौक़ा-परस्त लोगो का बहुमत होता है उनके हाथो मे देश का सब कारबार सौंप दिया जाय, अर्थात् जिनकी अपनी कोई राय नही होती उनका बोल-बाला रहे।

मानव-समाज को अब नये-नये रास्ते मिलते जा रहे है। डाकियो के संगठन, रेलवे मज़दूर-संघ और पीडित-सभाओ के उदाहरणो से यह प्रतीत होने लगा है कि कानून के बजाय स्वेच्छापूर्वक समझौते से मामले ज्यादा अच्छी तरह हल होते है। आज भी भिन्न-भिन्न और दूर-दूर बिखरे हुए समुदाय किसी उद्देश्य से परस्पर संगठित होना चाहते है तो वे किसी अन्तर्राष्ट्रीय पार्लमेण्ट का चुनाव न करके दूसरे ही ढंग से काम लेते हैं। जहॉ प्रत्यक्ष मिलाकर या पत्र-द्वारा समझौता सम्भव नही होता वहॉ विवाद-ग्रस्त विषय के जानकार प्रतिनिधि भेजकर उनसे कह दिया जाता है कि अमुक-अमुक मामले मे समझौता करने की कोशिश करना। अपनी जेब मे कानून धरकर लाने की ज़रूरत नही हैं, बल्कि समझौते की कोई ऐसी सूरत होनी चाहिए जिसे मानना या न मानना हमारे हाथ मे हो।

यूरोप और अमेरिका की बडी-बडी औद्योगिक कम्पनियो और अन्य सभाओ का यही तरीका है। स्वतंत्र समाज का भी यही तरीका होगा। निरंकुश शासन के साथ-साथ गुलामी का होना जरूरी था। मज़दूरी देकर ग़रीबो का रक्त चूसनेवाले पूँजीवाद के साथ प्रतिनिधि-शासन का ढकोसला ही शोभा देता है। परन्तु जब समाज बन्धन-मुक्त होकर अपना सम्मिलित उत्तराधिकार पुन प्राप्त करेगा तब भिन्न-भिन्न समूहों और समूह-संघो का नया संगठन बनाकर उसे नये अर्थ-शास्त्र के अनुकूल बनाना पडेगा।

असल बात तो यह है कि जैसी आर्थिक व्यवस्था हो वैसी ही राजनीतिक संस्था बनती है। यदि राजनीतिक जीवन का कोई नया तरीका साथ-साथ जारी नही किया जायगा तो व्यक्तिगत सम्पत्ति पर हाथ डालना मुश्किल होगा।

: ४ :

निःसम्पत्तीकरण

१

रॉथ्सचाइल्ड के बारे में कहा जाता है कि जब उसने १८४८ की क्रान्ति के कारण अपने धन-दौलत को खतरे में देखा तो उसे एक चाल सूझी। उसने कहा—"मैं मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता हूँ कि मेरी सम्पत्ति दूसरों को गरीब बना कर इकट्ठी हुई है। यदि कल ही मैं उसे यूरोप के करोड़ों निवासियों में बाँट दूं, तो हरएक के हिस्से में तीन रुपये से अधिक नहीं आयेंगे। ठीक है अब जो कोई मुझसे माँगने आयगा उसीको तीन रुपया दे दूंगा।' इस वचन को प्रकाशित करके यह धनपति सदा की भाँति चुपचाप बाजार में घूमने निकल पड़ा। तीन चार राहगीरों ने अपना-अपना हिस्सा माँगा। उसने उलाहने की हँसी के साथ रुपये दे दिये। उसकी युक्ति चल निकली, और उस सेठ का धन सेठ के ही घर में रह गया।

ठीक यही दलील मध्यम श्रेणी के चंद लोग देते है। वे कहा करते हैं—"अच्छा, आप तो निःसम्पत्तीकरण चाहते है न? यानी यह कि लोगों के लबादे छीनकर एक जगह ढेर लगा दिया जाय और फिर हरएक आदमी अपनी मर्जी से उठा ले जाय और अच्छे-बुरे के लिए लडता रहे।'

परन्तु ऐसे मजाक जितने असंगत होते है उतने ही शरारत-भरे भी होते है। हम यह नहीं चाहते कि लबादों का नया बटवारा किया जाय। वैसे सर्दी में ठिठुरनेवाले लोगों का तो इसमें फायदा ही है। न हम धनिक व्यक्तियों की दौलत ही बाँट देना चाहते है। परन्तु हम इस प्रकार की व्यवस्था अवश्य कर देना चाहते हैं कि जिससे संसार में जन्म लेने-वाले प्रत्येक मनुष्य को कम-से-कम नीचे लिखी सुविधायें तो प्राप्त हो ही जायें।

पहली यह कि वह कोई उपयोगी धन्धा सीखकर उसमे प्रवीण हो सके, और दूसरी यह कि वह बिना किसी मालिक की इजाजत के, और बिना किसी भूस्वामी को अपनी कमाई का अधिकांश भाग अर्पण किये, स्वतंत्रतापूर्वक अपना रोज़गार किया करे। रही बात उस सम्पत्ति की जो धनवान व्यक्तियो के कब्ज़े मे है, सो वह सम्मिलित उत्पादन के संगठन मे काम आयगी।

जिस दिन मज़दूर खेती कर सकेगा, परन्तु उसे अपनी पैदावार का आधा हिस्सा किसी और को नही देना पडेगा, जिस दिन ज़मीन को उपजाऊ बनाने वाली कलो पर किसान की स्वतन्त्र-सत्ता होगी; और जिस दिन कारखाने का श्रमजीवी किसी पूँजीपति के लिये नही, बल्कि समाज के लिये माल तैयार करेगा, उस दिन मज़दूरो के पेट मे पूरी रोटी और शरीर पर पूरा कपडा होगा। उस दिन न ग़रीबो का रक्त शोषण करने वाले होगे और न किसी को ज़रासी मजदूरी पर अपनी सारी उत्पादक-शक्ति बेचनी पडेगी।

समालोचक कहेगे–"यहां तक तो ठीक है, परन्तु बाहर से आने वाले पूंजीपतियो का क्या करोगे? किसी को चीन मे जाकर दौलत जमा करने और फिर अपने यहां आकर बस जाने से कैसे रोकोगे? ऐसे आदमी बहुत से नौकर-चाकर रक्खेगे और उन्हे पैसे का गुलाम बना कर उन्ही के सहारे मौज करते रहेंगे तो, तुम उन्हे कैसे रोकोगे? दुनिया-भर मे एक ही साथ तो क्रान्ति होने से रही, तो फिर क्या अपने देश की सारी सीमाओ पर चौकियां बिठा कर सब भीतर आने वालो की तलाशियाँ लोगे और उनके पास का रुपया-पैसा छीन लोगे? अराजक सिपाही यात्रियो पर गोलियाँ बरसायेंगे, यह दृश्य तो बढ़िया रहेगा!"

परन्तु इस दलील की जड मे ही बडी भूल है। ऐसा तर्क करने वाले यह पता लगाने का कष्ट नही उठाते कि आखिर धनवानो की दौलत आती कहा से है। परन्तु थोडे-से विचार से ही उन्हे मालूम हो सकता है कि इस दौलत की शुरुआत गरीबो की ग़रीबी से ही होती है। जब कोई दरिद्र ही नहीं रहेगा, तो उसका खून चूसने धनवान कहाँ से आयेंगे?

बडी-बडी सम्पति तो मध्यकाल मे ही बनने लगी थी। ज़रा उस समय की अवस्था पर दृष्टिपात करे। उस समय एक सरदार साहब एक उर्वरा भूमि पर अधिकार जमा लेते हैं। परन्तु जबतक वहाँ आबादी नही होती तबतक सरदार साहब धनवान् नहीं बनते। ज़मीन से उन्हें कुछ भी नही मिलता, मानो उन्हे चन्द्रलोक मे जागीर मिली हो। अब सरदार साहब मालदार होने की तरकीब सोचते है। ग़रीब किसानो की तलाश करते है। यदि हरएक किसान के पास ज़मीन होती, कर न देना पडता, और खेती के लिए औज़ार और दूसरा सामान भी होता, तो सरदार साहब की जमीन कौन जोतता? हरएक अपनी-अपनी धरती सम्हालता। परन्तु वहाँ तो युद्ध, अकाल और मरी के मारे हजारो ग़रीब ऐसे मौजूद थे, जिन के पास न बैल थे, न हल। मध्य-युग मे लोहा तो महँगा था ही, खेती के बैल और भी महँगे होते थे। इन सब ग़रीबो को अपनी हालत सुधारने की फिक्र होती थी। भाग्य से, एक दिन सरदार साहब की कोठी के बाहर सडक पर एक सूचना टगी हुई मिलती है। उससे मालूम होता है कि जो मज़दूर उस जागीर में बसना चाहते हो उन्हे अपनी कुटिया बनाने और खेती करने के लिए औज़ार और सामान, और कुछ वर्ष के लिए जमीन मुफ्त मिलेगी।

बस वे अभागे गरीब आकर सरदार साहब की ज़मीन पर बस जाते हैं। वे सडके बना लेते हैं, दलदल सुखा लेते हैं, और गाँव बसा लेते है। नौ-दस वर्ष मे सरदार साहब कर लगाना शुरू कर देते है। फिर पाँच वर्ष बाद लगान बढ़ा देते है और फिर दूना कर देते है। किसान को इस से अच्छी हालत और कहीं नसीब नही होती, इसलिए वह इन सब शर्तों को मंज़ूर कर लेता है। शनैःशनैः सरदार साहब अपने ही बनाये कानूनो की मदद से किसान की दरिद्रता और उसी के द्वारा अपनी सम्पन्नता स्थायी बना लेते हैं। परन्तु किसान सिर्फ जागीरदार का ही शिकार नही होता। ज्यो-ज्यो उसकी विपन्नता बढती जाती है, त्यो-त्यो गाँवो पर टूट पडने वाले सूदखोरो की संख्या भी बढती जाती है। यह तो हुई मध्य-युग की बात। पर आज ही कौनसी हालत सुधर गई है? अगर किसान के पास

यथेच्छ खेती करने के लिए बिना लगान की ज़मीन हो तो क्या वह किसी उमराव बहादुर को पट्टा नामधारी कागज़ के चिथड़े के बदले मे दो-ढाई सौ रुपया या पैदावार का आधा हिस्सा दे देगा ? परन्तु बेचारा करे तो क्या करे ? उसके पास कुछ भी तो नही। उसे तो अपना पेट पालना है। इसलिए खुद घोर परिश्रम करना और भूस्वामी को माला-माल बनाना, यह भी उसे स्वीकार है। इस प्रकार चाहे वर्तमान समय को लीजिए, चाहे मध्यकाल को, कृषक की दरिद्रता भूस्वामी के वैभव की जननी रही है।

२

पूँजीपति की पूँजी भी वही से आती है। मध्यम-श्रेणी के एक नागरिक का उदाहरण लीजिए। मान लीजिए उसके पास किसी प्रकार से दो-तीन लाख रुपया हो गया। यदि वह इस अन्धाधुन्ध भोग-विलास के ज़माने मे बीस-तीस हजार रुपया हर साल ख़र्च कर दे तो दस वर्ष के अन्त मे उसके पास फूटी कौड़ी भी न बच रहे। परन्तु वह तो ठहरा व्यावहारिक बुद्धि का आदमी। वह अपनी पूँजी तो ज्यो-की-त्यों बनाये रखना पसन्द करता है। ऊपर से एक खाली आराम की आमदनी भी निकाल लेना चाहता है।

वर्तमान समय में यह कुछ कठिन भी नही है। कारण स्पष्ट है। शहरो और गांवो मे ऐसे असंख्य मज़दूर विद्यमान रहते है जिनके पास महीना-भर तो क्या एक पखवाड़े की जीविका का साधन भी नही होता। बस हमारे परोपकारी नागरिक महाशय एक कारखाना खोल देते हैं। अगर उनकी व्यावसायिक योग्यता की ख्याति भी हो तो कोठी (बैंक) वाले भी उन्हे झट दो-चार लाख रुपया उधार दे देंगे। इतनी पूंजी से वह महाशय आसानी से पांचसौ स्त्री-पुरुषो पर शासन कर सकते है। बताइए, अगर देहात के सब स्त्री-पुरुषों को भरपेट रोटी मिलती हो और उनकी रोजमर्रा की आवश्यकताये पूरी हो जाती हो, तो चार आने का माल पैदा करके दो आने रोज़ की मज़दूरी लेकर सेठ साहब की

गुलामी कौन करे ?

परन्तु कौन नही जानता कि हमारे नगरो की गरीब बस्तियो मे और पडोस के गावो मे बेशुमार अभागे मोहताज भरे पडे है, जिनके बच्चे रोटी के लिये बिलबिलाया करते है। इस कारण कारख़ाना खडा भी नही होने पाता कि मज़दूरी के उम्मेदवारो की भीड लग जाती है। सौ की मांग होती है और तीन सौ दरवाजे पर आ खडे होते है। ऐसी दशा मे यदि मालिक मे मामूली योग्यता भी हो तो वह कारखाना जारी होने के समय से ही प्रत्येक मजदूर के हाथ से छः सौ रुपया साल तो कमा ही लेता है।

इस प्रकार वह खासी दौलत जमा कर लेता है। वह यदि कोई अच्छी आमदनी का धन्धा ढूंढ ले और उसमें कुछ व्यवसाय-बुद्धि भी हो, तब तो वह मजदूरो की संख्या दुगुनी करके शीघ्र ही मालामाल हो जायगा। इस प्रकार वह बडा आदमी बन जाता है। अब तो वह बडे-बडे हाकिमो, वकीलो और सेठ-साहूकारो को भोज दे सकता है। रुपये के पास रुपया आता ही है। धीरे-धीरे वह अपनी सन्तान के लिए भी जगह कर लेता है, और आगे चल कर सरकार से भी उसे पुलिस या फौज का ठेका मिल जाता है और यदि कहीं लडाई छिड गई या लडाई की कही अफवाह ही उड गई या बाज़ार मे सट्टे का जोर हो गया तो उसके पौ-बारह है।

अमेरिका मे अधिकांश करोडपतियो की सम्पत्ति इस प्रकार राज्य की सहायता से बडे पैमाने पर होने वाली बदमाशी का ही परिणाम है। यूरोप मे भी दस मे से नौ आदमी इन्हीं साधनो से धनवान बने है। असल मे लखपती होने का दूसरा तरीका ही नही है।

बस धनवान होने का रहस्य संक्षेप मे यह है कि भूखो और दरिद्रो को तलाश करके उन्हे दो आने रोज की मज़दूरी पर रख लो और कमा लो उनके द्वारा तीन रुपये रोज। इस तरह जब धन इकट्ठा हो जाय तो राज्य की सहायता से कोई अच्छा सट्टा करके पूँजी बढ़ालो।

अब हम जान गये कि जबतक बचत के पैसे भूखो का खून चूसने

के काम मे न लगाये जांय तबतक खाली बचत से दौलत जमा नही हो सकती। ऐसी दशा मे अर्थशास्त्रियो की इस दलील मे कोई सार नही रहता कि दूरन्देशी और किफायत से ही छोटी-छोटी पूंजियां इकट्ठी होती है।

उदाहरण के लिए एक मोची को लीजिए। मान लीजिए कि उसे मज़दूरी अच्छी मिलती है। ग्राहक भी काफी है और अत्यन्त मितव्ययता के द्वारा वह २०) रुपया मासिक तक बचा लेता है यह भी मान लीजिए कि वह न कभी बीमार होता है, न भूखा रहता है, न शादी करता है, न बच्चे होते है। उसे क्षय भी नही होता। ग़रज, जो जी चाहे, मान लीजिए। फिर भी पचास वर्ष की अवस्था मे उसके पास दस-बारह हज़ार रुपयों से अधिक जमा नही होते। इससे उसका बुढापा नही कट सकता. नि.सन्देह दौलत इस प्रकार जमा नही हुआ करती। परन्तु मानलो वही मोची अपनी बचत तो सैविंग्स-बैंक मे जमा कराकर ब्याज पैदा करता रहे, और किसी गरीब के छोकरे को जूता बनाना सिखाने के लिये नाममात्र की मजदूरी पर नौकर रखले। पांच वर्ष मे गरीब तो समझे मेरा लडका रोज़गार सीख गया है और मोची को सोने की चिडिया हाथ लग गई।

यदि धन्धा अच्छा चल गया तो मोची वैसे ही एक-दो लडके और नौकर रख लेगा। धीरे-धीरे कुछ मज़दूर उसके यहाँ आ रहेगे। इन बेचारो को तीन रुपया रोज के बदले तीन आने भी मिल गये तो वे ग़नीमत समझेगे। यदि मोचीराज के ग्रह अच्छे हुए अर्थात् उसमे चालाकी और कमीनापन काफी हुआ, तो वह अपने परिश्रम के फल के सिवा अपने आदमियो के द्वारा दस-बारह रुपये रोज और कमा सकता है। फिर वह अपना कारबार बढ़ाकर धीरे-धीरे धनवान हो जाता है, और फिर उसे जीवन-सामग्री के बारे मे कंजूसी करने की आवश्यकता नही रहती। इतना ही नही, वह अपनी सन्तान के लिए भी ख़ासी दौलत छोड सकता है। इसी को लोग मितव्ययिता कहते है। परन्तु वास्तव मे यह और कुछ नही, निरा ग़रीबो को पीसना है।

कहा जाता है कि व्यापार पर यह नियम लागू नही होता। यदि कोई आदमी चीन से चाय ख़रीदकर फ्राँस ले जाता है और वहाँ अपनी मूल-पूँजी पर तीस रुपया सैकडा मुनाफ़ा पैदा कर लेता है, तो बताइए उसने किसका खून चूसा ?

परन्तु बात यहाँ भी ठीक वैसी ही है। अगर सेठ साहब माल की गांठे अपनी पीठ पर लाद कर ले जाते तब तो बात ठीक थी। प्राचीनकाल मे वैदेशिक व्यापार ठीक इसी प्रकार हुआ करता था और इसीलिए उस समय आज की भाँति किसी के पास अपरिमित सम्पत्ति भी इकट्ठी नही होती थी। उस समय सोने के सिक्के उन्ही इने-गिने व्यापारियो के पास मिला करते थे जो भयानक जल-यात्राएँ करते और बहुत दिनो के बाद घर लौटते थे। इतनी जोखमे उठाने की प्रेरणा उन्हे अर्थ-लोभ की अपेक्षा यात्रा और साहस-प्रेम के कारण अधिक होती थी।

आजकल तो मामला बिलकुल सीधा हो गया है। जिस व्यापारी के पास कुछ पूँजी है, उसे धनवान बनने के लिए अपनी गद्दी पर से हिलने की भी ज़रूरत नही है। वह अपने आढतियों को तार देकर दो-तीन हज़ार मन ग़ल्ला खरीद लेता है। तीन-चार महीने मे माल जहाज़ मे भरकर उसके घर आ पहुँचता है। बीमा करा लेने के कारण माल और जहाज़ को कोई जोखम भी नही रहती। लाख रुपये पर बीस-पच्चीस हज़ार रुपया वह बडी आसानी से कमा लेता है। अब यह सवाल उठ सकता है कि सात समुद्र पार जाने, यात्रा की कठिनाइयां और घोर परिश्रम सहन करने तथा थोडे से वेतन के लिए अपनी जान जोखम मे डालने वाले मनुष्य सेठ को कहां मिल जाते है ? और वे बन्दरगाह पर नाम-मात्र की मज़दूरी लेकर जहाज़ को भरने और खाली करने के लिये क्यों राज़ी हो जाते हैं ? इसका उत्तर यह है कि मरता क्या नही करता ? ज़रा बन्दरगाहो, खानों की दुकानो और सरायों में जाकर देखिए। वहां आप को भीड-की-भीड दिखाई देगी। ये बेचारे प्रातःकाल से घेरा लगाये इस आशा में खडे रहते हैं कि उन्हें जहाज पर काम मिल जायगा। नाविको को देखो तो उन्हे भी महीनो प्रतीक्षा करने पर जब दीर्घ जल-यात्रा

के लिए नौकरी मिल जाती है तब वे भी बडे प्रसन्न होते है। उनका सारा जीवन समुद्र पर ही व्यतीत होता है और अन्त मे वही उनकी समाधि भी बनती है। उनके घरो मे प्रवेश करके देखो तो उनके स्त्री-बच्चो के शरीर पर तो चिथडे मिलेगे और यह मालूम न हो सके कि अन्नदाता के लौटने तक वे कैसे गुज़र करते हैं। कहिए मिल गया अब तो आप के सवाल का जवाब? आप उदाहरण-पर-उदाहरण लेते चले जाइए। कही से भी चुन लीजिए। छोटी बडी किसी भी तरह की दौलत का मूल ढूंढिए। भले ही उस धन की उत्पत्ति व्यापार से हुई हो, भले ही उद्योग-धन्धे या भूमि से हुई हो, सर्वत्र आप यही देखेगे कि धनवानो का धन दरिद्रो की निर्धनता से पैदा होता है। यही कारण है कि राज्यहीन समाज में किसी करोडपति के आकर बस जाने का भय नही है। यदि समाज के प्रत्येक मनुष्य को यह ज्ञात हो कि कुछ घण्टे उत्पादक परिश्रम करने से उसे सब सुख भोगने का अधिकार और कला तथा विज्ञान के आनन्द की सुविधा प्राप्त हो सकती है, तो फिर कौन भूखो मरकर मज़दूरी करने के लिये तैयार होगा? कौन किसी करोडपति को मालामाल करने के लिए राजी-खुशी से काम करेगा? उस समय सेठ साहब की मुहरे केवल धातु के टुकडे रह जायँगे। उनसे और काम निकल सकेगे, परन्तु रुपया पैदा नही हो सकेगा।

यहाँ नि.सम्पत्तीकरण की सीमा का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। हम किसी से उसका कोट छीनना नही चाहते। परन्तु हम यह अवश्य चाहते है कि जिन चीजो के न होने से मज़दूर अपना रक्त शोषण करने वालो के शिकार आसानी से बन जाते हैं, वे चीज़े उन्हे ज़रूर मिल जायँ। हम इस बात का भी भरसक प्रयत्न करेगे कि किसी को किसी चीज़ की कमी न रहे और एक भी मनुष्य को अपनी और अपने बाल-बच्चो की आजीविका मात्र के लिए अपना बाहुबल बेचना न पडे। नि.सम्पत्तीकरण से हमारा यही अर्थ है। क्रान्ति के समय ऐसा करना हमारा फर्ज़ होगा। उस क्रान्ति की प्रतीक्षा सौ-दो सौ वर्ष नही करनी पडेगी। वह आने वाली है और बहुत जल्द आने वाली है।

३

स्वतन्त्र स्वभाव के लोग और वे लोग, जिनका सर्वोपरि आदर्श केवल आलस्य नही है, अराजकता और विशेषत. नि.सम्पत्तीकरण के विचारो की ओर बडी सहानुभूति रखते हैं। फिर भी वे यह चेतावनी देते रहते है कि इस बात का ध्यान रखना कि "तुम बहुत आगे न बढ जाओ। मनुष्य-जाति एक दिन मे बदल नही सकती, इसलिए तुम अराजकता और नि सम्पत्तीकरण की अपनी योजनाओ के विषय मे बहुत जल्दी न करना, अन्यथा भय है कि तुम किसी भी स्थायी परिणाम को प्राप्त न कर सकोगे।"

परन्तु नि.सम्पत्तीकरण के विषय मे ख़तरा तो दूसरी ही बात का है। खतरा तो इस बात का है कि हम इस मामले मे काफी आगे न बढ सकेंगे, और बडे पैमाने पर स्थायी नि.सम्पत्तीकरण न कर पायंगे। कही अधबीच में ही क्रान्ति का जोश रुक न जावे। कहीं क्रान्ति अर्धसफल होकर ही समाप्त न हो जावे। अर्धसफल क्रान्ति से कोई भी सन्तुष्ट न हो सकेगा। समाज में भयंकर गडबडी पैदा हो जायगी और उसका सब कामकाज बन्द हो जायगा। उस क्रान्ति मे कुछ भी जीवन-शक्ति बाक़ी न रहेगी। सर्वत्र केवल असन्तोष फैल जायगा और प्रतिक्रिया की सफलता का मार्ग अनिवार्यरूप से तैयार हो जायगा।

वर्तमान राज्य-संस्था मे कुछ ऐसे सम्बन्ध कायम हो गये है कि यदि उन पर केवल आंशिक प्रहार होगा तो उनका व्यावहारिक सुधार होना असम्भव है। हमारे आर्थिक संगठन मे पुर्जे मे पुर्जा फंसा हुआ है। यह यन्त्रजाल ऐसा पेचीदा और परस्पर सम्बद्ध है कि इसके किसी पुर्जे को सुधारने के लिये सारी मशीन को छोडे बिना काम नही चलेगा। ज्योही किसी जगह नि सम्पत्तीकरण का प्रयत्न किया जायगा, त्योही यह बात स्पष्ट हो जायगी।

कल्पना कीजिए कि किसी देश मे नि सम्पत्तीकरण थोडे अंश मे किया गया। उदाहरण के लिए, केवल बडे भूस्वामियों की जायदाद सार्वजनिक

बना दी गई और कारखानो को अछूता छोड दिया, या किसी नगर मे सारे मकान साम्यवादी पंचायत ने अधिकार मे ले लिये, परन्तु शेष सब सम्पत्ति व्यक्तियो के पास छोड दी गई, या किसी औद्योगिक केन्द्र मे कारखाने सार्वजनिक कर लिये गये और ज़मीन वैसी ही रहने दी गई।

इन सब अवस्थाओ मे नतीजा एक ही होगा। नये ढग पर पुन. संगठन तो हो न सकेगा और औद्योगिक व्यवस्था का भयंकर नाश हो जायगा, उद्योग-धन्धे और लेनदेन बिलकुल रुक जायँगे। इतना होने पर भी न तो ऐसे समाज के दर्शन होगे जिसका आधार न्याय के साधारण सिद्धान्त हो, और न उस समाज मे इतना सामर्थ्य होगा कि वह अपने सब अंगो को शान्तपूर्ण एकता के धागे मे पिरो सके।

यदि कृषि बडे भूस्वामियो के पजे से छुट गई, और उद्योग-धन्धे पूँजीपति व्यापारी और बैंकर की ही गुलामी मे रहे तो कुछ भी फायदा न होगा। आजकल किसान को भूमिपति का लगान देने का ही कष्ट नहीं है, बल्कि वर्तमान परिस्थिति मे वह सबके अत्याचारो का शिकार बनता है। जो दूकानदार उससे पॉच आने की मेहनत से बने फावडे का डेढ रुपया वसूल कर लेता है, वह भी उसे लूटता है। जिस राज्य का काम बडे दृढ़ और पवित्र अधिकारो के धारण करनेवाले पदाधिकारियो के बिना चल ही नहीं सकता और जो इसी वास्ते सेना रखता है कि बाज़ारो पर अधिकार करने या एशिया और अफ्रिका के किसी भाग को लूटने के लिए किसी-न-किसी समय युद्ध करना पडेगा, वह भी उस किसान को कर के भार से दबाता है।

इसके अतिरिक्त किसान को देहातो की आबादी घटने से भी नुकसान उठाना पडता है। विलास-वस्तुओ के कारखानो मे मिलनेवाली थोडे दिन की ऊँची मज़दूरी के प्रलोभन से अथवा वहाँ की चहल-पहल के आकर्षण से युवक लोग शहरो मे चले जाते है। आजकल उद्योग-धंधो की अस्वाभाविक रक्षा की जाती है, अन्य देशो की औद्योगिक लूट जारी है, शेयरो के व्यापार की प्रथा बढ रही है, और जमीन का तथा उत्पात के साधनों का सुधारना मुश्किल हो रहा है। इन सारी बातों से

कृषि की उन्नति नही हो पाती। ज़मीन पर न केवल लगान का ही बोझ लदा हुआ है, बल्कि इस लुटेरे समाज की सारी जटिलताओ का भी भार है। इसलिए चाहे जमीन मालिको के हाथ से छीन ली जाय, चाहे हरएक आदमी को बिना लगान से ही अपनी पूरी शक्ति से जमीन जोतने और फ़सल पैदा करने की स्वतन्त्रता मिल जाय, और चाहे कृषि थोडे समय के लिए खूब उन्नति भी कर ले, फिर भी शीघ्र ही वह उसी दलदल मे गिर जायगी जिसमे वह आज फॅसी हुई है। कठिनाइयाँ अधिक बढ जायँगी और सारा काम फिर से प्रारम्भ करना पडेगा।

उद्योग-धंधो की भी यही बात है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। यह कल्पना न कीजिए कि किसान जमीन के मालिक बन गये, बल्कि यह कल्पना कीजिए कि कारखाने श्रमिको के हाथ मे आगये। कारख़ानो के मालिक तो मिट गये, परन्तु भूमिपति के पास भूमि, साहूकार के पास उसका धन, और दूकानदार के पास उसकी दूकानदारी रह गई। श्रमिको के श्रम पर जीवित रहनेवाले और निकम्मे बीचवाले सारे लोग रह गये। सारे अधिकारी वर्ग-सहित राज्यसंस्था भी बन रही। इस अवस्था मे भी उद्योग-धंधे एकदम बंद हो जायंगे। किसान लोग तो दरिद्र होंगे। वे तैयार माल खरीद न सकेंगे। कच्चा माल कारखानेदारों के पास होगा नही। अंशत व्यापार बंद हो जाने के कारण और प्रायः दुनिया के सब देशो मे उद्योग-धंधे के फैल जाने के कारण कारखानेदार अपना माल बाहर न भेज सकेंगे। वे लोग परिस्थिति का सामना न कर सकेंगे और हजारो मज़दूर बेकार हो जायंगे। इन भूखो मरने वाले लोगो को जो भी रक्त-शोषक व्यक्ति पहले मिल गया, वे उसीके गुलाम बनने को तैयार हो जायंगे। निश्चित काम दिये जाने के वादे पर तो ये लोग पुरानी दासता मे भी पडने को राज़ी हो जायंगे।

अथवा कल्पना कीजिए कि आप भूमिपतियो को निकाल देते है और मिलो और कारख़ानो को श्रमिको के हाथ मे दे देते है, परन्तु कारख़ानो की पैदावार को खीच ले जाने वाले और बडी-बडी मडियो मे गल्ला, आटा, गोश्त और किराने का सट्टा करने वाले बीच के असंख्य लोगो को नही

हटाते। ऐसी अवस्था मे ज्योही माल की बिक्री कम हो जायगी, ज्योंही बडे नगरो मे रोटी का अभाव हो जायगा, और बडे औद्योगिक केन्द्रो को अपनी तैयार की हुई विलासिता की वस्तुओ के ख़रीददार नही मिलेगे, त्योही प्रतिक्रान्ति होकर ही रहेगी। वह लोगो का बध करती हुई, बन्दूको और गोलियो के साथ क़स्बो और गॉवो का सफाया करती हुई, निषेध और निर्वासन का आंतक फैलाती हुई आयगी। फ्रांस मे १८१५, १८४८ और १८७१ मे यही तो हुआ था।

उन्नत समाज मे सब बाते परस्पर-सम्बद्ध होती है। सारी व्यवस्था को बदले बिना किसी एक बात का सुधार नहीं हो सकता। इसलिए जिस दिन कोई राष्ट्र व्यक्तिगत सम्पत्ति के किसी एक प्रकार पर, *ज़मीन पर या कारख़ानो पर* प्रहार करेगा, तो उसे सब पर प्रहार करना पडेगा। क्रान्ति की सफलता के लिए ही यह काम करना पडेगा।

इसके अलावा, यदि कोई यह चाहे भी कि क्रान्ति को आंशिक नि सम्पत्तीकरण तक ही सीमित रक्खा जावे, तो भी असम्भव होगा। एक बार 'व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वर्गीय अधिकार' का सिद्धान्त हिला नहीं कि, न तो कोई बडे-से-बडा तत्वज्ञान खेतो के गुलामो को ज़मीन की व्यक्तिगत सम्पत्ति को उखाड फेकने से रोक सकेगा, और न कोई बडे-से-बडा सिद्धान्त मशीन के गुलामो को कारख़ानो की व्यक्तिगत सम्पत्ति को उखाड फेकने से रोक सकेगा।

यदि कोई बडा नगर, मान लीजिए कि पेरिस ही, केवल रहने के मकानो या कारखानो पर ही अधिकार करके रह जाय, तो उसे यह भी कहना पडेगा कि हम पिछले ऋण के ब्याज की बीस लाख पौण्ड की रकम नही देगे और नगर पर ऋणदाता साहूकारो को इसके लिए कर नहीं लगाने देगे। उस बडे नगर को बाधित होकर देहाती प्रदेशो से अपना सम्पर्क रखना पडेगा। इसका प्रभाव यह होगा कि किसान भी भूमिपति से अवश्य अपना पिण्ड छुडाना चाहेगे। नगरवासियो को भोजन तथा काम मिल सके और सामान का अपव्यय न होने पाये, इसलिए

रेलों को भी सार्वजनिक बनाना पडेगा । अनाज का सट्टा करनेवाली जिस प्रकार की बडी कम्पनियो के कारण १७९३ मे पेरिस को भूखों मरना पडा था, उनसे भी रक्षा करनी पड़ेगी । उसको ज़रूरी सामान अपने गोदामो मे भरकर रखने और उसको ठीक-ठीक बांटने का काम भी अपने हाथ मे लेना पडेगा।

कुछ साम्यवादी लोग फिर भी एक भेद कायम रखना चाहते है । वे कहते है—"भूमि, खानो, मिलो, उद्योग-धंधो का तो नि सम्पत्तीकरण होना ही चाहिए । ये उत्पत्ति के साधन है और इनको सार्वजनिक सम्पत्ति समझना ठीक है; परन्तु खपत की चीजे—खाना, कपडा और मकानात—व्यक्तिगत सम्पत्ति रहनी चाहिए ।'

परन्तु इस सूक्ष्म भेद को जनता खूब समझती है । हम लोग जंगली नही हैं जो जंगलो मे केवल वृक्ष-शाखाओ के नीचे रह सके । सभ्य मनुष्य के लिए तो ऐसा मकान चाहिए जिसमे बैठने-उठने के कमरे हो, खाना पकाने को चूल्हा हो और सोने को पलंग हो । यह तो सत्य है कि निठल्ले के लिए ये सब चीज़े आलस्य का घर होती है । परन्तु श्रमिक के लिए तो उचित रीति से गरम किया हुआ और रोशनीदार कमरा उत्पत्ति का उसी प्रकार साधन है जिस प्रकार कि औज़ार या मशीन । यही तो उसका शरीर आधे दिन का काम करने के लिए शक्ति का संग्रह करता है । श्रमिक का विश्राम मशीन की रोज़ाना मरम्मत के बराबर है ।

यही दलील भोजन के विषय मे और भी अच्छी तरह लागू होती है । उपर्युक्त भेद को क़ायम रखने वाले अर्थशास्त्री कहे जाने वाले लोग भी इस बात से इन्कार नही करेगे कि उत्पत्ति के लिए मशीन मे जलने वाला कोयला उतना ही आवश्यक है जितना कि कच्चा माल । तो फिर जिस खुराक के बिना मनुष्यरूपी यन्त्र कुछ भी काम नही कर सकता, उसे उन चीज़ों मे से कैसे निकाला जा सकता है जो मजदूर के श्रम के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है ? धनाढ्य लोग जो आपस मे दावतें उडाते हैं, वह ज़रूर विलासिता है । परन्तु श्रमजीवी का भोजन तो उत्पत्ति का वैसा ही भाग है जैसा कि एंजिन मे जलने वाला ईंधन ।

वस्त्रो की भी यही बात है। हम लोग जंगली नहीं है। यद्यपि शौकीन स्त्रियों के महीन और बढ़िया-बढ़िया कपडे विलास की वस्तुएं गिनी जायँगी, तथापि उत्पत्ति करने वाले श्रमिक के लिए कुछ सूती और कुछ ऊनी कपडे की तो ज़रूरत होती ही है। जिस कुरते और पायजामे को पहनकर वह काम करने जाता है और दिन भर का काम करके वह जिस कोट को शरीर पर डाल लेता है, वह तो उसके लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि निहाई के लिए हथौडा।

हम चाहे पसन्द करे या न करें, लोग तो क्रान्ति का यह अर्थ समझते हैं। ज्योंही वे राज्य का सफाया कर देंगे, त्योंही वे सब से पहले यह उपाय करेंगे कि उन्हे रहने लायक अच्छा घर और काफी भोजन-वस्त्र मिलता रहे और पूंजीपतियो को उन्हे कुछ भी न देना पडे।

जनता का ऐसा करना ठीक भी होगा। उत्पत्ति के साधन और खपत की वस्तुओ के बीच इतने भेद पैदा करने वाले अर्थशास्त्रियो की अपेक्षा साधारण लोगो के उपाय अधिक विज्ञानानुकूल होंगे। लोग समझते है कि इसी स्थान से क्रान्ति का प्रारम्भ होना चाहिए। "मनुष्यजाति की आवश्यकताओ का और उनको पूर्ण करने के आर्थिक साधनों का अध्ययन" ही एक वह विज्ञान है जो सच्चा अर्थविज्ञान (अर्थशास्त्र) कहा जा सकता है, और लोग उसी की नीव डालेंगे।

: ५ :

भोजन

१

आगामी क्रान्ति को यदि हमे साम्यवादी क्रान्ति बनाना है, तो पूर्ववर्ती सब विप्लवो से वह न केवल अपने उद्देश्य मे, किन्तु अपने तरीकों मे भी भिन्न होगी। नवीन उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन भी नवीन चाहिए।

फ्रांस का ही उदाहरण लीजिए। वहां गत सौ वर्षों मे हमने जिन तीन सार्वजनिक आन्दोलनो को देखा है, वे परस्पर अनेक बातो मे भिन्न है, परन्तु उनमे एक बात सामान्य है।

इन सब आन्दोलनो मे लोगो ने पुराने शासन को पलटने का प्रयत्न किया और इस काम के लिए अपने खून का दरिया वहा दिया। परन्तु युद्ध के कठिन आघात को सहकर भी वे फिर भुला दिये गये। कुछ ऐसे लोगो की, जो किसी-न-किसी हद तक सच्चे कहे जा सकते थे, सरकार बनाई गई और उसने नये शासन के संगठन करने का काम लिया। यह सरकार सब से पहले राजनीतिक प्रश्नो के हल करने मे लग गई। वे प्रश्न थे—शासन का पुन.संगठन, व्यवस्था का सुधार, राज्य और धर्म का पृथक्करण, नागरिक स्वतन्त्रता आदि। यह तो सत्य है कि श्रमिको के संघो ने नई सरकार के सदस्यो पर निगाह रक्खी और कई बार अपने विचारो का प्रभाव भी उन पर डाला। परन्तु इन संघो मे भी, चाहे नेतागण मध्यम वर्ग के रहे या श्रमिक वर्ग के, अधिक प्रभाव मध्यम वर्ग के विचारो का ही रहा। वे विविध राजनीतिक प्रश्नो पर विस्तार के साथ वाद-विवाद करते थे; परन्तु रोटी के प्रश्न को भूल ही गये।

ऐसे अवसरो पर बडे-बडे विचारो का जन्म हुआ है। वे विचार ऐसे थे, जिन्होने संसार को हिला दिया। ऐसे अवसरो पर ऐसे शब्द कहे गये है, जो आज एक शताब्दी से अधिक बीत जाने पर भी हमारे हृदयो मे जोश भर देते है। परन्तु उधर गंदी गलियो मे लोग भूखो मर रहे है।

क्रान्ति के प्रारम्भ होते ही उद्योग-धंधे अनिवार्य रूप से रुक गये। माल का क्रय-विक्रय बंद हो गया और पूंजी छिपा ली गई। कारखानो के मालिको को तो ऐसे समय भी किसी बात का भय नही था। वे अपने मुनाफे खाकर मोटे हो जाते थे। उनका बस चलता तो वे चारों तरफ फैली हुई दुरवस्था पर भी सट्टा करते। परन्तु मज़दूरो का गुज़ारा मुश्किल से होने लगा। दरिद्रता उनके द्वार पर मुंह बाए आ खडी हुई। देश मे दुष्काल फैल गया, और दुष्काल भी ऐसा, जो पुराने शासन

में शायद ही कभी पडा हो।

१७९३ मे श्रमिको ने यह चिल्लाहट मचाई कि 'गिरोण्डिस्ट' लोग हमको भूखो मार रहे है। उस पर गिरोण्डिस्ट लोगो को मार दिया गया और शासक की सारी शक्तियां 'माउण्टेन' और 'कम्यून' सरकार के हाथों में दे दी गई। कम्यून सरकार ने अलबत्ता रोटी के प्रश्न को उठाया और पेरिस-वासियो का पेट भरने मे उसने भगीरथ प्रयत्न किये। फ़ाउशे और कोलोट डि हरबाय ने लॉयन्स मे अन्न-भण्डार स्थापित किये, परन्तु उनको भरने मे जो रकम खर्च की गई वह अत्यन्त अपर्याप्त थी। क़स्बा-समितियो ने अन्न प्राप्त करने के बडे प्रयत्न किये। जिन दूकानदारो ने आटा गुप्त रूप से इकट्ठा कर रक्खा था उनको फांसी दी गई। फिर भी लोग रोटी के लिए तरसते रहे।

तब वे लोग राजभक्त षड्यन्त्र-कारियो पर टूटे, और सारा दोष उनके मत्थे मढा। रोज़ दस-पन्द्रह जागीरदारो के नौकरो या पत्नियो को फांसी पर लटका दिया जाता था। नौकरों की ज़्यादा कमबख्ती आती थी; क्योकि उनकी मालिकिनियां तो बाहर चली गईं। परन्तु यदि वे रोज़ सौ सरदारो को भी मारते तो भी परिणाम उतना ही निराशाजनक होता।

परन्तु दरिद्रता तो बढती गई। मज़दूरपेशा व्यक्ति बिना मज़दूरी के जीवित नही रह सकता और मज़दूरी मिलती न थी। उसके लिए हज़ार लाशे हुईं तो क्या और दो हजार हुईं तो क्या?

तब लोग तंग आने लगे। क्रान्ति विरोधी लोग श्रमिको के कानों में कहने लगे कि "तुम जिस क्रान्ति का गर्व करते थे देख लिया उसका मज़ा! तुम्हारी हालत तो पहले से भी खराब है।" शनै-शनै धनवानों को भी साहस हुआ। वे अपने बिलो मे से निकल-निकल कर बाहर आने लगे और भूखो मरती हुई जनता के सामने अपनी विलासिता का प्रदर्शन करने लगे। वे छैलो की-सी पोशाके पहन-पहन कर श्रमिको से कहने लगे—"इस मूर्खता को रहने दो। तुमने इस क्रान्ति से क्या लाभ उठाया?"

क्रान्तिकारियो का हृदय बैठ गया। उनका धैर्य छूट गया और अन्त

मे उन्हे स्वीकार करना पडा कि इस बार फिर बाजी हार गये। वे फिर अपनी झोपडी मे जा बैठे और भारी-से-भारी मुसीबत की प्रतीक्षा करने लगे।

तब प्रतिक्रिया अभिमान के साथ उठी और उसने मरती हुई क्रान्ति की पीठ पर एक और लात जमादी। क्रान्ति मर चुकी थी, अब उसकी लाश को पैरो तले रौदने के अतिरिक्त कोई काम बाकी न था।

क्रान्ति-विरोधियो का आंतक प्रारम्भ हुआ। पानी की भांति खून बहाया गया। फांसी का तख्ता कभी खाली न रहा। कारागार भर दिये गये और धनवान् लोगो की तडक-भडक फिर से सामने आई। सब काम पहले की भांति मज़े से चलने लगा।

इस चित्र को हमारी सारी क्रान्तियो के बारे मे नमूना समझना चाहिए। १८८४ मे रिपब्लिक शासन के सेवार्थ पेरिस के श्रमिको ने तीन मास की भूख सहन की। जब उनका आगे बस न चला तो उन्होने एक अन्तिम जी-तोड प्रयत्न किया। वह प्रयत्न भी रक्तपात के बाद निष्फल हो गया। १८७१ मे युद्ध करने वालो की कमी के कारण कम्यून शासन भी नष्ट हो गया। उसने धर्म और राज्य को पृथक करने के उपाय तो किये, परन्तु खेद है कि समय निकल जाने से पहले लोगो को रोटी देने के प्रबन्ध की ओर ध्यान नही दिया। पेरिस मे तो यहां तक हुआ कि बडे आदमियो ने क्रान्ति मे भाग लेने वालो को ठोकरे मारी और कहा कि "हम 'श्रेष्ठ' लोग तो सुन्दर भोजनगृहो मे भोजन करते है, तुम यहां क्यो बाधा देते हो? जाकर कही मज़दूरी करो।"

आख़िरकार कम्यून-सरकार ने अपनी भूल समझ ली और सार्वजनिक रसोईघर खोल दिये। परन्तु समय निकल चुका था। उसके दिन इनेगिने रह गये थे और वरसाई की सेनाएं नगर की दीवारो तक चढकर आगई थी।

"रोटी! क्रान्तिकारियो को तो रोटी चाहिए।" अन्य लोग भले ही शानदार घोषणाएँ निकालते रहे, सुनहरी सरकारी वर्दियो से अपने को सुशोभित करते रहे और राजनीतिक स्वतन्त्रता की बातें करने मे समय

बिताते रहें !...

हमे तो यह प्रबन्ध करना है कि स्वतन्त्रता के लिए लड़नेवाले सब प्रान्तो मे, क्रान्ति के प्रथम दिन से अन्तिम दिन तक, एक भी ऐसा आदमी न रहे जिसके पास रोटी की कमी हो, एक भी ऐसी स्त्री न रहे जिसे मोटी-झोटी दान मे फेंकी हुई रोटी के लिए रसोईघर के दरवाजे के बाहर थकी हुई भीड़ के साथ खड़ा रहना पड़े, एक भी ऐसा बालक न रहे जो रोटी के लिए चिल्लाता हो।

मध्यमवर्ग सदा यह चाहता रहता है कि बडे-बडे सिद्धान्तो अथवा यो कहिए कि बडी बडी असत्यताओ के विषय मे लंबे-लंबे भाषण दिये जायॅ।

जनता तो यह चाहेगी कि सबको रोटी मिले। जिस समय मध्यम-वर्ग के नागरिक और उन्हीं के विचारो से प्रभावित मज़दूर लोग सभा-सम्मेलनो मे दिये हुए अपने लच्छेदार भाषणों की प्रशंसाएं करते होंगे और जिस समय "व्यावहारिक आदमी" शासन संगठन के तरीक़ो पर वाद-विवाद मे उलझे होगे, उस समय हम लोगो को तो भोजन के प्रश्न पर ही विचार करना-पडेगा भले ही आज हमे कोई स्वप्न-संसार के जीव कहे।

हम यह साहसपूर्वक घोषित करते है कि भोजन पाने का हक सबको है, भोजन-सामग्री इतनी है कि वह सबको मिल सकती है, और "सब के लिए रोटी" यही एक ध्रुव वाक्य है जिसके सहारे क्रान्ति सफल हो जावेगी।

२

कहा जाता है कि हम हवाई किले बनाने वाले लोग है। ठीक है। हम तो यहां तक मानते है कि क्रान्ति सबको रोटी-कपडा और घर दे सकती है, और उसे देना चाहिए। यह एक ऐसा विचार है जिसे मध्यम-वर्ग के नागरिक चाहे वे किसी भी दल के हो बिलकुल नापसन्द करते

हैं, क्योंकि वे यह बात खूब जानते है कि पेट भरे हुए लोगो के ऊपर वडप्पन कायम रखना सरल नही है !

फिर भी हम अपनी बात पर कायम हैं। क्रान्ति करने वालो के लिए रोटी मिलनी ही चाहिए। रोटी का सवाल ही दूसरे सारे सवालो से पहले हल किया जाना चाहिए। यदि इस प्रश्न का हल इस प्रकार हुआ कि उससे सारी जनता का हित हो तो समझना चाहिए कि क्रान्ति ठीक रास्ते पर लग गई, क्योंकि रोटी का प्रश्न हल करने में हमे समानता का सिद्धान्त स्वीकार करना पडेगा। इस प्रश्न को हल करने का और कोई उपाय हो ही नही सकता।

यह निश्चय है कि १८४८ की क्रान्ति की भांति आगामी क्रान्ति का उदय भी ऐसे समय होगा जब हमारे उद्योग-धन्धो पर महान् विपत्ति के बादल छाये होगे। पचास वर्ष से फोडा पक रहा है। वह फूट कर ही रहेगा। सारी घटनाएं संसार को क्रान्ति की ओर ले जारही है। नई-नई जातियां अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अखाडे मे उतर रही हैं और दुनिया के बाज़ारो पर अधिकार करने के वास्ते लड रही हैं। युद्ध हो रहे हैं। टैक्स बढ रहे है। राष्ट्रों पर कर्जा चढ रहा है। कल की चिन्ता सब पर सवार है। विदेशो मे उपनिवेशो का खूब विस्तार किया जा रहा है।

इस समय यूरोप मे लाखो श्रमजीवी बेकार हैं। जब क्रान्ति आ धमकेगी और बारूद की गाडी मे लगाई हुई आग की तरह फैल जावेगी तो हालत और भी बुरी होगी। ज्योही यूरोप और अमरीका मे रोक की दीवारे खडी कर दी जावेगी त्योही बेकारो की संख्या दुगुनी हो जावेगी। इन बहुसंख्यक लोगो को रोटी देने के लिए क्या उपाय करना होगा ?

यह तो मालूम नही कि जो लोग अपने को 'व्यावहारिक आदमी' कहते है उन्होने सम्पूर्ण रूप से इस प्रश्न का उत्तर सोचा है या नही। परन्तु हम यह तो जरूर जानते है कि वे मजदूरी-प्रथा कायम रखना चाहते हैं, और इसलिए हमे आशा करनी चाहिए कि 'राष्ट्रीय कारखाने' और पब्लिक वर्क्स खुलेगे और इनके जरिये से बेकारो को रोटी देने का ढोंग किया जावेगा।

१७८९ और १७९३ में राष्ट्रीय कारखाने खुले थे। १८४८ में भी यही साधन प्रयुक्त हुए थे। नेपोलियन तृतीय ने सार्वजनिक कारखाने कायम करके अठारह वर्ष तक पेरिस के श्रमजीवियो को सन्तुष्ट रक्खा था, भले ही इसके कारण आज पेरिस पर आठ करोड पौण्ड का ऋण और तीन-चार पाउण्ड प्रति व्यक्ति म्युनिसिपल कर है। * 'जानवर को पालतू बनाने' का यह बढ़िया तरीक़ा रोम मे भी था, और शक्ति संगठित करने का समय प्राप्त करने के लिए लोगों को रोटी का टुकडा फैकने की चाल सदा से स्वेच्छाचारियो, राजाओ और सम्राटो ने चली है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि 'व्यावहारिक' लोग मज़दूरी या वेतन की प्रथा को स्थायी बनाने के इस उपाय की प्रशंसा करे। जब सत्ताधीशो के सनातन से चले आए हुए ये उपाय हमारे पास मौजूद है तो हमें अपने मस्तिष्को को कष्ट देने की आवश्यकता ही क्या है ?

क्रान्ति को यदि शुरू से ही गलत रास्ते पर लगाया गया तो इसका जहाज़ किनारे कैसे लगेगा ?

२७ फरवरी सन् १८४८ को, जबकि राष्ट्रीय कारखाने खुले थे, पेरिस के बेकारो की सख्या ८००० थी। दो सप्ताह के बाद वे ४९,००० हो गये। बाहर प्रान्तो से आने वालो की बडी संख्या को गिने बिना भी, उनकी संख्या शीघ्र ही १,००,००० हो जाती।

फिर भी उस समय व्यवसायो मे और फ्रान्स के कारख़ानेदारो के काम पर लगे हुए मज़दूर आज से आधे थे। हम जानते है कि क्रान्ति मे विनिमय और उद्योग-धन्धो को ही अधिक हानि पहुँचा करती है। वास्तव मे हमे उन्ही श्रमजीवियो की चिन्ता करनी है जिनकी मज़दूरी प्रत्यक्ष या परोक्ष-रूप से निर्यात-व्यापार पर निर्भर है या जो उन विलास-वस्तुओ को बनाने मे लगे रहते है जिनकी खपत अल्पसख्यक मध्यमवर्ग में होती है।

---

* सन् १९०४ मे पेरिस का म्युनिसिपल कर २,७६६,५७९,१०० फ्रैंक था और उसके चार्जेस १२१,०००,०००, फ्रेक थे।

तो यूरोप मे क्रान्ति हो जाने का अर्थ है कम-से-कम आधे कारखानों का अनिवार्यरूप से बन्द हो जाना । इसका अर्थ है लाखो श्रमजीवियो और उनके परिवारो का सडको पर मारे-मारे फिरना। 'व्यावहारिक आदमी' लोगो के कष्ट-निवारणार्थ तत्काल नये राष्ट्रीय कारखाने खोलकर इस भयंकर परिस्थिति को रोकना चाहेंगे । वे बेकारो को काम देने के लिए उसी वक्त नये उद्योग-धन्धे खोलेगे ।

जैसा कि प्राउडहन ने लगभग ५० वर्ष पहले ही बता दिया था, यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति पर थोडा भी आक्रमण करने से उसके साथ ही व्यक्तिगत व्यवसाय और मज़दूरी के तरीके पर आधारित सारी प्रणाली का पूर्ण विसङ्गठन हो जायगा। समाज को बाध्य होकर सम्पूर्ण उत्पत्ति को अपने हाथ मे लेना पडेगा, और सारी जनता की आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए उसका पुन संगठन करना पडेगा। परन्तु यह कार्य एक दिन मे या एक मास मे पूरा नही हो सकता । माल तैयार करने का ढांचा बदलने मे कुछ समय लगेगा। और इतने काल तक लाखो आदमी जीवन-निर्वाह के साधनो से वंचित रहेगे। तो फिर किया क्या जाय ?

यह समस्या एक ही तरह से हल हो सकती है। जो महान् कार्य हमारे सामने है, हम उसे साहस के साथ हाथ मे ले ले, और जिस परिस्थिति को हमने स्वयं बिगाड दिया है, उसमे पैवन्द जोडने का प्रयत्न न करके बिलकुल नवीन आधार पर उत्पत्ति का पुन.संगठन प्रारम्भ करे।

इसी प्रकार हमारी दृष्टि मे काम करने का वास्तविक और व्यावहारिक मार्ग यही होगा कि लोग विद्रोही प्रदेशो की सारी भोजन-सामग्री पर तत्काल अधिकार करले । उस सारी सामग्री का पूरा-पूरा हिसाब रक्खा जावे, ताकि उस मे से थोडे का भी नुकसान न हो, और इस इकट्ठी की हुई शक्ति से हरएक व्यक्ति विपत्ति-काल को पार करने योग्य हो जावे। उसी समय के बीच, कारखानो के काम करने वालो से एक समझौता करना होगा। उन्हे आवश्यक कच्चा माल देना होगा। उन्हे जीवन-निर्वाह

के साधन मिलने का विश्वास कराना होगा, और वे किसानों की ज़रूरत की चीजें तैयार करने का काम करेंगे। अन्त मे, पडतभूमि को जोकि बहुत है, खूब उपजाऊ बनाना पडेगा, कम उत्पन्न करने वाली भूमि को अधिक-उत्पन्न करनेवाली बनाना पडेगा, और अच्छी जमीन भी जो चौथाई या दसमांश उपज भी नही देती उसको क़ीमती बाग या फूलो की क्यारी की तरह मेहनत से जोतकर तैयार करना पडेगा। और किसी तरह इस गुत्थी को सुलझाने का उपाय ख़याल मे ही नही आ सकता। हम चाहे या न चाहे, परिस्थिति बलात् यही कराकर छोडेगी।

३

वर्तमान पूंजीवाद की सबसे प्रधान विशेषता है मज़दूरी-प्रथा। वह संक्षेप मे इस प्रकार है—

किसी आदमी या कई आदमियो के पास मिलकर पूंजी होती है। वे लोग कोई औद्योगिक कारबार शुरू करते है। कारख़ानो को कच्चा माल देने का भार भी वही ले लेते है और उत्पत्ति का प्रबन्ध भी वही करते है। काम करने वालो को तो बँधी हुई मज़दूरी दे देते है और मुनाफा सारा खुद हडप कर जाते है। इसके लिए बहाना यह किया जाता है कि कारबार का प्रबन्ध करना, इसकी सारी जोखम उठाना और माल की बढती-घटती कीमत का जिम्मा लेना, यह सब भी तो हम को ही करना पडता है।

इस प्रथा को बनाए रखने के लिए पूजी पर वर्तमान एकाधिकार रखने वाले लोग कुछ रिआयत देने को भी तैयार हो जावेगे। उदाहरण के लिए वे श्रमजीवियो को लाभ का कुछ भाग देना मजूर कर लेगे, अथवा महगाई के समय मजदूरी बढा दिया करेगे। सार यह, कि यदि उन्हे कारखाने अपने हाथ मे रखने और उनके अच्छे-अच्छे फल खा लेने दिया जाय, तो वे थोडा सा त्याग करना भी स्वीकार कर लेगे।

हम जानते है कि समष्टिवाद (Collectivism) मजदूरी-प्रथा को मिटाता नही है, हाँ, वर्तमान व्यवस्था मे वह बहुत कुछ

सुधार सुझाता है। समष्टिवाद के अनुसार कारखानेदार नहीं रहेंगे, राज्य या प्रतिनिधि-शासन रहेगा। राष्ट्र के प्रतिनिधि या साम्यवादी ग्रामों के प्रतिनिधि और उनके सहकारी या अधिकारी लोग ही उद्योग-धन्धों का सचालन करेंगे। बचे हुए माल को—सबके हित के लिए लगा देने का हक भी ये लोग अपने ही पास रक्खेंगे। इसके अतिरिक्त समष्टि-वाद मजदूर और कारीगर के बीच एक बडा सूक्ष्म परन्तु महत्व-पूर्ण भेद करता है। समष्टि-वादी की दृष्टि मे मजदूर का काम 'साधारण' श्रम है। परन्तु एक कारीगर, यन्त्र चलाने-वाला, इंजीनियर, विज्ञानवेत्ता आदि का काम वह काम है जिसे मार्क्स ने 'जटिल काम' कहा है और इसलिए उसका वेतन भी ऊचा होना चाहिए। परन्तु मजदूर और कारीगर, बुनकर और विज्ञानवेत्ता, सभी राज्य के वेतन-भोगी नौकर है।

४

परन्तु आगामी क्रान्ति से यदि सब प्रकार की मजदूरी या वेतन की प्रथा मिट जाय और ऐसे समाजवाद की स्थापना हो जाय जिसमे इस प्रकार की गुलामी की गुजायश ही न रहे तो मनुष्य-समाज की इससे बडी और क्या सेवा हो सकती है?

यह मान लेने पर भी कि सम्पन्नता और शान्ति के समय मे वर्तमान व्यवस्था में समष्टि-वादी सुधार धीरे-धीरे किया जा सकता है तथापि क्रान्ति के उस काल मे जबकि युद्ध के प्रथम आह्वान के साथ लाखो भूखे लोगो को खिलाने की आवश्यकता खडी हो जायगी, तब तो इस प्रकारं का सुधार करना असम्भव हो जायगा। उद्योग-धन्धो की जडों को हिलाये बिना राजनीतिक क्रान्ति तो हो सकती है, परन्तु जिस क्रान्ति में लोग सम्पत्ति पर हाथ डालेगे उसमे सारा व्यापार और सारी उत्पत्ति बंद हुए बिना नहीं रह सकती। सार्वजनिक कोष मे आने वाला करोडो का धन लाखो बेकारो को मजदूरी चुकाने के लिए नाकाफ़ी होगा।

इस बात पर जितना ज़ोर दिया जाय उतना ही थोडा है। नये आधार पर उद्योग-धन्धो का पुनःसंगठन केवल कुछ दिनो मे पूरा नही हो सकता। और, न लोग मज़दूरी-प्रथा के समर्थन करने वाले सिद्धान्त-वादियो पर कृपा करके वर्षों तक आधे पेट भूखे रहना स्वीकार करेंगे। तंगी के समय को पार करने के लिए, उनकी वह मांग होगी जो ऐसे अवसरो पर सदा हुआ करती है। वे चाहेगे कि भोजन-सामग्री सार्वजनिक सम्पत्ति बनादी जाय, और उसमें से लोगो को रसद बांट दी जाया करे।

धैर्य का उपदेश देना व्यर्थ होगा। लोग धैर्य नहीं रख सकेंगे। यदि भोजन नही मिलेगा तो वे रोटी के कारखानो को लूट लेंगे।

पश्चात्, यदि लोग सफल न हो सके, तो वे गोलियो से मार दिये जायंगे, और समष्टिवाद के लिए मैदान साफ कर दिया जायगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार 'व्यवस्था' क़ायम करनी पडेगी। और अनुशासन और आज्ञापालकता लानी पडेगी। जब क्रान्तिकारी कहे जाने वाले लोग ही जनता पर गोलियाँ चलायगे, तो जनता की दृष्टि मे क्रान्ति घृणित हो जायगी। पूंजीपति लोग यह बात शीघ्र ही समझ जायगे। वे अवश्य ही 'व्यवस्था' कायम करने वाले वीरो का समर्थन करेंगे, भले ही वे वीर समष्टिवादी ही क्यो न हो। वे समझेंगे कि इस उपाय से बाद मे हम समष्टिवादियो को भी दबा देंगे। यदि इस विधि से 'व्यवस्था स्थापित हो गई' तो परिणामो का अनुमान करना सरल है। 'व्यवस्था' करने वाले लोग 'लूट करने वालो' को ही मार कर संतुष्ट न हो जायंगे। वे 'भीड के सरगना' लोगो को भी पकडेंगे। वे फिर से न्यायालय स्थापित करेंगे और जल्लाद मुक़र्रर करेंगे। उत्साही-से-उत्साही क्रान्तिकारी लोग फॉसी के तख्ते पर चढा दिये जायंगे। सन् १७९३ की पुनरावृत्ति हो जायगी।

परन्तु सारे लक्षणो से हमे तो यही विश्वास होता है कि लोगो का जोश उन्हे काफी दूर ले जायगा, और जब क्रान्ति होगी तबतक अराजक साम्यवाद के विचार जड पकड लेंगे। ये विचार बनावटी नहीं है। लोगो ने स्वय ही इन विचारो को प्रकट किया है। और, जैसे-जैसे यह

मालूम होता जाता है कि इसका दूसरा उपाय नही है वैसे-वैसे-ही समाजवादी लोगो की संख्या निरन्तर बढती जाती है।

यदि लोगो की लगन काफी प्रबल होगी तो परिस्थिति बिलकुल दूसरी ही होगी। विप्लवकारी नगरो के लोग ऐसा नही करेंगे कि पहले दिन तो रोटी वालो की दूकानो को लूट लें और दूसरे ही दिन भूखो मरे। बल्कि, वे गोदामो पर, पशुओ की मंडियो पर,—वास्तव मे खाने की चीज़ो के सारे भण्डारो पर और समस्त प्राप्य भोजन पर अधिकार कर लेंगे। भले-भले नागरिक, स्त्रियां और पुरुष, अपने स्वयंसेवक दल बना लेंगे और सारी दूकानो और गोदामो की चीजो की एक सरसरी मामूली फर्द बनाने के काम मे जुट जायगे।

यदि ऐसी क्रान्ति पेरिस मे हुई तो खाद्य-सामग्री का परिणाम जनता को चौबीस घण्टे मे ही मालूम हो जायगा, जोकि गणना-कमेटियो के होते हुए भी आज उसे मालूम नही है और जिस बात का पता नगर को १८७१ के घेरे मे न लग पाया था। अडतालीस घटे में तो ऐसे नक्शों की लाखो प्रतियां छप कर बॅट भी जायंगी, जिनमे प्राप्य खाद्य-सामग्री का ठीक-ठीक हिसाब दिया होगा और यह लिखा होगा कि कहां-कहां वे रक्खी है और कैसे-कैसे बांटी जायगी।

हर चाल मे, हर गली में, हर मुहल्ले मे स्वय-सेवको के दल संगठित हो जायंगे। ये सामान पहुँचाने वाले स्वयं-सेवक सरलता से दूसरो से मिलकर और उनसे सम्पर्क रखकर काम कर सकेंगे। केवल उद्दंड राजनीतिज्ञो की तलवारो की बाधा मार्ग मे न आनी चाहिए। अपने को 'वैज्ञानिक' सिद्धान्तवादी कहने वाले लोग अपनी उलटी सलाहे देने को बीच में न पडने चाहिए। वे अपने कूड-मग़ज़ो से निकाल-निकालकर कैसे भी सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते रहे पर उन्हे कोई अधिकार या सत्ता न मिलनी चाहिए। जनता मे संगठन करने की बडी अद्भुत शक्ति है, पर उसे काम मे लाने का इसे कभी अवसर नही दिया गया। उपर्युक्त बाधाएं न आईं तो उसी शक्ति से बडे-से-बडे नगर मे भी और क्रान्ति के मध्य मे भी अवैतनिक कार्य-कर्त्ताओ का एक ऐसा बडा संघ बन जायगा जो सब

लोगो को भोजन पहुँचाने को तैयार हो जायगा।

यदि लोगो को आप स्वतन्त्र छोड दे तो दस दिन मे ही भोजन-प्रबंध बडी नियमबद्धता से चलने लगेगा। जिन्होने लोगो को जी-जान से काम करते कभी नही देखा, जिन्होने दफ्तर के काग़ज़ो मे ही अपना सारा जीवन बिता दिया है, केवल वे ही लोग इस बात मे शंका कर सकते है। घेरे के दिनों मे पेरिस के लोगो ने जिस प्रकार संगठन-शक्ति का परिचय दिया था, और डॉक के मजदूरो की हडताल के समय, जबकि पांच लाख भूखो मरते आदमियो को खिलाना पडता था, लन्दन मे जो संगठन-शक्ति लोगो ने दिखाई थी, उसको देखने वाले लोग बता सकते है कि वह कोरी दफ्तरी योग्यता से कितनी बढ़ी-चढी है।

यदि हम यह भी मानले कि हमे थोडी असुविधा और गडबडी एक पक्ष या एक मास तक सहन करनी भी पड़े, तो भी क्या? साधारण जनता के लिए तो वह हालत उसकी पिछली हालत से अच्छी ही होगी। और फिर क्रान्ति के दिनो मे तो घटनाओं पर गरमागरम बहस करते हुए थोडी छाछ-रोटी खाके भी मनुष्य सन्तोष मान सकता है।

हर हालत मे जिस बात का अनेको कमेटियॉ बनाने वाले अप्रगतिशील सिद्धान्तवादी लोग चहारदीवारियो के बीच बैठ कर आविष्कार करेगे, उसकी अपेक्षा तो सामयिक आवश्यकता से अपने आप निकल आनेवाली व्यवस्था हजार दर्जे अच्छी होगी।

बडे नगरो के लोगो को तो सारे नागरिको की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए परिस्थिति से बाधित होकर सारी खाद्य-सामग्री पर कब्ज़ा करना पडेगा, पहले परम आवश्यक वस्तुओं पर, फिर दूसरी वस्तुओ पर। यह काम जितनी जल्दी होगा उतना ही अच्छा होगा; लोगो की उतनी ही कम दुर्दशा होगी और झगडा भी कम होगा।

परन्तु समाज को किस आधार पर संगठित करना चाहिए जिससे भोजन की वस्तुओ का उचित भाग सबको मिल सके? यही प्रश्न हमारे सामने पहले आता है।

हमारा उत्तर तो यह है कि इसके दो भिन्न उपाय नही हो सकते।

साम्यवाद (कम्यूनिज्म) को ठीक तरह से स्थापित करनेवाला और हमारी न्याय-बुद्धि को सन्तुष्ट करने वाला एक ही मार्ग है। यही व्यावहारिक भी है। यह वही तरीका है जिसे आज भी यूरोप की देहाती पंचायतो ने ग्रहण कर रक्खा है।

उदाहरण के लिए किसी जगह के एक कृषक गॉव को लीजिए। फ्रांस की ही मिसाल लीजिए, जहॉ कि उद्दण्ड राजनीतिज्ञो ने सारे पंचायती रिवाजो को मिटाने की भरसक कोशिश की है। यदि गांव की हद्मे जलाने की लकडी है तो जबतक सबके लिए भरपूर लकडी रहेगी तबतक हर एक आदमी चाहे जितनी ले सकता है। उनको अपने पडोसियो के लोक-मत के अतिरिक्त अन्य कोई रोक-टोक नही होती। काम की लकडी तो सदा थोडी ही होती है, इसे वे सावधानी से आपस मे बांट लेते है।

पचायती चारागाह की भी ऐसी ही बात है। जबतक चरने को खूब है तबतक एक घर के कितने पशु चरते है या भूमि पर कितने पशु चरते है, इसकी कोई सीमा नही बधती। जबतक कि कमी न मालूम पडे तबतक चरोखर भूमि बॅटती नही है, और न चारा ही बॅटता है। स्वीज़रलैण्ड के सारे गावो मे और फ्रास और जर्मनी के हजारो गॉवो मे जहां-जहा पचायती चारगाहे है वहॉ-वहॉ यही प्रथा है।

पूर्वीय यूरोप के देशो मे, जहां बडे-बडे जंगल है, और जमीन की कमी नहीं है, आप देखेंगे कि जिसको जब आवश्यकता होती है, पेड काट लाता है और किसान जितनी भूमि चाहते है, जोत लेते है। इस बात का खयाल नहीं किया जाता कि लकडी मे या ज़मीन मे किसका कितना हिस्सा है। परन्तु ज्योही लकडी या ज़मीन दोनो मे से किसी की कमी मालूम होती है त्योही प्रत्येक परिवार की आवश्यकता के अनुसार बटवारा कर लिया जाता है। रशिया मे पहले से ही यही होता है।

संक्षेप मे प्रणाली यह है कि समाज के पास जो चीज बहुतायत से है उसके विषय मे कोई सीमा या बन्धन नही है, परन्तु जिन चीज़ो की कमी है या कमी हो जाने की सम्भावना है, उनका समान विभाग कर लिया जाता है। यूरोप के ३५ करोड निवासियो मे से २० करोड आदमी

तो स्वाभाविक समाजवाद की इस प्रणाली पर चलते है।

बड़े कस्बो मे भी कम-से-कम एक चीज़ ऐसी है जो बहुतायत से पाई जाती है। वह चीज़ है पानी। उसके विषय मे भी यही प्रणाली प्रचलित है।

जबतक पानी के कम पडने का भय नही होता तबतक कोई भी कम्पनी किसी घर मे पानी के ख़र्च को रोकना नही चाहती। जितना चाहिए उतना लीजिए। परन्तु अनावृष्टि की अवस्था मे यदि पानी के कम पडने का भय होता है, तो कम्पनियाँ सिर्फ इतना करती हैं कि समाचार-पत्रो मे एक छोटे विज्ञापन द्वारा इस बात की सूचना जनता को दे देती है, और नगरवाले पानी का ख़र्च कम कर देते है। वे उसको व्यर्थ नष्ट होने नही देते। परन्तु पानी यदि वास्तव मे कम हो जावे तो क्या किया जायगा? उस समय निश्चित परिमाण मे पानी देने की प्रणाली काम मे लाई जायगी। यह उपाय इतना स्वाभाविक है और साधारण-बुद्धि मे इतना जमा हुआ है कि १८७१ के दोनो घेरो मे पेरिस ने दो बार इस प्रणाली को खुद अपनाया था।

यह दिखाने के लिए कि पानी या भोजन बाँटने की प्रणाली किस प्रकार चलेगी और यह सिद्ध करने के लिए कि वह वर्तमान अवस्था से बहुत ही अधिक न्यायपूर्ण और निष्पक्ष होगी, तफ़सीलवार नक्शो को तैयार करने की जरूरत नही है। ये सारे नक्शे और तफसीले उन लोगो को विश्वास नही दिला सकती, जो मध्यमवर्ग के है, या जो मध्यमवर्ग के विचारों को रखनेवाले श्रमजीवी है और जो यह समझते है कि यदि कोई व्यवस्थापक सरकार न रहेगी तो लोग एक-दूसरे पर टूट पडेगे या जंगली मनुष्यो की भाति एक-दूसरे को खा जायंगे। यदि साधारण जनता के हाथ में परिस्थिति आजावे तो वह पूर्ण इन्साफ और निष्पक्षता से भोजन का बँटवारा कर सकेगी या नही, यह आशंका उन्ही लोगो को रहेगी जिन्होने कभी उसे स्वयं निश्चय करते और तदनुसार काम करते हुए नही देखा है।

जनता की किसी सभा मे यदि आप अपनी यह राय प्रकट करे कि नफीस खाने तो अकर्मण्य अमीरो की लोलुप जिह्वा के लिए रहे और अस्पताल के बीमारो को काली रोटी दी जावे, तो आपको धुतकार मिलेगी। परन्तु उसी सभा मे और गली-कूचो और बाज़ार-हाटो मे यदि आप यह कहे कि सब से उम्दा खाने बीमारो और कमजोरो के लिए—विशेषतः बीमारो के लिए रहे। बीमारो के बाद बालको की बारी है। यदि सबके लायक गायो और बकरियो का दूध न हो तो वह भी बच्चो के लिए ही रक्खा जावे। यदि समाज बिलकुल हीन-दशा को ही पहुँच गया हो तो घी-दूध बालको और बूढो को दिया जाय, और मज़बूत आदमी को सूखी रोटी मिला करे।

संक्षेप मे, आप यह कहिए कि यदि कोई वस्तु कम रह जायगी और उसका बँटवारा करना होगा, तो वह उनको अधिक दी जायगी जिनको अधिक आवश्यकता होगी। यह कह कर देख लीजिए। आपकी बात सब मान लेंगे।

जिस आदमी का पेट खूब भरा हुआ है वह इन बातो को नही समझ सकता। परन्तु जनता इनको समझती है और उसने सदा समझा है। विलासिता मे पला हुआ व्यक्ति भी यदि ग़रीब होकर मारा-मारा फिरने लगे, और जनता के सम्पर्क मे आवे तो वह भी समझने लगेगा।

जिन सिद्धान्तवादी लोगो के लिए सैनिक की वर्दी और छावनी का रसोईघर ही सबसे बडी सभ्यता है, वे तो नि.सन्देह राष्ट्रीय रसोईघरो की भरमार करना चाहेंगे। वे यही बतायेंगे कि यदि बडे-बडे रसोईघर कायम हो जायँ और वहीं सब लोग अपना-अपना रोटी-शाक लेने आवें, तो उससे बहुत लाभ होंगे और ईंधन और भोजन की बडी बचत होगी।

हमें इन लाभो के विषय में सन्देह नही है। हम खूब जानते हैं कि जबसे हर एक घर मे अलग-अलग चूल्हा और अलग-अलग चक्की का रिवाज़ उठ गया तबसे बडी मितव्ययिता हुई है। हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि सौ जगह अलग-अलग चूल्हा न जला कर एक ही जगह सौ परिवारों के लिए शाक बना लेने मे अधिक किफायत है। हम यह भी

जानते हैं कि आलू बनाने के सैकडो तरीके हैं। परन्तु यदि सौ परिवारो के लिए एक ही बडे बर्तन मे वे उबाल लिए जायं तो भी उतने ही अच्छे बनेंगे।

वास्तव मे खाना पकाने के विविध भेद तो इसलिए हैं कि रसोइये या गृह-पत्नियाँ अलग-अलग ढङ्ग से मसाले और बघार देती हैं। फिर भी यदि एक मन आलू एक ही जगह बन जाँय तो रसोइयो या गृहपत्नियो को अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार उसी को विशेष प्रकार से बनाने से कौन रोकेगा ?

परन्तु इन सब बातो को जानते हुए भी, हम यह भी जानते है कि यदि कोई गृहपत्नी अपने ही चूल्हे पर अपने ही बर्तन मे अपने आलू पकाना चाहती है तो उसे पंचायती रसोईघर से ही आलू लेने को बाध्य करने का अधिकार किसी को नही है। और सबसे बडी बात तो हम यह चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कुटुम्ब के साथ या अपने मित्रो के साथ या उसे पसन्द आवे तो होटल मे भी जाकर भोजन करने की स्वतन्त्रता रहे।

वर्तमान समय के होटलो के स्थानो पर, जहाँ आजकल लोगो को विषैला भोजन खिलाया जाता है, अपने आप बडे-बडे सार्वजनिक रसोई-घर खडे हो जाँयगे। जब भविष्य की पञ्चायती पाकशालाएँ स्थापित हो जायँगी और जब लोगो को न तो धोखा दिया जायगा, न दूषित पदार्थ खिलाये जायँगे और उन्हे अपना भोजन वहाँ पकवाने का सुभीता हो जायगा तब भोजन की मूल वस्तुओ के लिए वहीं जाने का रिवाज साधारण हो जायगा, केवल अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उन चीजो का मसाले आदि मिला कर अन्तिम संस्कार करने का ही काम रह जायगा।

परन्तु इस विषय मे कठोर नियम बनाना कि सबको वहां से पका-पकाया भोजन ही लेना चाहिए, हमारे आधुनिक विचारो को उतना ही बुरा लगेगा जितना कि मठो या छावनियों में रहने का विचार बुरा लगता है। यह तो अत्याचार या मिथ्याविश्वास से प्रभावित दिमाग़ो से निकला हुआ रद्दी विचार है।

न हारनी चाहिए।

इसमें तो सन्देह करने की गुंजायश नहीं है कि भविष्य में जो क्रांति होगी वह पहले की क्रान्तियो से बढ़ कर होगी। इंगलैण्ड की सत्रहवीं शताब्दी की क्रान्ति मे इंगलैण्ड ने एक प्रहार मे राजा की सत्ता और भूमिपतियो की शक्ति मिटा दी थी। अब इनका थोडा-थोडा प्रभाव आज भी कुछ बचा है। फिर भी फ्रान्स की अठारहवी शताब्दी की क्रान्ति उसकी अपेक्षा आगे बढी हुई थी।

इन अनुमानो को हम केवल अनुमान ही समझते है। फिर भी हम सरलता से यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि यूरोप की भिन्न-भिन्न जातियों मे क्रान्ति भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करे, सम्पत्ति के सामाजिक बना लेने मे सब जगह एक-सी सफलता न होगी।

तो क्या इस आन्दोलन की अग्रगामी जातियो को पीछे रह जाने वाली जातियों के साथ-साथ बँधे रहना आवश्यक होगा? क्या हमको तबतक रहना पडेगा जबतक कि सारे सभ्य देशो मे समाजवादी क्रान्ति की तैयारी न हो चुके? बिलकुल नही। यदि ऐसा करना भी चाहे तो भी संभव नही है। इतिहास पिछडे हुओ के लिए नही ठहरा करता।

कुछ साम्यवादी लोगो की यह कल्पना है, परन्तु हमे विश्वास नही होता कि क्रान्ति एकदम ही, एक ही निमिष मे हो जायगी। यह बहुत सम्भव है कि यदि किसी देश के बडे नगरो मे से एक नगर भी समाजवादी संगठन की घोषणा करे तो अन्य नगर और कस्बे वैसा ही करेंगे। सम्भवत बहुत से खानोवाले प्रदेश या औद्योगिक केंद्र भी 'स्वामियो' या मालिको से अपना पिण्ड छुडा कर अपने स्वाधीन समुदाय बना लेंगे।

परन्तु बहुत से देहाती भाग इतने आगे बढे हुए नही होते। क्रान्ति कर डालनेवाले नगरो के साथ-ही-साथ ऐसे स्थान प्रतीक्षावृत्ति मे रहेंगे और व्यक्तिवाद-प्रणाली पर चलते रहेंगे। जब तहसीलदार या कर वसूल करने वाले का आना बन्द हो जायगा, तो ये कृषक क्रान्तिकारियो के विरोधी न रहेंगे। इस प्रकार नई व्यवस्था से लाभ उठाते हुए ये लोग स्थानीय

लुटेरे पूँजीवालो का हिसाब चुकाने मे भी टालमटोल करेंगे। परन्तु कृषकों के विप्लवो मे सदा एक विशेष व्यावहारिक जोश हुआ ही करता है। उसी जोश के साथ ये भूमि को जोतने के काम मे लग पडेंगे, क्योकि करो और रहन के भार से मुक्त हो जाने पर ज़मीन उन्हे और भी प्यारी हो जायगी।

दूसरे देशो मे भी सब जगह क्रान्ति होगी, परन्तु भिन्न-भिन्न स्वरूपो मे। किसी देश मे राज्य रहेगा और उत्पत्ति के साधन उसके अधीन रहेंगे। कही छोटे-छोटे राज्यो का संघ बन जायगा। परन्तु सब स्थानों पर होगा किसी न किसी अंश मे साम्यवाद ही। वह सब जगह एक ही नियम के अनुकूल न होगा।

६

अब हमें क्रान्ति की अवस्था वाले नगर के उदाहरण पर फिर वापिस आजाना चाहिए और इस बात पर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार नगरवासी अपने लिए खाद्य-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। यदि सारे राष्ट्र ने ही समाजवाद स्वीकार न किया हो तो आवश्यक सामग्री किस प्रकार मिल सकेगी? इसी समस्या को हल करना है। फ्रांस के किसी बडे नगर मसलन् राजधानी का ही उदाहरण लीजिए। पेरिस प्रतिवर्ष हज़ारो मन ग़ल्ला, चार लाख बैल, तीन लाख बछुडे, चार लाख सुअर, बीस लाख से अधिक भेडे और कई प्रकार की शिकारे अपने खाने के काम मे लेता है। इसके अतिरिक्त यह नगर २० लाख पाउण्ड से अधिक मक्खन, २० करोड अण्डे और इसी हिसाब से दूसरी चीजे खा जाता है।

यह अमेरिका, रूस, हंगरी, इटली, मिश्र और भारतीय महासागर के द्वीप-समूह से आटा और गल्ला मंगाता है, खाद्य-मॉस के वास्ते जर्मनी इटली, स्पेन, रूमानिया और रूस तक से पशु मंगाता है और किराने की चीज़े तो संसार के सब देशो से थोडी बहुत आती है।

अब यह देखना चाहिए कि देश की पैदावार से ही पेरिस या अन्य बडे नगर को ख़ूराक फिर से कैसे पहुँचाई जा सकती है। और वह भी

इस तरह से कि प्रान्तो के लोग जल्दी और खुशी से भेजें।

जो लोग 'सत्ता' मे विश्वास रखते है उन्हे तो यह प्रश्न बडा सीधा दिखाई देगा। वे पहले एक दृढ केन्द्रीय सरकार को कायम कर लेगे, जिसके पास पुलिस, फौज, फांसी, आदि सारे दमनास्त्र मौजूद हो। यह सरकार फ्रान्स के सारे माल की फहरिस्त तैयार करेगी। सारे देश को सामग्री-प्राप्ति के वास्ते कई विभागो मे विभाजित करेगी और 'आज्ञा' देगी कि इतनी-इतनी भोज्य-सामग्री, इस स्थान पर, इस दिन, इस स्टेशन पर पहुँच जानी चाहिए। वहां एक विशेष अधिकारी मौजूद रहेगा, जो उस सामग्री को लेगा और विशेष भण्डार मे इकट्ठा करके रक्खेगा।

हम तो पूर्ण विश्वास के साथ कहते हैं कि यह उपाय न केवल अवाञ्छनीय ही है, किन्तु इसको व्यवहार मे लाना भी असम्भव है। यह अत्यन्त ही काल्पनिक है।

लिखने बैठे तो कोई भी व्यक्ति बैठ कर ऐसे स्वप्न देख सकता है। परन्तु वास्तविकता के सामने ये टिक नही पाते—१७९३ मे ऐसा सिद्ध हो चुका है। इस सिद्धान्त मे भी इस बात को भुला दिया गया है कि मनुष्य में स्वतन्त्रता की एक वृत्ति हुआ करती है। इस प्रयत्न का परिणाम यह होगा कि तीन-तीन चार-चार कोस दूर पर ही सर्वत्र विप्लव हो जायगा, नगरो के विरुद्ध ग्राम विद्रोह कर देंगे। यदि नगर इस प्रणाली को देश पर लादने की मूर्खता करेंगे तो सारा देश शस्त्र उठा लेगा।

अब तक उद्दण्ड कल्पनाएं तो बहुत हो चुकी हैं। हमें विचारना चाहिए कि और भी किसी प्रकार का उपयोगी संगठन काम दे सकता है या नही।

महान् राज्य-क्रान्ति के दिनो मे, फ्रान्स में प्रान्तो ने बडे नगरो को भूखो मार दिया था, और क्रान्ति का नाश कर दिया था। फिर भी सन् १७९२–३ मे फ्रान्स मे अनाज की फ़सल घटी न थी, बल्कि प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि वह बढ़ी थी। परन्तु जमीदारो की जमीन पर क़ब्ज़ा पाने के बाद और फ़सल काट लेने के बाद कृषक लोग काग़ज़ी

रुपये के बदले मे अनाज देने को तैयार न हुए। इस आशा से कि या तो क़ीमत बढे या सोने का सिक्का चले, उन्होंने अपना माल रोक लिया। राष्ट्रीय अस्थायी सरकार ने कठोर-से-कठोर उपाय काम मे लिये, पर सब निष्फल हुए। फॉसियो से भी कोई परिणाम न हुआ। किसान अपना अनाज बेचने को बाधित न किये जा सके। अस्थायी सरकार के प्रतिनिधियो ने बाज़ार मे अनाज न लाने वालो का और सट्टा करने वालो का बडी निर्दयता से बध किया। फिर भी अन्न प्राप्त न हुआ, और नगर-वालो को दुष्काल के कष्ट झेलने पडे।

परन्तु कृषको को उनकी कठिन मेहनत के बदले मे कौनसी चीज़ दी गई थी? उन्हे वादे के नोट दिये गए। पर उनकी कीमत तो घटती ही चली गई। चालीस पाउण्ड का नोट देकर जूते का जोडा भी न मिलता था। जिस कागज़ के टुकडे से एक कुरता भी न खरीदा जा सके, उसके बदले मे किसान अपनी साल भर की कमाई कैसे दे सकता था?

जबतक निकम्मा कागज़ी रुपया किसान को मिलेगा तबतक सदा ऐसा ही हाल होगा। देश अपना माल रोक रक्खेगा, और कस्बो मे उसकी कमी पडती रहेगी। चाहे हुकुम-उदूली करने वाले किसानो को पूर्ववत् फॉसियो पर ही चढा दिया जाय।

हमे चाहिए किसान को उसकी मेहनत के बदले मे निकम्मे नोट न देकर उसकी परम आवश्यकता की चीजे बना कर दे। उसके पास खेती के अच्छे औजार और सर्दी-गरमी से ठीक बचाव करने वाले कपडे नही है। उसके पास रद्दी चिमनी या दिया है, लैप और तेल नही है। उसके पास फावडा, पचॉगुरा और हल नही है। आजकल इन चीजो के बिना उसे काम चलाना पडता है। यह बात नही है कि वह इनकी ज़रूरत नही समझता। बात यह है कि उसका गुज़ारा बडे दु:ख-सुख और मुश्किल से होता है। हजारो उपयोगी चीज़े उसके बूते से बाहर हैं। बेचारे के पास उन्हे खरीदने के लिए पैसा ही नही है।

शहरो को चाहिए कि अमीर लोगो की स्त्रियो के वास्ते तडक-भड़क की चीजे न बनवा कर शीघ्र ही उन सब चीज़ों के बनाने मे लग जायं,

जिनकी किसान को जरूरत है। पेरिस की सीने की मशीनें ग्रामीण लोगो के लिए कपडे सीने मे लग जायं। इंग्लैण्ड और रूस के जमींदारों या अफ्रीका के करोडपतियो की स्त्रियों के लिए कीमती पोशाक के बनाने की जरूरत नही है। मजदूरो के लिए काम पर जाने के और छुट्टी के दिन के कपडे तैयार करने चाहिए।

यह ज़रूरत नही कि शहरो से गाँवो मे लाल-नीले या पचरंगे पट्टे लगाये हुए इन्स्पेक्टर भेजे जांय और यह हुक्म दिया जाय कि किसान अपना-अपना माल इस-इस मुकाम पर भेजे। बल्कि आवश्यकता तो यह है कि ग्रामीणो के पास मित्रतापूर्ण संदेश भेजे जायं और उनसे भाइयो की तरह कहलवाया जाय कि "तुम अपना माल हमे लादो, और हमारे भाण्डारो और दूकानो से जैसा चाहिए तैयार माल तुम ले जाओ।" तब तो खाने-पीने की चीजें सब ओर से आने लगेंगी। किसान केवल उतना माल रोक रक्खेगा जितना कि उसको अपने लिए आवश्यक होगा, और बाकी सब शहरों को भेज देगा। वह इतिहास-काल मे पहली ही बार यह अनुभव करेगा कि शहरो के मज़दूर उसके साथी और उसके भाई हैं, उसको लूटनेवाले नही हैं।

शायद लोग यह कह सकते है कि इसके लिए कारखानो की तो काया पलट ही कर देनी पडेगी। हाँ, कई विभागों मे तो पूरा परिवर्तन ही करना पडेगा। परन्तु कुछ कारखाने तो थोडे सुधार से ही किसान के लिए ऐसे कपडे, घडियाँ, फर्नीचर और साधारण औज़ार बनाने लगेंगे, जिनके लिए आज उसे बहुत मंहगे दाम देने पडते हैं। जुलाहे, दर्ज़ी, मोची, लुहार, बढई और कारीगर और धंधोवाले तो सरलता से उपयोगी और आवश्यक वस्तुएं बनाने लगेंगे, और केवल विलास की वस्तुएं बनानां बन्द कर देंगे। आवश्यकता केवल इस बात की है कि जनता यह अच्छी तरह समझले कि उद्योग-धंधों की शकल बिल्कुल बदल देना ज़रूरी है, और ऐसा करने मे किसी के साथ अन्याय नही है और समाज की उन्नति है। सिद्धान्तवादी लोग अक्सर यह भ्रम फैलाया करते है कि यदि उत्पत्ति और व्यापार आजकल की तरह

व्यक्तियो के ही हाथ मे रहे और समाज सिर्फ मुनाफा ले लिया करे तो इस ढग की क्रान्ति से भी काम चल जायगा। परन्तु जनता को इस धोखे मे नही आना चाहिए।

हमारा मत तो इस सारे प्रश्न पर यह है कि किसान को काग़ज़ के टुकडो से धोखा मत दीजिए—चाहे उन काग़ज़ो पर कितनी ही रकम क्यो न लिखी हो। परन्तु उसको माल के बदले मे वही 'वस्तुएं' तैयार करके दीजिए जिनकी उसे खेती के लिए जरूरत है। तभी खेतो की पैदावार शहरो मे खूब आने लगेगी। यदि ऐसा न किया जायगा तो शहरों मे दुष्काल हो जायगा। फिर निराशा भी उसके पीछे-पीछे चली आयगी और सम्भव है कि पलड़ा ही उलट जाय।

७

हम बता चुके है कि बडे-बडे नगर ग़ल्ला, आटा और खाद्य-मॉस न केवल अपने देहात से ही बल्कि बाहर से भी मंगाते है। अन्य देश पेरिस को मसाले, मछली और ज़ायके की तरह-तरह की चीज़े तो भेजते ही है, पर बहुत-सा गल्ला और मॉस भी भेजते हैं।

परन्तु क्रान्ति के समय बाहर के देशो के सहारे न रहना चाहिए। यद्यपि रूस का गेहूँ, इटली या भारत का चावल, स्पेन या हंगेरी की शराबें पश्चिमी यूरोप के बाजारो में बहुतायत से मिलती है, पर इसका कारण यह नही है कि वहॉ चीजो की अत्यधिकता है या ये जंगल में अपने आप घास-फूँस की तरह उग आती है। उदाहरण के लिए रूस मे किसान प्रतिदिन काम करता है और प्रति वर्ष तीन से छः मास तक आधा पेट भूखा रहता हैं। यह उसे इसलिए करना पडता है कि वह अपना अनाज विदेशो को भेज कर उसकी क़ीमत से जमींदार और राज्य का कर चुका सके। वहां आजकल ज्योही फसल कट चुकती है, त्योही गॉव मे पुलिस आजाती है और उसके सारे घोडो और सारी गायों को सरकारी कर तथा ज़मींदार के लगान का बकाया चुकाने के वास्ते बेच देती है। बेचारा किसान व्यापारी के हाथ अपना ग़ल्ला बेच कर स्वयं ही अपना बलिदान

कर दे तो यह नौबत नहीं आती। साधारणत. यह होता है कि वह नुकसान उठाकर अपने पशु नहीं बेचता। वह नौ महीने तक खाने लायक अन्न रख लेता है और शेष बेच देता है। फिर आगामी फ़सल तक गुज़ारा करने के लिए वह, यदि फ़सल अच्छी हुई तो, तीन मास तक और यदि फ़सल खराब हो तो छ. मास तक, अपने आटे मे छाल मिला-मिला कर काम चलाता है। और उधर लन्दन मे लोग उसी के भेजे हुए गेहूँ के शकरपारे (बिस्कुट) बना-बनाकर खाते है।

परन्तु क्रान्ति के होते ही रूस का किसान अपने और अपने बच्चो के लायक काफी अन्न रख लेगा। इटली और हंगेरी के किसान भी ऐसा ही करेंगे। हमे आशा करनी चाहिए कि भारतीय किसान भी यही शिक्षा ग्रहण करेंगे। और अमेरिका के किसान सारे यूरोप के गल्ले की कमी को पूरा न कर सकेंगे। इसलिए यह समझना व्यर्थ है कि इन देशो से जितना गेहू या जितनी मक्का आयगी उससे आवश्यकता पूरी हो जायगी।

मध्यमवर्ग की हमारी सारी सभ्यता तो नीचे दर्जे की कौमो और कम उद्योग-धन्धोवाले देशो की लूट पर निर्भर है। इसलिए क्रान्ति उठते ही उस 'सभ्यता' को नष्ट कर देगी और नीचे दर्जे की कही जाने वाली जातियो को स्वाधीन बनने का अवसर देगी। उन जातियो के लिए तो क्रान्ति एक वरदान होगी।

परन्तु इस महान् लाभ का परिणाम यह होगा कि पश्चिमी यूरोप के बडे-बडे शहरो मे खाद्य-सामग्री का आना निरन्तर घटता ही जायगा।

देहात का क्या हाल होगा, यह नही कहा जा सकता। एक ओर तो कठोर परिश्रम करने वाला किसान क्रान्ति का लाभ उठाकर अपनी झुकी हुई कमर को सीधा करेगा। आजकल की तरह दिन में चौदह या पन्द्रह घन्टे काम न करके वह केवल उससे आधे समय ही काम करेगा। इसका परिणाम यही होगा कि खाने की मुख्य वस्तुओं—अनाज और मॉस—की उत्पत्ति में कमी हो जायगी।

परन्तु दूसरी ओर ज्योही वह यह समझ जायगा कि उसे अपने श्रम से निठल्ले अमीरों का पोषण नही करना है, तो उत्पत्ति से फिर वृद्धि हो

जायगी। नई ज़मीन साफ करली जायगी। नई और बढ़िया मशीनें चलने लगेगी।

फ्रान्स की महान् राज्यक्रान्ति का वर्णन करते हुए, मिचेलेट कहता है कि "१७६२ मे जबकि किसानो ने जमींदारो से अपनी प्यारी ज़मीन लेली थी तो उस वर्ष खेती बडे उत्साह से की गई। उससे पहले किसानो मे इतना उत्साह कभी नही हुआ था।"

थोडे ही समय मे, थोडी ज़मीन मे घनी खेती करना सब लोगो को सुलभ हो जायगा। बढिया मशीनें, रासायनिक खाद, और ऐसी ही चीजें शीघ्र ही पचायत की ओर से दी जाने लगेगी। परन्तु प्रत्येक लक्षण से अनुमान यही होता है कि प्रारम्भ मे तो फ्रांस आदि देशो मे खेती की पैदावार कम ही होगी।

हर हालत मे यही समझना अच्छा होगा कि देहात और विदेश दोनो से आनेवाले माल की कमी होगी। इस कमी को किस तरह पूरा किया जायगा ?

इस तरह, कि हम खुद काम करने लग जायं। जब इलाज हमारे हाथ मे ही है तो दूर-दूर दवाइयाँ ढूंढने मे सिर खपाने की क्या ज़रूरत ?

बडे शहरो को चाहिए कि वे भी गांवो की तरह खेती करने मे लग जायें। जिसे प्राणि-शास्त्र (Biology) मे "कर्तव्यो का एकत्रीकरण" कहा है, उसी पर हमे आजाना चाहिए। पहले श्रम-विभाजन का रिवाज चला अब सब मिल कर मेहनत करें। प्रकृति का काम सर्वत्र इसी तरह चल रहा है।

यह केवल दार्शनिक बात ही नहीं है। परिस्थिति की मजबूरी भी हमे इसी परिणाम पर पहुँचायगी। जब पेरिस यह समझ लेगा कि आठ महीने समाप्त होने पर रोटी की कमी पड जायगी तो वह गेहूँ उत्पन्न करने के काम मे लग पडेगा।

जमीन की तो कमी न पडेगी, क्योकि बडें शहरो के चारो तरफ और खास कर पेरिस के चारो तरफ ही अमीरों के बाग-बगीचे मिलतें है। पेरिस के आस-पास हजारो बीघे जमीन है। यह जमीन दक्षिण रूस के

सूखे मैदान से भी कई गुनी अधिक उपजाऊ हो सकती है। केवल विशेषज्ञ कृषकों की आवश्यकता है। श्रमिकों की भी कमी न रहेगी। जब पेरिस के बीस लाख निवासियों को रूस के जागीरदारों, रूमानिया के बड़े आदमियों और बर्लिन के धनपतियों की स्त्रियों के विलास और शौक के वास्ते काम न करना पड़ेगा, तो वे करेंगे क्या ?

इस शताब्दी में यन्त्र-सम्बन्धी आविष्कार कितने हो चुके हैं ? बड़ी-बड़ी पेचीदा मशीनरी पर भी कितनी बुद्धिमत्ता और विशेषज्ञता के साथ श्रमजीवी काम किया करते हैं ! शहरों में आविष्कारक, रसायनज्ञ और वनस्पतिशास्त्र के अध्यापक भी कितने होते हैं ! वहाँ के बाग़वान कैसे व्यावहारिक वनस्पति-शास्त्रज्ञ हैं ! यन्त्रों को बढ़ाने और परिष्कृत करने का कितना साजो-सामान आज मौजूद है ! और नगर-निवासियों में स्वाभाविक रूप से प्रबन्धशक्ति, साहस और कर्मण्यता भी कितनी अद्भुत है ! जब इतनी बातें मौजूद होंगी तो क्या वहाँ के अराजक समाज की कृषि देहात की रद्दी कृषि से भिन्न न होगी।

थोड़े ही समय बाद भाप, बिजली, सूर्य-ताप, वायु-वेग से भी काम लिया जाने लगेगा। भाप से चलने वाले हल और पटेला खेत की तैयारी का मोटा काम शीघ्रता से कर देंगे, और इस प्रकार अधिक साफ़ और तैयार की हुई जमीन पर साल में एक ही बार नहीं, किन्तु तीन या चार बार तक घनी फसलें की जा सकेंगी। इसके लिए, केवल पुरुष को—और पुरुषों से ज्यादा स्त्रियों को—बुद्धिमत्ता-पूर्वक उसकी देख-भाल करनी पड़ेगी।

इस प्रकार वहाँ के स्त्री-पुरुष और बालक बड़ी प्रसन्नता से विशेषज्ञों से बागवानी की कला सीखते जायँगे, अलग थोड़ी-थोड़ी भूमि पर भिन्न-भिन्न प्रयोग करते जायँगे, बढ़िया-से-बढ़िया और अधिक-से-अधिक माल पैदा करने में एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते जायंगे और खेती के काम में लग जायगे। उन्हें बहुत थकावट या अधिक श्रम तो न होगा, पर उस शारीरिक व्यायाम से ऐसा स्वास्थ्य और बल मिलेगा जो शहरों में मिलना मुश्किल है। उस समय खेती करना इतना अरुचिकर और कष्टदायक श्रम

न रहेगा, बल्कि त्यौहार की भांति आनन्द देने वाली तथा सुख और स्वास्थ की वृद्धि करने वाली चीज़ बन जायगी।

"भूमि कोई भी ऊसर नही है। जैसा किसान, वैसी ही ज़मीन।" वर्तमान कृषिविद्या का यही अन्तिम निर्णय है। ज़मीन से आप रोटी मांगिये, और वह आपको रोटी अवश्य देगी—यदि आपको ठीक तरह मांगना आता हो। यदि किसी बडे नगर के पास छोटा-सा भी इलाका हो, और बाहर से उसके लिए खाद्य-सामग्री न आ सकती हो, तो वह इलाक़ा भी अपने यहाँ की पैदावार से ही उस शहर को पूरी खुराक दे सकता है।

यदि अराजक समाजवाद ठीक तरह से नि.सम्पत्तीकरण शुरू करे तो उसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि एक ही व्यक्ति मे कृषि और उद्योग का सम्मिश्रण हो जायगा। एक ही व्यक्ति को किसान और कारीगर बनना पडेगा।

यदि क्रान्ति केवल उस सीढ़ी तक ही बढ़ आवे तो अन्न के दुष्काल से तो डरने की उसे ज़रूरत न होगी। ख़तरा यदि हो सकता है तो इस बात से कि लोगो मे साहस, विचारो की प्रगतिशीलता और लगन की कमी हो। साहसपूर्ण विचार पहले होने चाहिए, साहसपूर्ण कार्य तो उसके पीछे-पीछे अपने आप आजायगा।

: ६ :

मकान

१

श्रमजीवियो में साम्यवादी विचार बढ़ते चले जा रहे हैं, और उनके विचारो के विकास को देखने वाले लोग जानते है कि घरो की व्यवस्था के विषय मे तो अपने-आप धीरे-धीरे उनका एक खास विचार बंधता जा रहा है। फ्रान्स के बडे-बडे और कई छोटे शहरो मे तो उनका एक प्रकार से यह निश्चत मत ही हो गया है कि मकानात वास्तव में उन लोगो की सम्पत्ति नही है जिन्हे राज्य आजकल मालिक मानता है।

यह विचार लोगो के दिमागो मे अपने आप विकसित हुआ है। घर भी 'व्यक्तिगत सम्पत्ति' है, यह बात तो उन्हे अब फिर समझाई ही नही जा सकती।

मकान आज-कल के मकान-मालिको ने कब बनाये थे ! न जाने कितने मजदूर लकडी का काम करते रहे, ईंट पकाते रहे, कारखानो मे काम करते रहे—तब कही जाकर ये सजे-सजाये सुन्दर मकान खडे हुए है।

जो रुपया मालिक ने ख़र्च किया है वह भी उसकी कमाई का फल नही था। वह उसी प्रकार इकट्ठा किया गया था जिस प्रकार धन इकट्ठा हुआ करता है। श्रमिको को तो उचित से दो-तृतीयांश या केवल आधा वेतन दिया गया, और बाकी अपने पास रख लिया गया।

इसके सिवाय जितना मुनाफा मकान से मालिक उठा सकता है उतना ही उस मकान का मूल्य हुआ करता है। और इसी बात से जो घोर अन्याय हुआ और हो रहा है वह और भी स्पष्ट दीखने लगता है। उसे यह मुनाफा तो इसी कारण होता है कि उसका मकान एक शहर मे बना हुआ है। शहर हजारो मकान का एक ऐसा समुदाय है जिसमे पक्की सडके है, पुल हैं, घाट है और सुन्दर-सुन्दर सार्वजनिक भवन है, जिसमे प्रकाश का बढ़िया प्रबन्ध है और निवासियो को हजारो ऐसी सुख-सुविधाएँ है जो गाँवो मे नही होतो। उस शहर का दूसरे शहरो से आने-जाने और ख़बर-रसानी का अच्छा सम्बन्ध है। वह स्वयं उद्योग-धन्धो, व्यापार, विज्ञान और कला का केन्द्र है। वह २० या ३० पीढियो की मेहनत से निवास-योग्य, स्वास्थ्यकर और सुन्दर बना है।

पेरिस के किसी खास हिस्से मे खडे हुए एक मकान का मूल्य लाखो रुपया समझा जाता है। यह बात नही है कि सचमुच लाखो रुपये की मजदूरी उस मकान को तैयार करने मे लगी है, बल्कि बात वह है कि वह पेरिस शहर मे खडा है, इसी से उसका इतना मूल्य है। कई शताब्दियो मे कारीगरो, कलाकारो, विचारको और विद्वान लोगो ने मिलकर पेरिस को उद्योग-धन्धो, व्यापार, राजनीति, कला और विज्ञान का केन्द्र बना

लिया है। पेरिस का एक ऐतिहासिक भूतकाल रहा है। साहित्य की कृपा से देश और विदेश मे उसकी गलियो के नाम बोल-चाल के शब्द बन गये है। वह नगर अठारह शताब्दियो के परिश्रम का फल है। यह सारी फ्रेंच-जाति की पचास पीढ़ियो का बनाया हुआ काम है।

फिर ऐसा कौन व्यक्ति है जो न्यायपूर्वक कह सके कि इस शहर मे से इतनी ज़मीन या यह मकान मेरा ही है ? और कौन आदमी है ऐसा कि जो इस सम्मिलित उत्तराधिकार की सम्पत्ति मे से छोटा-सा भी हिस्सा बेचने का हक रखता हो ?

हम कह चुके है कि इस प्रश्न पर श्रमजीवी एकमत होने लगे हैं। पेरिस के घेरे के समय मे ही मकान-मालिको की शर्त्तों को बिलकुल उडा देने की मॉग हुई थी। मकानो मे मुफ्त रहने का ख़याल तो तभी पैदा हो चुका था। सन् १८७१ के कम्यून-शासन के समय मे यही विचार फिर सामने आया था। पेरिस के श्रमजीवियों ने चाहा था कि कौंसिल दृढ़ता-पूर्वक मकान-किराये के नियम को मिटा दे और भविष्य मे जब क्रान्ति आयगी तब भी ग़रीब लोग तो इसी सवाल को हल करने मे सब से पहले लग जायगे।

चाहे क्रान्ति का समय हो या शान्ति का, मजदूर को तो किसी-न-किसी प्रकार रहने को घर मिलना ही चाहिए। उसका कहीं-न-कही आश्रय तो होना ही चाहिए। परन्तु हाल यह है कि कितना ही टूटा-फूटा और गंदा उसका घर क्यो न हो, मकान-मालिक उसको किसी भी समय निकाल सकता है। यह तो सच हैं कि क्रान्ति के समय मे श्रमजीवी के कपडे और सामान सडक पर निकाल फेकने के लिए कोई मकान-मालिक किसी अधिकारी या पुलिस सार्जेण्ट को न बुला सकेगा, परन्तु दूसरे ही दिन नई सरकार क्या करेगी, इसका किसे पता है ? कौन कह सकता है कि वह बल-प्रयोग न करेगी और किरायेदार को उसकी गंदी कोठरी से निकाल बाहर करने के लिए पुलिस के भेडियो को उस पर न चढा देगी ? हमने देखा है कि पेरिस के कम्यून-शासन ने केवल प्रथम अप्रेल तक के ही

बकाया किरायो की रकम को मंसूख़ किया था। उसके बाद यद्यपि शहर में अव्यवस्था रही और उद्योग-धन्धे बन्द पडे हुए थे, फिर भी मकानो का किराया चुकाना पडता था। फल यह हुआ कि जिन क्रान्तिकारियो ने पेरिस की स्वतन्त्रता बचाने के लिए युद्ध किया था उनके और उनके परिवार के भरण-पोषण के लिए पंद्रह आने रोज़ के भत्ते के सिवाय और कोई उपाय न बचा।

तो मज़दूर को यह साफ़ तौर पर समझा देना चाहिए कि मकान-किराया न चुकाना कोई ऐसा लाभ नही है जो केवल अव्यवस्था के कारण ही हुआ हो? उसे यह जानना चहिए कि किराये की प्रथा एक सर्व-सम्मत सिद्धान्त के कारण मिटाई गई है। जनता ने उच्च स्वर से घोषित कर दिया है कि रहने के लिए घर मुफ्त मिलना ही चाहिए। यह मनुष्य का अधिकार है।

मध्यमवर्ग मे बिखरे हुए थोडे-से साम्यवादी लोगो की ही अस्थायी सरकार बनेगी और जबतक वे इस न्यायानुमोदित उपाय को हाथ में न लेंगे तबतक क्या हमे प्रतीक्षा मे ही बैठे रहना चाहिए? यदि ऐसा हुआ तो, जनता को बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पडेगी और तबतक चक्र उलटा घूम ही जायगा।

इसी कारण, सच्चे क्रान्तिकारी लोग तो, अधिकार और गुलामी के बाहरी चिन्हो—वर्दी और बिल्लो—को त्याग कर जनसाधारण मे जन-साधारण बनकर, लोगो के साथ मिलकर काम करेंगे। वे प्रयत्न करेंगे कि मकान जनता की सम्पत्ति हो जायँ और किराये की प्रथा उठ जाय। वे इसके लिए क्षेत्र तैयार करेंगे और इस ओर विचारो को प्रोत्साहित करेंगे। कुछ ऐसे सिद्धान्त भी उनके सामने आयँगे कि मकान-मालिकों को हर्जाना दिया जाय और पहले हर्जाना चुकाने के लिए रुपयो का इन्तजाम कर लिया जाय। परन्तु वे इनकी परवाह न करते हुए मकानों की ज़ब्ती करने लग जायँगे।

जिस दिन मकानो का नि.सम्पत्तीकरण हो जायगा, उस दिन सदा से लुटता रहनेवाला श्रमजीवी अनुभव करेगा कि अब नये युग का उदय

हुआ है। अब श्रमिको को धनाढ्यो और बलवानों का जुआ न उठाना पडेगा। उस दिन वह अनुभव करेगा कि समानता खुले तौर से घोषित हो गई है। पिछली क्रान्तियों मे तो कोरा सैद्धान्तिक धोखा था, पर यह क्रान्ति तो सच्ची क्रान्ति है।

२

यदि एक बार जनता ने नि सम्पत्तीकरण के विचार को पकड लिया, तो कितनी ही 'अजेय' बाधाएँ क्यो न आवे, फिर भी वह विचार पूरा हो जायगा।

नई वर्दियाँ पहने हुए, सरकारी आरामकुर्सियो पर बैठे हुए, भले मानस तो बाधा-पर-बाधा डालते ही रहेगे। वे कहेंगे कि मालिकों को हर्जाना दिया जाय, गणना-पत्र तैयार किये जायँ, और बडी-बडी रिपोर्टें तैयार कराई जायँ। हाँ, वे इतनी लम्बी-लम्बी रिपोर्टें निकाल सकेंगे कि जनता भी निराश हो जायगी। लोग मजबूरन् बेकार बैठे रहेगे, भूखे मरते रहेगे और समझ जायँगे कि इन सरकारी जाँचो से कुछ फल न निकलेगा। उनको न तो क्रान्ति मे उत्साह रहेगा और न विश्राम। वे क्रान्ति के शत्रुओ के वास्ते मैदान खाली कर देगे। नई नौकरशाही जनता की दृष्टि मे नि.सम्पत्तीकरण को ही घृणित बनाकर छोडेगी।

यह एक ऐसी चट्टान ज़रूर है जो हमारी आशाओ के जहाज़ को तोड़ सकती है। परन्तु लोगो को चौंधियाने के लिए पेश की हुई दलीलो को सुनने की जरूरत नही है। लोगो को समझ लेना चाहिए कि नये जीवन के लिए नई परिस्थिति की ज़रूरत हुआ करती है। यदि इस कार्य को वे स्वयं ही हाथ मे लेलेगे तो नि सम्पत्तीकरण बिना किसी कठिनाई के ही हो सकेगा।

परन्तु आप पूछेंगे कि 'यह कैसे हो सकता है?" हम इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु एक बात अवश्य कहनी है। हमारा यह इरादा नही है कि हम तफ़सीलवार नि:सम्पत्तीकरण की योजना बतावें।

किसी व्यक्ति या समुदाय की आज की सारी तजवीज़ें वास्तविकता के सामने बहुत कम टिक सकेंगी। पहले से ही जितना बताया जा सकता है, मौके पर मनुष्य उससे अधिक महान् कार्य करेगा, अच्छे प्रकार से करेगा और सीधे तरीके से करेगा। इसलिए हम तो यह बतायेंगे कि किस प्रकार सरकार के दखल दिये बग़ैर ही निःसम्पत्तीकरण किया जा सकेगा। जो लोग यह कहते है कि बिना किसी सरकार के नि.सम्पत्तीकरण होना ही असम्भव है उनको उत्तर देने की ज़रूरत नही है। हम इतना ही उत्तर देना चाहते है कि हम किसी विशेप प्रकार के संगठन के समर्थक नही है। हमारा काम तो इतना ही सिद्ध करना है कि नि.सम्पत्तीकरण जनता द्वारा ही हो सकेगा और किसी भी अन्य प्रकार से नही हो सकेगा।

सम्भव है कि जब नि.सम्पत्तीकरण का काम चल निकले, तो हर मुहल्ले, और गली मे स्वयंसेवको के दल बन जायँगे। वे इन बातों की जॉच करेंगे कि कितने मकान और तल्ले खाली है, कितने खूब भरे हुए है, तङ्ग और अंधेरी कोठरियॉ कितनी हैं, और ऐसे मकान कितने हैं जो उनके रहने वालो की आवश्यकता से बहुत बडे है और जिनमे वे लोग आ सकते है जो दूसरी जगह कठिनाई से ठसाठस रह रहे हैं। केवल थोडे ही दिनो मे ये स्वयसेवक सारी गलियो और मुहल्लो के सारे तल्लो, कमरो, हवेलियो, और शहर के बाहर के बॅगलो की सूची; स्वास्थ्यकर और अस्वास्थ्यकर, छोटे और बडे कमरो की सूची, तहख़ानो और बढ़िया भवनो की सूची बना डालेगे।

ये स्वयंसेवक एक-दूसरे से मिलते और सम्मति लेते हुए तो रहेगे ही। इन्हे अपनी गणना पूरी करने मे देर भी न लगेगी। कमेटियो और दफ्तरों मे बैठकर झूठे गणना-पत्र बनाए जा सकते है, परन्तु सच्ची और सही गणना तो व्यक्ति ही प्रारम्भ कर सकता है। फिर उससे बडे इकजाई नक्शे तैयार होने चाहिएँ।

फिर ये नागरिक किसी की आज्ञा के लिए न ठहरेंगे। वे ऊपरी तल्लों के छोटे-छोटे कमरो मे या बन्द कोठरियो मे रहनेवाले दुर्दशाग्रस्त भाइयो को जाकर ढूढेंगे। उनसे सरल स्वभाव से कहेगे, "भाइयो ! इस बार की

क्रान्ति सच्ची क्रान्ति है। इसमें ज़रा भी सन्देह नही है। आज शाम को तुम इस स्थान पर आना। सारे पडोसी वही मिलेगे। घरों का नया बंटवारा होने वाला है। यदि तुम अपनी बन्द कोठरी से तंग आ गये हो तो आकर किसी पॉच कमरो के एक तल्ले को पसन्द कर लेना। उसमे आने के बाद तुम वहॉ निर्भय होकर रह सकते हो। लोगों ने हथियार उठा लिये हैं और जो कोई तुम्हे निकालने का प्रयत्न करेगा उसे उसका मज़ा चखना पडेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि "हरएक व्यक्ति बढ़िया मकान या लम्बा चौडा तल्ला मॉगेगा।"—नहीं, आपने बिलकुल ग़लत समझा है। लोग असम्भव बात नहीं चाहा करते। बल्कि जब-जब जनता ने किसी अन्याय का प्रतिशोध किया है तब-तब जनसाधारण की सद्भावना और न्याय-बुद्धि को देखकर हमें चकित हो जाना पडा है। क्या हमने कभी उन्हे असम्भव मॉग करते हुए देखा? पेरिस के दोनो घेरो मे या १७९२-९४ के भयङ्कर वर्षो मे लोग भोजन या ईंधन लेने के लिए आकर खडे रहते थे। वे सब खूब जानते थे कि जो कोई पीछे आयगा उसे उस दिन न तो भोजन मिल पायगा और न अग्नि। फिर भी उस समय वे आपस मे लडते न थे। जो व्यापक धैर्य और त्याग उनमे १८७१ मे पाया गया, उसका वर्णन विदेश के सम्वाददाताओं ने बडी प्रशंसा के साथ किया है।

इस बात को हम अस्वीकार नही करते कि किसी-किसी व्यक्ति में खूब स्वार्थ-भावना रहा करती है। हमको यह अच्छी तरह मालूम है। परन्तु हमारा कहना तो यह है कि गृह-व्यवस्था करना आदि जनता के प्रश्नो को किसी बोर्ड या कमेटी के आधीन कर देने से या किसी भी प्रकार के सरकारीपन की दया पर छोड देने से ही यह स्वार्थ-भावना जाग्रत और पुष्ट होती है। उस अवस्था मे सारी मनोवृत्तियॉ जाग्रत हो जाती हैं। फिर बाजी उसके हाथ में रहती है जो कमेटी मे सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। ज़रा-ज़रा-सी असमानता के कारण झगडे और परस्पर दोषारोपण होने लगते है। जहाँ किसी एक व्यक्ति के साथ थोडी रिआयत की गई कि बडा भारी शोर मच जाता है। और वह अकारण

भी नही होता ।

परन्तु यदि जनसाधारण स्वयं ही गलियो और मुहल्लो में अपना संगठन बनाकर, गंदे या पिछवाडे के घरो मे रहनेवाले लोगों को मध्यमवर्ग के ख़ाली मकानो मे पहुँचाने लगें, तो थोडी-थोडी तकलीफे या छोटी-छोटी असमानताएँ तो सरलता से दूर हो जायंगी।

जब-जब यह देखा गया कि क्रान्ति की नाव डूबने वाली है, और उसको बचाने के लिए श्रमजीवियो से अपील की गई कि, "भाइयो, अबकी आख़िरी बार अपनी वीरता और आत्मत्याग से इसको बचाओ," तबतब वे पीछे नही रहे है। आगामी क्रान्ति मे भी ऐसा ही होगा।

परन्तु भरसक समझने और कोशिश करने पर भी कुछ असमानताएँ और कुछ अनिवार्य अन्याय रह ही जायँगे। ऐसे व्यक्ति समाज मे होते है जिन्हे कोई भी कठिन काल स्वार्थ के दलदल से ही नही निकाल सकता। परन्तु प्रश्न यह नही है कि अन्याय बिलकुल रहेगे या नही, प्रश्न तो यह है कि वे किस प्रकार कम किये जायँ ?

सारे इतिहास, मानव-जाति के सारे अनुभव, और सारे सामाजिक मनोविज्ञान से सिद्ध है कि किसी काम को करने का सबसे अच्छा और सुन्दर उपाय यही है कि जिन लोगो से उस काम का सम्बन्ध है, उन्ही के हाथो मे उसको छोड दिया जाय। सैकडो छोटी-छोटी तफ़सीलो पर सरकारी बंटवारे मे विचार नही हो पाता। उनपर विचार करने और समाधान करने का अधिकार उन्ही लोगो को है जिनसे उनका सम्बन्ध है।

३

इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नही है कि घरो का शुरू से ही बिलकुल बराबर बंटवारा किया जावे। पहले-पहल तो कुछ तकलीफ़े रहेगी, परन्तु निःसम्पत्तीकरण को अपनाने वाले समाज मे सब बाते शीघ्र ही ठीक हो जायँगी।

जब राजा, बढ़ई और गृह-निर्माण का काम जानने वाले दूसरे लोग यह समझ लेगे कि अब भोजन की तो चिन्ता रही नही है, तो वे अपने

काम को ही रोज कुछ घण्टे क्यो न करना चाहेंगे ? जिन बढ़िया मकानो को साफ सुथरा रखने के लिए अनेक नौकरो की आवश्यकता रहा करती थी, वे उनको कई परिवारो के रहने के योग्य बना डालेंगे, और कुछ ही महीनों मे आज-कल के मकानो से अधिक आरामदार और कही स्वास्थ्यकर घर तैयार हो जायँगे। फिर भी जिन लोगों को अच्छा घर न मिल पायगा, उन लोगो से अराजक साम्यवादी यह कहेगा कि "भाइयो, धैर्य रक्खो। अब हमारे स्वाधीन नगर मे ऐसे-ऐसे महल खडे होगे जो धन-पतियो के महलो से भी सुन्दर और बढ़िया होगे। वे उन्ही के होगे जिनको उनकी अधिक आवश्यकता होगी। अराजक समाज आमदनी की दृष्टि से मकान नही बनवायगा। नागरिको के वास्ते खडे किये हुए वे भवन सामुदायिक भावना के फल होगे, और सारी मनुष्यजाति के वास्ते उदाहरण का काम देगे। और उन पर अधिकार होगा आपका।"

यदि क्रान्ति करने वाले लोग घरो की ज़ब्ती करेंगे और यह घोषणा करेंगे कि सारे मकान समाज के है और प्रत्येक परिवार को अच्छे घर मे मुफ्त रहने का अधिकार है, तो कहा जायगा कि प्रारम्भ से ही क्रान्ति ने समाजवादी स्वरूप ग्रहण किया है, और वह ऐसे मार्ग पर आगई है जिससे उसे हटाना सरल नही है। यह व्यक्तिगत सम्पत्ति पर एक घातक प्रहार होगा।

घरो के निःसम्पत्तीकरण मे ही सारी समाजवादी क्रान्ति का बीज है। उस क्रान्ति को सम्पादित करने के तरीके पर ही आगे होने वाली घटनाओ का स्वरूप निर्भर है। या तो हम सीधे अराजक समाजवाद तक पहुँचने वाली सुन्दर सडक पर चलने लगेंगे, नही तो अत्याचारी व्यक्तिवाद के दलदल मे ही फँसे रहेगे।

सिद्धान्त की और व्यवहार की कई शंकाओ का हमें सामना करना पडेगा। विरोधी तो हर प्रकार असमानता को बनाये रखना चाहेगे। वे "न्याय की दुहाई देकर" भी विरोध करेंगे। वे कहेगे कि "क्या यह घोर लज्जा की बात नहीं है कि शहर के लोग तो इन बढ़िया मकानो पर क़ब्जा करले और देहात मे किसानो को रहने के लिए केवल टूटी-फूटी

झोपडियाँ ही हों ?" परन्तु इन न्याय के ठेकेदारों की स्मरण-शक्ति कहाँ चली जाती है जब वे भूल जाते हैं कि जिस चीज़ की ये अप्रकट रूप से रक्षा करना चाहते हैं वह कितनी "घोर लज्जा" की चीज है। वे भूल जाते है कि उसी नगर मे मज़दूर, उसकी स्त्री और बालक, सब गंदी कोठरी में घुट रहे हैं और उनके सामने ही अमीरो के महल खडे हैं। वे यह भूल जाते हैं कि छोटी-छोटी गंदी कोठरियो मे पीढ़ियो से लोग रह रहे हैं। हवा और रोशनी के लिए तडपते हुए वे मरते जा रहे हैं। इस अन्याय को मिटाना ही क्रान्ति का प्रथम कर्तव्य होना चाहिए।

इस छल मे हमे न आना चाहिए। क्रान्ति के प्रारम्भिक दिनो मे शहर और देहात के बीच जो असमानता रहेगी, वह अस्थायी होगी और दिन-ब-दिन स्वयं हटती जायगी। ज्योंही किसान, खेत-मालिक, व्यापारी, साहूकार और राज्य का जुआ उठाने वाला पशु न रहेगा त्योंही ग्राम में भी घरो का सुधार होने लगेगा। एक आकस्मिक और अस्थायी असमानता से बचे रहने के लिए क्या हम एक पुराने चले आए अन्याय को न मिटायँगे ?

जो आक्षेप व्यावहारिक कहलाते है वे भी सबल नही है। वे उदाहरण देते हैं कि एक बेचारा ऐसा व्यक्ति है, जो अपने साधारण सुखो को त्यागकर बडी मुश्किल से अपने परिवार के ही योग्य एक घर ख़रीद पाया है, और हम उसके मेहनत से कमाये हुए सुख-साधन को छीन लेंगे, उसको निकाल बाहर करेंगे ! नही, ऐसा हर्गिज न होगा। यदि *उसका घर इतना ही बडा है कि उसमें उसका ही परिवार रह सकता है* तो वह बडी खुशी से वहीं रहे। वह अपने छोटे-से बगीचे मे भी काम करता रहे। हमारे स्वयंसेवक उसे नही रोकेंगे, बल्कि आवश्यकता होगी तो सहायता भी देंगे। पर मान लो कि वह किराये से घर देता है या उसमे कुछ कमरे खाली हैं, तो लोग उस किरायेदार से कहेंगे कि तुम अपने मकान-मालिक को कोई किराया मत दो। जहाँ तुम रह रहे हो वही रहते रहो, परन्तु बिना किराये। अब तकाज़ेवाले और टैक्स वसूल करने वाले बिलकुल नही हैं। समाजवाद ने सब झगडा पाक कर दिया है।

अथवा कल्पना कीजिए कि एक सेठ साहब के पास तो बीस कमरे हैं और एक ग़रीब स्त्री अपने पॉच बालकों को लेकर पास में एक ही कोठरी मे रहती है। तो, लोग यह प्रयत्न करेंगे कि खाली कमरे, कुछ परिवर्तन किये जाने पर, उस ग़रीब स्त्री और उसके पॉच बालकों के रहने योग्य बन जायँ। वह मां और उसके पॉच बालक एक कोठरी मे सडते रहें और सेठ करोडीमलजी एक खाली महल मे गुलछर्रे उडाते रहें, इस अन्याय को कौन रहने देगा? सम्भव है, कि भलमनसाहत से करोडीमल स्वयं ही उस स्त्री और बालकों को अपना खाली घर दे देंगे। जब नौकर-चाकर न मिलेंगे तो सेठानी भी इतने बडे मकान को साफ़-सुथरा रखने की झंझट से छुटकारा पाने से बडी ख़ुश होगी।

कानून और व्यवस्था के हिमायती कहते है कि "तुम तो सबकुछ उलट-पुलट कर देना चाहते हो। फिर तो मकानों से निकालने और हटाये जाने का तॉता ही लगा रहेगा। क्या यह अच्छा न होगा कि नये सिरे से ही प्रबन्ध शुरू किये जावे? पहले तो सभी लोगों को घरों से निकाल दें और फिर चिट्ठी (लॉटरी) डालकर घरों का बॅटवारा हो?" यह तो हुआ समालोचकों का कहना। परन्तु हमे तो दृढ़ विश्वास है कि यदि कोई सरकार हस्तक्षेप करे, और यदि सारे परिवर्तन उन्ही स्वयसेवक-संघो द्वारा हो जो इस काम को करने के लिए बने है, तो भी घरों से लोगों को निकालने और हटाने के उदाहरण उतने न होंगे, जितने कि वर्तमान प्रणाली मे मकान-मालिकों के लाभ के कारण हर साल होते है।

पहले तो सभी बडे शहरों मे गन्दे घरों के रहनेवालों को रहने योग्य घर और तल्ले काफी ख़ाली है। महलों और बढ़िया भवनों में तो श्रमजीवी यदि रह भी सकें तो भी न रहेंगे। ऐसे मकानों को सम्भालने के लिए अनेक नौकर-चाकर चाहिए। उनमे रहनेवाले शीघ्र ही बाध्य होकर अपने लिए छोटे मकान तलाश करेंगे। बडे घरों की स्त्रियॉ समझ जायॅगी कि जब खाना ही अपने हाथ से बनाना पडता है, तो महलों की संभाल कौन करेगा? धीरे-धीरे लोग दूसरी जगह चले जायॅगे। धनवान व्यक्तियों को छोटे मकानों मे, और ग़रीब कुटुम्बों को बडे घरों मे पहुँचाने

के लिए ज़बर्दस्ती करने की नौबत नही आयगी। संघर्ष और गडबडी बहुत ही कम होगी। जैसा घर मिल जायगा लोग प्रसन्नता से उसी मे चले जायँगे। पंचायती गाँवो के उदाहरण हमारे पास हैं। वहाँ जब खेतो का नया बँटवारा होता है तो खेतो की अदला-बदली कम होती है। उनकी समझदारी और सद्भावना प्रशंसनीय होती है। जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति का राज्य है, और झगडे सदा कचहरियोमे जाते रहते हैं वहाँ की अपेक्षा पंचायती गाँवो के प्रबन्ध मे खेतो की अदला-बदली कम होती है। तो क्या हमे यह समझना चाहिए कि नगर के लोग किसानो से भी कम बुद्धिमान और संगठन करने के योग्य सिद्ध होगे?

फिर हमे यह बात भी न भूल जाना चाहिए कि क्रान्ति से दैनिक जीवन-विधि मे कुछ-न-कुछ गडबड तो होती ही है। जो लोग यह आशा करते हैं कि पुरानी परिपाटी छूटकर क्रान्ति बिना थोड़ी-सी भी गडबड के हो जायगी, वे ग़लती करते हैं। रईस लोगो के ऐशो-आराम मे कुछ भी ख़लल पडे बिना ही सरकारो का बदल जाना तो सम्भव है, परन्तु समाज का अपने पोषणकर्ताओ और आश्रयदाताओ पर जो अत्याचार है वह राजनीतिक दलबंदी और चालबाज़ी से दूर नही हो सकता।

गडबडी तो होगी ही; परन्तु उससे हानि-ही-हानि न होनी चाहिए। हानि या तकलीफ तो कम-से-कम होनी चाहिए। और इसका तरीक़ा यही है कि हम बोर्डो या कमेटियो से काम न लेकर खुद उन लोगों से सीधी बात करे जिनका हानि-लाभ से सम्बन्ध है। बस, इस सिद्धान्त पर जितना ज़ोर दिया जाय उतना ही थोडा है।

एक चपल-मस्तिष्क चुनाव का उम्मेदवार कहता है कि 'मैं सबकुछ जानता हूँ, मैं सबकुछ कर सकता हूँ, और मै सब को व्यवस्थित करने का ठेका लेता हूँ, मुझे अपने प्रतिनिधित्व का सौभाग्य दीजिए।' जो लोग उसको चुनते हैं वे ग़लती-पर-ग़लती करते हैं; परन्तु जिस काम को लोग जानते है, जिस काम का उनसे सीधा सम्बन्ध है, उसको जब वे स्वयं करने लगते हैं तो वह उन कमेटियो और कौन्सिलो के सारे कार्य से बहुत अच्छा होता है। पेरिस के कम्यून-शासन और बन्दरगाह

के मज़दूरो की बडी हडताल के समय ऐसा ही तो हुआ था। ग्रामीण पंचायतो मे भी इसके प्रमाण नित्य मिलते है।

: ७ :

कपड़े

जब मकानो पर नागरिको का सम्मिलित अधिकार हो जायगा, और जब सब आदमियो को भोजन मिलने लगेगा, तो एक क़दम और आगे बढाना पडेगा। इसके बाद सवाल होगा कपडो का। इसका उपाय भी यही हो सकेगा कि जिन-जिन दुकानो और गोदामो मे कपडा बिकता या इकट्ठा रहता है, उन पर जनता कब्जा करले। वहां सबको आज़ादी रहे कि जिसे जितना चाहिए वह उतना ले सके। वस्त्रो का समाजीकरण अर्थात् पंचायती भण्डार से अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्त्र लेने या दर्जियों से कटवा-सिलवा लेने का अधिकार तो. मकान और भोजन के समाजीकरण के साथ ही लगा हुआ है।

हमारे समालोचक मज़ाक और शरारत से कहा करते है कि तब तो सारे नगर-वासियो के कोट लूटने पडेगे, सारे वस्त्रो का ढेर करना पडेगा, और उसमे से चिट्ठी (लॉटरी) डालकर कपडे बॉटने पडेगे। परन्तु वास्तव मे इसकी ज़रूरत न होगी। जिसके पास एक कोट है, वह उसे उस समय भी रख सकेगा—बल्कि यदि उसके पास दस कोट भी होगे तो भी लोग उससे छीनना न चाहेगे, क्योंकि किसी मोटे पेट वाले के उतरे हुए कोट की अपेक्षा तो अधिकांश लोग नये कोट को अधिक पसन्द करेगे। नया कपडा ही इतना अधिक मौजूद रहेगा कि पुराने कपडो के बिना भी काम चल जायगा। शायद बच भी रहे।

यदि हम बडे शहरो की दूकानो और भण्डारो के सारे कपडो की सूची बनावे तो शायद हमे ज्ञात होगा कि पेरिस, लियोन्स, ब्रोडों और मार्सेलोज मे इतना काफी कपडा है कि समाज सारे स्त्रियो और पुरुषो को पोशाकें दे सकता है। और यदि तैयार कपडे सबको तत्काल ही न मिल सके तो पंचायती दर्जी शीघ्र ही बना देंगे। आजकल बडी-बडी

विशेष मशीनों के कारण सिलाई के कारखाने कपडे सीकर कितनी जल्दी तैयार कर देते हैं, यह हम जानते ही हैं।

परन्तु हमारे विरोधी जोर से कहते हैं कि "सब पुरुष बढ़िया ऊनी कोट माँगेंगे और सब स्त्रियाँ मखमली कपडे माँगेंगी तो ?"

सच पूछा जय तो हम ऐसा नहीं मानते। हर एक औरत मखमल के लिए मरी नहीं जाती, न हर एक आदमी बढ़िया ऊन का ही स्वप्न देखता है। आज भी यदि हम प्रत्येक स्त्री से अपने कपडे पसन्द करने को कहे तो कई स्त्रियां तो तडक-भडक वाले कपडो की अपेक्षा सादे व्यावहारिक कपडे लेना अधिक पसन्द करेंगी।

फिर समय के साथ रुचि भी बदलती है। अत. क्रांति के समय तो प्रचलित पहनाव सादगी की तरफ जरूर झुकेगा। व्यक्तियों की भांति समाजो का भी कमज़ोरी का ज़माना होता है। परन्तु वीरता का भी जमाना आता है। यद्यपि आजकल का समाज संकुचित व्यक्तिगत स्वार्थों और रद्दी विचारो मे डूबा हुआ है, परन्तु जब महान् आपत्तिकाल आते हैं तब उसका रूप भिन्न हो जाता है। उसकी महानता और उत्साह के दिन भी हुआ करते है। जो शक्ति आजकल स्वार्थसाधको के हाथ मे है, वह उदार प्रकृति के मनुष्यो के हाथ मे आजायगी। आत्म-त्याग की भावना उत्पन्न हो जायगी। महान् घटनाओं के समय महान् कार्य ही होते हैं। उस समय अहम्मन्य स्वार्थी व्यक्ति भी पीछे रहने से लज्जित होंगे, और यदि वे अनुकरण नही करेंगे तो कम-से-कम उदार और वीर व्यक्तियों की प्रशंसा तो अवश्य करने लगेंगे।

सन् १७६३ की महान् क्रान्ति मे इस प्रकार के उदाहरण भरे पडे हैं। उच्च भावनाओं के युग व्यक्तियो की भांति समाजो में भी अपने आप उपस्थित होते हैं। उत्साह के जिन वसन्तकाल से मानव-जाति आगे बढती है, वह ऐसे ही युगो मे उमडा करता है।

इन उच्च भावनाओ को अधिक बढा कर वर्णन करने की हमारी इच्छा नही है। और इनके आधार पर ही हम समाज का आदर्श स्थापित करेंगे। परन्तु यदि हम आशा करें कि इन भावनाओ की सहायता से प्रारम्भिक

कठिनाई के दिन निकल जायँगे, तो इसमे हर्ज ही क्या है ? हम यह तो आशा नही कर सकते कि हमारा दैनिक जीवन निरन्तर ऐसे पवित्र उत्साह से प्रस्फुरित रहेगा, परन्तु प्रारम्भ मे हम उसकी सहायता की आशा अवश्य कर सकते हैं। और इतना ही काफी है।

ज़मीन साफ करने और शताब्दियो की दासता और अत्याचार से इकट्ठी हुई ठिकरियो और कूडे-करकट को झाड-बुहार कर हटा देने के लिए ही नये अराजक समाज को इस भ्रातृप्रेम की लहर की आवश्यकता होगी। बाद मे, आत्म-त्याग की भावना के बिना भी समाज का अस्तित्व रह सकेगा, क्योकि तब अत्याचार मिट जायगा, और एकता की एक नवीन व्यापक चेतना उत्पन्न हो जायगी।

यदि क्रान्ति का स्वरूप वैसा ही हुआ जैसा कि हमने वर्णन किया है तब तो स्वार्थियो के प्रयत्न निष्फल हो जायँगे, और व्यक्ति अपनी बुद्धि और प्रयत्न से इस दिशा मे खूब काम कर सकेगे। कपडे के प्रबन्ध का भार लेने के लिए हर गली और मुहल्ले मे स्वयंसेवक दल बन जायँगे। वे ऐसी फहरिस्ते बना लेगे जिनमें नगर के सारे माल का इन्दराज होगा, और वे यह भी अन्दाज़ से जान लेगे कि उनके पास कितना माल है। बहुत सम्भव है कि कपडे के बँटवारे के विषय मे भी नगरवासी उसी सिद्धान्त को ग्रहण करे जो भोजन के विषय मे किया। जो चीज़ सार्वजनिक भण्डार में बहुतायत से होगी उसे वे चाहे जितना दे देगे, और जो चीज थोडी होगी उसको हिस्सेवार बाँट देगे।

प्रत्येक आदमी को बढिया ऊनी कोट और प्रत्येक स्त्री को मखमली कपडे तो न दिये जा सकेंगे। इसलिए, संभवत. समाज फ़ालतू और ज़रूरी चीज़ो मे भेद करेगा। शायद थोडे समय के लिए तो बढ़िया ऊनी कपडा और मखमल फालतू चीजो मे ही गिने जायँ। जो चीजें आज विलास-वस्तुएं कहलाती है, शायद आगे वे ही सबकी मामूली चीजे बन जायँ। परन्तु इसके लिए समय की प्रतीक्षा करनी पडेगी।

अराजक नगर के सब निवासियो के लिए कपडों का प्रबन्ध तो किया ही जायगा, पर जो चीजे उस समय विलास-वस्तुये समझी जायँगी

चे बीमारो और कमज़ोरो के वास्ते रहेगी। साधारण नागरिको के रोज़ काम मे न आनेवाली चीज़े भी दुर्बलो के लिए रहेगी।

परन्तु कुछ लोग यह कहेंगे कि "इससे तो सबके कपडे एक-से हो जायँगे और जीवन और कला की सारी सुन्दरता ही नष्ट हो जायगी।"

पर हमारा उत्तर है कि "ऐसा नही होगा।" वर्तमान शक्ति और साधनों से भी अराजक समाज मे, कला की ऊंची-से-ऊंची रुचियाँ पूर्ण हो सकती है, और इसके लिए बडे-बडे करोडपतियों की सम्पत्ति की जरूरत भी नही है। यह बात हम आगे दिखाने वाले है।

: ८ :

उपाय

१

यदि कोई समाज, नगर या प्रदेश अपने निवासियो के जीवन की समस्त आवश्यकताओ का प्रबन्ध करना चाहे तो उसको उन चीजो पर अधिकार करना पडेगा जो उत्पत्ति के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है; अर्थात् ज़मीन, यन्त्र, कारखाने, माल लाने-ले-जाने के साधन आदि। व्यक्तियो के हाथ से छीन कर पूंजी समाज को दे दी जायगी।

हम पहले कह चुके हैं कि मध्यम-वर्गीय समाज से केवल यही बडी हानि नही हुई है कि उद्योग-धन्धो और व्यापार का अधिकांश मुनाफ़ा पूंजीपति खा जाते है और बिना श्रम किये ही जीवित रह सकते है, परन्तु यह भी एक बडी हानि हुई है कि सारी उत्पत्ति ग़लत रास्ते पर चल रही है। आजकल उत्पत्ति का ध्येय यह नही है कि सब खुशी रहे, बल्कि कुछ दूसरा ही है। इसी कारण वह निंदनीय है।

व्यापारिक उत्पत्ति सब के हित की दृष्टि से हो भी कैसे सकती है? पूंजीपति तो अपने लिए पैसा पैदा करने वाला एक कारख़ानेदार है। उस से यह आशा करना कि वह सबके हित के लिए उत्पत्ति करे—उससे ऐसा

काम लेना है जो वह कर नही सकता, और करे भी तो वह जो कुछ है वह रह नहीं सकता। हाँ, उसने एक बात की है। उसने श्रमजीवियो के उत्पादक-बल को बढा दिया है। व्यक्तिगत लाभ के लिए बने हुए पूंजीवादी संगठन से इतना मिल गया, यही क्या कम है ? पूंजीपति ने बाष्प-शक्ति, रसायन शास्त्र, यन्त्र-कला और इस शताब्दी के अन्य आविष्कारो की उन्नति से लाभ उठाया, अपने फायदे के लिए मजदूरो की उत्पादक-शक्ति को बढ़ाया, और अभी तक इसमे बहुत-कुछ सफल भी हुआ। परन्तु उससे दूसरे कर्तव्यो की आशा करना अनुचित होगा। उदाहरणार्थ, उससे यह आशा करना कि वह अपने मजदूरो की इस बढ़ी हुई उत्पादक-शक्ति को सारे समाज के हितार्थ लगा दे, उससे मानव-जातिप्रेम और त्याग की माँग करना है। पूंजीवादी व्यवसाय भी कही त्याग के आधार पर खडा रह सकता है ?

यह बढी हुई उत्पादक-शक्ति केवल खास-खास उद्योग-धन्धो मे ही सीमित है। इसको विस्तृत करने और सार्वजनिक हित मे लगाने का काम समाज के लिये रह जाता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि मज़दूरो की इस महान् उत्पादक-शक्ति को सबके सुख-सम्पादन मे लगाने के लिये समाज को उत्पत्ति के सारे साधनो पर ही कब्ज़ा करना पडेगा।

अपने स्वभाव के अनुसार अर्थ-शास्त्रज्ञ लोग कहेगे कि देखिए, वर्तमान प्रणाली ने ख़ास-ख़ास उद्योग-धन्धो के विशेषज्ञ ये कितने जवान-जवान और तगडे-तगडे श्रमिक पैदा किये है और इस प्रणाली की बदौलत ही ये बडे सुख से जीवन-निर्वाह करते है। जब कभी ज़िक्र आता है तो इन्ही थोडे से आदमियों की ओर गर्व के साथ इशारा किया जाता है। परन्तु यह सुखी जीवन भी, जो केवल थोडे ही लोगो के हिस्से मे आता है, कितने दिन टिक पाता है ? सम्भव है, कल ही लापरवाही, अविचार या कारखानेदार के लोभ के कारण इन विशेषाधिकार रखनेवाले लोगो का काम छूट जाय और जो थोडे-से दिन इन्होने आराम के साथ बिताये, उसके बदले मे इन्हे कई महीने और वर्ष दु:ख और दरिद्रता मे गुजारने पडे। थोडी उम्र वाले व्यवसायो की बात जाने दीजिए, कपडे, लोहे, शक्कर

आदि के प्रधान उद्योग-धन्धों को ही लीजिए। कभी सट्टे के कारण, कभी अपने-आप काम के बदल जाने के कारण और कभी पूंजी वालों की ही आपस की प्रतिस्पर्धा के कारण कितने ही ऐसे कारखाने कमजोर या बन्द होते देखे गये है।

माना कि थोडे-से विशेष श्रेणी के कारीगरों का जीवन कुछ अंशो मे सुखी हो जाता है, परन्तु उसके लिए कीमत कितनी भारी देनी पडती है? इन थोडा-सा सुख भोगने वाले इने-गिने कारीगरों के मुक़ाबिले मे कितने लाख ऐसे मनुष्य है जो रोज का कमाया रोज़ खाते है, जिन्हे स्थायी काम नहीं मिलता, और जहाँ उनकी आवश्यकता होती है वहीं जाने को तैयार हो जाते है। नाममात्र की आमदनी के लिये कितने किसान दिन मे चौदह-चौदह घटे काम करते है? पूंजीवाद देहात की जनसंख्या घटाता है, जिन उपनिवेशों और देशों मे उद्योग-धन्धे उन्नत नही है उनका रक्तशोषण करता है, अधिकाँश श्रमजीवियों को कला-कौशल की शिक्षा से वंचित रखता है, और उन्हें अपने हुनर की जानकारी भी बढाने नहीं देता।

यह अवस्था सयोग मे ही पैदा नही हो गई है। यह तो पूंजीवादी प्रणाली के लिए आवश्यक है। विशेष श्रेणी के कारीगरों को अच्छा वेतन देने के लिये लाजिमी है कि किसान-समाज का भार-वाहक पशु बने। शहरों की आबादी बढ़ाने के लिए लाजिमी है कि देहात का रहना त्याग दिया जाय। बडे-बडे कारखानों का माल छोटी-छोटी आमदनी वाले खरीददारों को आसानी से मिल सके, इसलिए लाजिमी है कि बडे शहरों के बाहरी गंदे भागों मे छोटे-छोटे व्यवसाय वाले लोग इकट्ठे हों, और नाममात्र की मज़दूरी लेकर हजारों छोटी-मोटी चीज़ें बनाते रहें। बुरा कपडा कम तनख्वाह वाले श्रमिकों को बेचा जा सके, इसीलिए तो बहुत थोडी मजदूरी से संतुष्ट हो जाने वाले दर्जी उनके कपडे सिया करते हैं। पिछडे हुए पूर्वीय देश पश्चिमवासियों के हाथ इसलिए लुटते हैं कि पूंजीवाद के कारण कुछ बडे कारखानों के थोडे-से कारीगरों का जीवन थोडा अधिक सुखी हो सके।

अत: वर्तमान प्रणाली की बुराई केवल यही नहीं है कि मुनाफा

पूँजीवाले की जेब मे जाता है (जैसा कि रोडबर्ट्स और मार्क्स ने कहा है)। इससे तो साम्यवादी विचार-दृष्टि और पूँजीवाद प्रणाली पर हमारी साधारण दृष्टि ही संकुचित हो जाती है। मुनाफ़ा होना तो और भी गहरे कारणो का नतीजा है। मुनाफे की गुन्जाइश रहना ही बुराई है, भले ही एक पीढी जिस माल को स्वयं ख़र्च नही कर पाती, वह दूसरी पीढी के लिये बच रहे। मुनाफा बचा रखने के लिये ही तो पुरुषों, स्त्रियो और बालको को उनकी कमाई (उत्पत्ति) का थोडा-सा ही भाग मजदूरी मे दिया जाता है, और भूख के कारण उन्हे उसी मज़दूरी पर काम करना पडता है। परन्तु यह बुराई तबतक रहेगी जब-तक उत्पत्ति के साधन थोडे से लोगो के अधिकार मे रहेगे। आज किसान या मज़दूर को ज़मीम जोतने या मशीन चलाने का हक़ तब मिलता है, जब वह जमीदार या कारखानेदार को उत्पत्ति का बडा हिस्सा चुका देता है। उधर ज़मीदार और कारख़ानेदार को ऐसी पैदावार या माल तैयार करने की स्वतंत्रता है कि जिससे उनको अधिक-से-अधिक लाभ हो। वे उपयोगी वस्तुएँ अधिक क्यो बनायेगे ? जबतक यह अवस्था रहेगी तबतक तो सुखी जीवन केवल बहुत थोडे व्यक्तियो के भाग्य मे ही हो सकेगा। इसका फल यह होगा कि समाज का अधिक भाग दरिद्र ही रहेगा। किसी व्यवसाय के मुनाफे को बराबर हिस्सो मे बॉट देना ही काफी नही है, जबकि दूसरी तरफ उसी समय दूसरे हज़ारो मज़दूरो का खून चूसा जा रहा हो। ठीक तो यही है कि सब का ही जीवन सुखी बनाने के लिए जिस माल की आवश्यकता है वही अधिक-से-अधिक उत्पन्न किया जाय, और मनुष्यशक्ति का अपव्यय भी कम से कम होने पावे।

सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामी का उद्देश्य इतना व्यापक कैसे हो सकता है ? इसी कारण यदि समाज को उत्पत्ति का यही आदर्श रखना है, तो उन सारे साधनो पर उसे कब्ज़ा करना पडेगा जिनसे सम्पत्ति और सुख दोनो की वृद्धि होती है। समाज को जमीन, कारख़ानो, खानो, रेल

जहाज़, तार, डाक आदि पर अधिकार करना पडेगा। उसे इस बात का भी अध्ययन करना पडेगा कि किन-किन वस्तुओ से सर्वसाधारण का सुख बढ सकेगा और किन-किन उपायो से काफी माल तैयार हो सकेगा।

२

एक आदमी को अपने परिवार के लायक अच्छा भोजन, आरामदार मकान और जरूरी कपडे प्राप्त करने के लिए कितने घण्टे रोज़ काम करना पडेगा? इस प्रश्न पर साम्यवादी लोगो ने काफी दिमाग खर्च किया है, और वे इस साधारण परिणाम पर पहुंचे हैं कि केवल चार-पॉच घंटे रोज़ का काम पर्याप्त होगा। परन्तु यह खूब समझ लेना चाहिए कि इसमे शर्त यही है कि सब आदमी काम करें। पिछली शताब्दी के अन्त मे बैंजमिन फ्रेन्कलिन ने पॉच घण्टे का समय निश्चित किया था। रही बात इस समय की, सो जैसे सुख-सुविधा की ज़रूरत बढ़ गई है वैसे ही उत्पादन की शक्ति और तेज़ी भी ज्यादा हो गई है।

आगे कृषि के वर्णन मे हम बतावेंगे कि आदमी आजकल जिस प्रकार प्रायः आडे-टेढे बुरे ढंग से जुती हुई जमीन मे बीज डाल देता है, वैसा न करके यदि वह उचित ढंग से कृषि करे तो ज़मीन से बहुत ज्यादा पैदा किया जा सकता है। पश्चिमी अमेरिका के फार्मों मे से कोई-कोई तो ३०-३० वर्गमील के है, पर इनकी ज़मीन सभ्य देशो की खाद से तैयार की हुई ज़मीन की अपेक्षा हलकी है। उन बडे फार्मों मे एक एकड ज़मीन मे ८ से लेकर १२ मन तक ही पैदा होता है, अर्थात् उनमे यूरोप और पूर्वीय अमेरिका के फार्मों से आधी ही पैदा होती है। और फिर भी ऐसी मशीनो की कृपा से जिनसे कि २ आदमी ही ४ एकड भूमि जोत सकते हैं, एक वर्ष मे १०० आदमी इतना अन्न उत्पन्न कर सकते हैं जितना साल भर मे १०,००० आदमियो को चाहिए।

तो उत्पत्ति के इसी हिसाब को प्रमाण मानते हुए, साल भर का अन्न प्राप्त करने के लिए एक मनुष्य का ३० घण्टे, अथवा ५-५ घंटो के ६

अर्धदिन मेहनत करना काफ़ी होगा। और ५ व्यक्तियो के परिवार को अन्न प्राप्त करने के वास्ते ३० अर्धदिन की मेहनत काफी होगी।

आजकल वैज्ञानिक ढंग से खेती करने के जो परिणाम प्राप्त हुए है, उनसे हम यह भी सिद्ध करेगे कि यदि हम उत्कृष्ट ढंग की खेती करे, तो एक पूरे परिवार को रोटी, मॉस, शाक और बढ़िया फल प्राप्त करने के लिये ६ अर्धदिनो से भी कम काम करना काफ़ी होगा।

दूसरे, आजकल बडे शहरो मे श्रमिको के लिए जिस प्रकार के घर बने होते हैं उस प्रकार के घर बनाने के लिये १४०० या १८०० (पॉच-पॉच घंटो के) अर्धदिनो का काम काफी होगा। इङ्गलैण्ड के बडे-बडे शहरों मे मज़दूरो के लिए जैसे मिले-जुले छोटे छोटे घर होते है, वैसा एक घर २५० पौंड मे बन जाता है। और, चूँकि इस प्रकार के घरो की उम्र कम-से-कम ५ साल होती है, इसलिए परिणाम यह निकलता है कि हरसाल २८ से ३६ अर्धदिनो की मेहनत से ऐसा मकान तैयार हो सकता है, जो सामान, तन्दुरुस्ती और आराम सब बातो के लिहाज़ से एक परिवार के रहने लायक हो। परन्तु उसी घर के किराये मे मजदूर अपने मालिक को ७५ या १०० दिन की कमाई दे देते हैं।

और, यह तो इङ्गलैण्ड की दशा उस हालत मे है जब कि वर्तमान समाज का संगठन दोषपूर्ण है। बेल्जियम मे मज़दूरो के घर इससे बहुत कम लागत मे बने है। इसलिए प्रत्येक बात पर विचार करते हुए, हम यह मान सकते है कि एक सुसंगठित समाज मे एक पूर्ण सुविधायुक्त घर प्राप्त करने के लिए वर्ष मे ३० या ४० अर्धदिनो की मेहनत काफी होगी।

अब रह जाता है कपडा। कपडे का ठीक-ठीक मूल्य निर्धारित करना प्राय. असम्भव ही है, कारण कि बहु-संख्यक बीचवाले लोगो के मुनाफे का अन्दाजा नही लग सकता। किसी कपडे को लीजिए। यदि हम उस सारे कर का हिसाब लगाएं जो भूस्वामी, भेडो के मालिक, ऊन के व्यापारी और उनके भी बीचवाले एजेण्ट, फिर रेलवे कंपनियॉ, मिल-मालिक, बुनने वाले, तैयार कपडे के व्यापारी, विक्रेता और दलाल आदि लोगों ने कपडे के प्रत्येक गज़ पर लगा रक्खा है, तो हमे मालूम पडेगा

कि हमे एक-एक वस्त्र पर पूँजी वालो के दल को कितना देना पडता है। इसीलिए तो यह बताना पूर्णतया असम्भव है कि जो ओवरकोट आप लंदन की एक बडी दूकान से ३ या ४ पौण्ड मे खरीदते है, वह वास्तव में कितने दिन के श्रम का फल है।

इतना तो निश्चय है कि आजकल के यन्त्रो से बहुत ही अधिक माल सस्ता और शीघ्रता से तैयार किया जा सकता है।

इस विषय मे थोडे से उदाहरण काफ़ी होगे। यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका) मे सूती कपड़े की ७५१ मिलो मे १,७५,००० पुरुष और स्त्रियाँ २,०३,३०,००,००० गज़ सूती माल तैयार करते है, और इसके अतिरिक्त बहुत-सा धागा भी बनाते हैं। औसतन् ६॥ घंटे के ३०० दिनो की मेहनत से १२००० गज़ अथवा १० घंटो की मेहनत से ४० गज़ सूती कपडा तैयार होता है। यदि यह मानलें कि एक परिवार के लिए २०० गज़ कपडा एक वर्ष मे चाहिए, तो यह ५० घंटो का, अथवा ५-५ घंटे के १० अर्धदिनो का काम हुआ। सूत-मिश्रित ऊनी वस्त्र बुनने के लिए सूत और सीने के लिए धागा इसके अलावा होगा।

यूनाइटेड स्टेट्स के, केवल बुनाई के, सरकारी आंकडे बतलाते है कि १८७० में, श्रमिक १३-१४ घंटे दैनिक काम करके वर्ष मे १०,००० गज़ सफेद सूती कपडा बना लेते थे। सोलह बर्ष बाद (१८८५) मे वे हफ्ते मे ५५ घंटे काम करके ही ३०,००० गज़ बुन लेते थे।

छपाई का सूती वस्त्र भी, जिसमे बुनाई और छपाई शामिल है व मे २६७० घंटो के काम से ३२,००० गज़ बनाया जाता था, अर्थात् १ घंटे मे १२ गज़। इस प्रकार सफेद और छपे हुए २०० गज़ सूती कपडे के लिए वर्ष मे १७ घण्टे का परिश्रम काफी होगा। यह भी जान लेना आवश्यक है कि इन कारख़ानो मे कच्चा माल प्राय. उसी अवस्था मे पहुँचता है जिस अवस्था मे वह खेतो से आता है, और माल तैयार होने तक के सारे परिवर्तन इन्हीं १७ घंटो मे हो जाते है। परन्तु इस २०० गज कपडे के दूकानदार से ख़रीदने मे, एक अच्छा वेतन पाने वाले श्रमिक को कम-से-कम १० घंटे के १५ दिनो का, अर्थात् १०० या १५० घंटों

का श्रम खर्च करना पडता है। रही बात इंगलैण्ड के किसान की। सो, उसके लिए तो यह एक शौक की चीज़ है, और उसे खरीदने के लिए उसे महीने सवा-महीने घोर परिश्रम करना पडे।

इस उदाहरण से प्रकट है कि सुसङ्गठित समाज मे हम वर्ष में ५० अर्धदिन काम करके आजकल के निम्न मध्यवर्ग के लोगो से अच्छा कपडा पहन सकते है।

इस हिसाब से हमको ५-५ घंटे के ६० अर्धदिन भूमि की उत्पत्ति प्राप्त करने मे, ४० अर्धदिन घर तैयार करने में और ५० अर्धदिन वस्त्र प्राप्त करने मे लगे, जो कि मिलकर आधे ही वर्ष का काम हुआ, क्योकि छुट्टी के दिनो को घटा देने पर वर्ष ३०० श्रम दिवसों का ही होता है।

इसके बाद भी १५ अर्धदिनो का श्रम शेष रह जाता है, जोकि जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुओं—चीनी, मसाले, फरनीचर, सवारी या वज़न ढोने की गाडियों आदि—के वास्ते काम मे आ सकता है।

यह तो स्पष्ट ही है, कि ये गणनाएं केवल अन्दाजन सही हैं। परन्तु ये दूसरे प्रकार से भी प्रमाणित की जा सकती हैं। जब हम यह हिसाब लगाते हैं कि सभ्य कहलाने वाले राष्ट्रो मे कितने लोग तो कुछ भी मेहनत नहीं करते, कितने लोग हानिकर और अनावश्यक व्यवसायो मे लगे हुए हैं, और मध्यमवर्ग के कितने ही लोग अनुपयोगी हैं, तब हमे मालूम होता है कि प्रत्येक राष्ट्र में सच्चे उत्पादक लोगो की संख्या दुगनी हो सकती है। यदि १० आदमी की जगह २० आदमी उपयोगी वस्तुओं के उत्पन्न करने मे लग जायें और समाज मेहनत मे किफायत करने लगे, तो उन २० आदमियो को केवल ५ घण्टे प्रतिदिन काम करना पडेगा और उत्पत्ति कम न होगी। धनाढ्य घरानो मे बीसियों नौकर रक्खे जाते है और शासन-संगठन में आठ-दस प्रजाजनो पर एक राज्य-कर्मचारी रक्खा जाता है और इससे मनुष्य-शक्ति का अपव्यय होता है। यह शक्ति राष्ट्र की उत्पत्ति बढाने में उपयुक्त हो सकती है। वास्तव मे जितना माल आज तैयार हो रहा है उतना तो, यदि सब आदमी रोज़ तीन या चार घंटे काम करें, तो भी तैयार हो

सकता है।

इन सारी बातों का अध्ययन करने के पश्चात् हम निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचते है। कल्पना कीजिए कि एक ऐसा समाज है जिसमे कई लाख निवासी हैं जो कृषि और उद्योग-धन्धों में लगे हुए है। मान लो कि इस समाज मे सारे बच्चे अपने हाथो और अपने मस्तिष्क से काम करना सीखते हैं, और सिवाय उन स्त्रियों के जो कि अपने बच्चो के शिक्षण मे लगी रहती है, शेष सब स्त्री-पुरुष बीस-बाईस वर्ष से लेकर पैंतालीस-पचास वर्ष की आयु तक, ५ घण्टे प्रतिदिन काम करते हैं। वे इस नगर मे आवश्यक समझे जाने वाले व्यवसायो मे से किसी एक को स्वयं पसन्द कर लेते है। ऐसा समाज अपने सारे सदस्यो को खुशहाल रखने का वादा कर सकता है, और वह खुशहाली आजकल के मध्यमवर्गों की खुशहाली से अधिक वास्तविक होगी। इसके अलावा इस समाज के प्रत्येक श्रमिक के पास कम-से-कम ५ घण्टे बच रहेगे। अपने इस समय को वह विज्ञान, कला और व्यक्तिगत आवश्यक कार्यों पर व्यय कर सकेगा—जोकि आजकल आवश्यकता की कोटि मे नहीं आते, परन्तु जब मनुष्य की उत्पादक-शक्ति बढ़ जायगी और जब वे दुष्प्राप्य या विलास-वस्तु न समझे जायँगे तब सम्भवत. आवश्यकता की कोटि में आ जायँ।

: ६ :

विलास-सामग्री की जरूरत

१

मनुष्य ऐसा प्राणी नही है जिसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य खाना, पीना और घर बनाकर रहना ही हो। ज्योही उसकी भौतिक आवश्यकताएँ पूर्ण हो जायँगी, त्योही दूसरी आवश्यकताएँ जो साधारणतः कलामय कही जा सकती है, उसके आगे आ खडी होगी। ये आवश्यकताएँ अनेको प्रकार की होगी, और व्यक्ति-व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न होगी। समाज

जितना ही अधिक सभ्य होगा, व्यक्तित्व भी उतना ही अधिक उन्नत होगा, और आकाँक्षाएँ भी उतनी ही अधिक भिन्न-भिन्न होगी।

वर्तमान अवस्था मे भी हम देखते है कि स्त्रियाँ और पुरुष छोटी-छोटी चीजो के लिए, अपनी कोई अभिलाषा पूर्ण करने के लिए या कोई मानसिक या भौतिक आनन्द प्राप्ति के लिये, आवश्यकताओ का भी त्याग कर देते है। एक धर्मात्मा या त्यागी व्यक्ति विलास-वस्तुओ की आकांक्षा को बुरा बता सकता है, परन्तु इन छोटी-मोटी चीजो या बातो के कारण ही तो जीवन की एकरसता भंग होती है और वह आनन्दपूर्ण बनता है। जिस जीवन मे इतनी असह्यता और इतने क्लेश है, उसमे यदि रोज़ाना काम के अलावा मनुष्य को अपनी व्यक्तिगत रुचियो के अनुसार कुछ भी आनन्द न हो सके, तो क्या वह जीवन भी कोई जीवन होगा?

हम साम्यवादी क्रान्ति इसलिए चाहते है कि उसका उद्देश्य सर्व-प्रथम तो सबको रोटी देना है। उसका उद्देश्य उस घृणित समाज को परिवर्तित कर देना है जिसमें हर समय अच्छे-अच्छे कारीगर किसी लुटेरे कारखानेदार के यहाँ काम पाने के लिए मारे-मारे फिरते है, जिसमे परिवार-के-परिवार रूखी रोटी पर गुज़र करते है, जिसमे स्त्रियाँ और बालक रात मे इधर-उधर अनाश्रित फिरते है, और जिसमे पुरुषो, स्त्रियो और बालको की न तो कोई देख-रेख करने वाला है और न उनको भोजन ही मिल पाता है। इन अन्यायो का अन्त करने के लिए ही हम विद्रोह करते है।

परन्तु हमे क्रान्ति से केवल इतनी ही आशाएँ नही है। हम देखते है कि एक मजदूर है जो बडी मुश्किल से किसी तरह अपना गुजारा कर पाता है। उसे मनुष्य की शक्ति मे जो उच्चतम आनन्द की चीज़ें—विज्ञान और वैज्ञानिक आविष्कार तथा कला और कला की सृष्टि—है ये भुला ही देनी पडती है। ये चीज़ें उस बेचारे को मिल ही कहाँ सकती है? जो आनन्द आज थोडे-से लोगो के लिए ही है, वह हम सब को मिल सके, प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी मानसिक योग्यता बढा सके, और उसके लिए उसको मौका मिल सके, इसीलिए तो साम्यवादी क्रान्ति को सबके भोजन की व्यवस्था करनी पडेगी। पेट भर चुकने के बाद आराम का वक्त पाना

ही मुख्य साध्य है।

आजकल लाखों मनुष्य रोटी, ईंधन, कपड़े और घर के लिए मुहताज हैं। ऐसी अवस्था में भोग-विलास निःसन्देह अपराध है। उसको प्राप्त करने के लिए मज़दूरों के बच्चों को भूखा रखना पड़ता है। परन्तु जिस समाज में सबको भरपेट खाना और रहने को घर मिलता हो, उसमें तो जिन चीज़ों को आज हम विलास-वस्तुएँ समझते है उनकी और भी अधिक ज़रूरत मालूम होगी। और, सब आदमी एक से नहीं है, और न हो सकते है। विविध रुचियाँ और आवश्यकताएँ होना तो मानवीय प्रगति का मुख्य प्रमाण है। इसलिए ऐसे स्त्री-पुरुष तो सदा रहेंगे और उनका रहना अच्छा भी है, जिनकी इच्छाएँ किसी न किसी दिशा में साधारण लोगों से बढ़ कर होंगी।

दूरबीन की हर एक आदमी को ज़रूरत नहीं हुआ करती। चाहे शिक्षा सर्वसाधारण में कितनी ही क्यों न फैल जाय, तो भी ऐसे लोग तो रहते ही है, जो आकाश के नक्षत्रों को दूरबीन से देखना उतना पसंद नहीं करते जितना सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से सूक्ष्म वस्तुओं का निरीक्षण करना। किसी को मूर्तियाँ अच्छी लगती है, किसी को चित्र। एक व्यक्ति अच्छे हारमोनियम की ही चाह रखता है, और एक सितार से प्रसन्न रहता है। रुचियाँ भिन्न-भिन्न है, परन्तु कला की चाह सब में मौजूद है। आजकल के अभागे पूँजीवादी समाज मे आदमी कला की अपनी आवश्यकताओं को तबतक सतुष्ट नहीं कर सकता जबतक कि वह किसी बड़ी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी न हो जाय, या कड़ी मेहनत करके डाक्टरी, वकालत आदि अच्छा धन्धा करने लायक काफी दिमागी पूँजी इकट्ठी न करले। फिर भी वह यह आशा बाँधे रहता है कि मैं किसी-न-किसी दिन थोड़ा या बहुत अपनी रुचियों को सन्तुष्ट कर लूँगा। इसी कारण, जब उसे यह मालूम होता है कि आदर्शवादी समाजवाद ने भौतिक जीवन को ही अपना एकमात्र लक्ष्य बना रक्खा है, तब वह उसे बहुत बुरा बतलाता है। वह हमसे कहता है—"शायद अपने साम्यवादी भण्डार में तुम सब-के लिए रोटियाँ रक्खोगे। परन्तु तुम्हारे पास सुन्दर चित्र, दृष्टि-सहायक

यन्त्र, बढ़िया फरनीचर और कलापूर्ण आभूषण आदि मनुष्यो की भिन्न-भिन्न अनन्त रुचियो को सन्तुष्ट करने वाली विविध वस्तुएँ न होगी। पंचायती समाज से तो रोटी और शाक सब को मिलेगा, और नगर की अच्छी स्त्रियों तक के पहनने को सिर्फ मोटी भद्दी-सी खद्दर मिल सकेगी। तुम इसके अलावा और सब चीज़ो का मिलना बन्द कर दोगे।''

सब प्रकार के समाजवादियो को ऐसी-ऐसी शङ्काओ का समाधान करना ही पडेगा। इन्ही शङ्काओ को अमेरिकन मरुभूमियो में स्थापित होने वाले नये समाजो के संस्थापको ने नही समझ पाया था। उनका खयाल था कि समुदाय के सब व्यक्तियों को पहनने लायक काफ़ी कपड़ा प्राप्त हो जाय, और एक ऐसा संगीत-गृह तैयार हो जाय जिसमे सब "भाई" गाना गा-बजा सकें या नाटक खेल सके। बस इतना ही काफ़ी है। और ज्यादा क्या चाहिए? पर वे इस बात को भूल गए कि कला की प्रवृत्ति तो किसान मे भी उतनी ही पाई जाती है जितनी शहर वाले मे। उस समुदाय ने तो सबके जीवन की सामान्य आवश्यकताओं का प्रबन्ध किया, व्यक्तिवाद बढाने वाली शिक्षा-प्रणाली का दमन किया, और बाइबल के सिवाय और सब विषयो का पढ़ना बन्द कराया। परन्तु सब व्यर्थ हुआ। व्यक्तियो की भिन्न-भिन्न रुचियाँ उत्पन्न हो गईं, और उन्होने बडा असन्तोष पैदा किया। जब किसी व्यक्ति ने एक-आध पियानो या वैज्ञानिक यन्त्र खरीदना चाहा तभी झगडे खडे हो गये, और प्रगति के मूल-तत्व शिथिल पड गए। उस समाज का अस्तित्व केवल तभी रह सकता था जब वह सारी व्यक्तिगत प्रवृत्ति, सारी कला-रुचि और सारे विकास को कुचल देता।

क्या अराजक समाज उसी दिशा की ओर बढ़ेगा? इसका स्पष्ट उत्तर है, 'नहीं' वह यह समझता है कि आधिभौतिक जीवन के लिए आवश्यक सामग्री उत्पन्न करने के साथ-ही-साथ उसे मनुष्य की सारी मानसिक वृत्तियो को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न भी करना पडेगा। शरीर की आवश्यकताएँ पूरी करने के साथ-ही-साथ दिल और दिमाग़ की भूख भी बुझानी पडेगी।

२

'जिस समाज मे सबके भोजन की उचित व्यवस्था हो चुकी हो, यदि उस समाज का कोई आदमी चाइना सिल्क का कपडा या मख़मल की पोशाक पाने की व्यक्तिगत इच्छा करे, तो इसका क्या उपाय किया जायगा?' यह एक प्रश्न है। परन्तु जब हमे सब तरफ़ फैली हुई दरिद्रता और पीडा की अथाह खाई का खयाल होता है, और जब हम मज़दूरी ढूँढते फिरनेवाले श्रमिको के हृदय-विदारक चीत्कार को सुनते है, तब तो इस प्रश्न पर विचार करने तक की हमारी इच्छा नही होती।

हम तो यह उत्तर देना चाहते है कि पहले तो हमे रोटी का ही निश्चित उपाय कर लेना चाहिए; चाइना सिल्क या मख़मल की बात पीछे सोच ली जायगी।

परन्तु हम यह मानते हैं कि भोजन के अतिरिक्त मनुष्य की अन्य आकांक्षाएँ भी होती है। अराजकवाद की आधार-शिला इसी बात पर स्थित है कि वह मनुष्य की समस्त शक्तियो और समस्त अभिलाषाओ और मनोवृत्तियो को ध्यान मे रखता है और एक को भी भुलाता नही है। इसलिए, संक्षेप मे हम यह बतायेंगे कि किस उपाय से मनुष्य अपनी बुद्धि-विषयक और कला-विषयक आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता है।

यह वर्णन हम पहले कर ही चुके है कि ४५-५० वर्ष की आयु तक रोज़ ४ या ५ घण्टे काम करने से मनुष्य आसानी से उन सब वस्तुओ को पा सकता है जिनसे समाज सुख-सुविधा से रह सके।

परन्तु जो मनुष्य परिश्रमी होता है उसका दैनिक कार्य ५ ही घण्टे का नही होता। उसका दैनिक कार्य, वर्ष के ३० दिनो मे १० घटे का होता है, और यह जीवन भर रहता है। इसमे तो शक नही कि यदि कोई आदमी मशीन मे जुता रहे, तो उसका स्वास्थ्य शीघ्र गिर जायगा, और उसकी बुद्धि मन्द पड जायगी। परन्तु जब उसे विविध काम करने की स्वतन्त्रता हो, और विशेषतः जब वह शारीरिक काम के स्थान पर

मानसिक काम बदल कर ग्रहण कर सके, तब तो वह बिना थके, बल्कि आनन्द के साथ रोज़ १० या १२ घण्टे काम कर सकेगा। फलत: वह मनुष्य जो जीवित रहने के लिए आवश्यक ४-५ घंटे मेहनत कर चुका होगा, उसके पास ५ या ६ घंटे का समय और बच रहेगा। वह इसका उपयोग अपनी रुचियो के अनुसार करेगा। आवश्यकता की जो चीज़े समाज की ओर से सबको मिलती है वे तो उसे मिलेगी ही। उनके अलावा यदि वह दूसरो के साथ मिल कर काम करेगा तो इन दैनिक ५ या ६ घण्टो के काम से वह जो-कुछ चाहेगा पूर्णतः प्राप्त कर सकेगा।

सार्वजनिक उत्पत्ति के काम मे भाग लेना मनुष्य का सामाजिक कर्तव्य है। पहले तो वह खेत, कारख़ाने आदि मे अपने हिस्से का काम करके इसे पूरा करेगा। इसके बाद वह अपना आधा दिन, आधा सप्ताह या आधा वर्ष अपनी कला या विज्ञान की आवश्यकताओ या अपने शौक को पूरा करने में लगायगा।

उस समय हज़ारों संस्थाएं प्रत्येक रुचि और प्रवृत्ति की पूर्ति के लिए पैदा हो जायंगी।

उदाहरण के लिए कुछ लोग अवकाश के समय को साहित्य मे लगायंगे। वे ऐसे संघ बना लेंगे जिनमे लेखक, कम्पोज़ीटर, प्रिन्टर, ब्लाक खोदने वाले, नक़शे बनानेवाले आदि लोग होगे, और जिनका सामान्य उद्देश्य होगा अपने प्रिय विचारो का प्रचार करना।

आजकल लेखक इस बात को जानने की शायद ही कोशिश करता है कि छापाख़ाना किस प्रकार का होता है। वह जानता है कि उसकी किताबे छापने के वास्ते एक श्रमिक है जिससे वह कुछ आने रोज़ मज़दूरी देकर पशु के समान काम ले सकता है। यदि कम्पोजीटर टाइप के सीसे के विष से बीमार हो जाय या मशीन पर निगाह रखनेवाला लडका पाण्डु-रोग से मर जाय, तो उसका क्या बिगडता है? उसका काम करने के लिए दूसरे अभागे कंगाल बहुतेरे मिल जायंगे।

परन्तु जब एक भी भूखो-मरता आदमी नाममात्र की मजदूरी पर अपना श्रम विक्रय करने को तैयार न मिलेगा, जब आज का लुटा हुआ

श्रमिक शिक्षित हो जायगा, और जब उसे भी अपने निज के विचार लिख कर दूसरो के पास पहुँचाने होंगे, तो मजबूरन लेखकों और वैज्ञानिकों को मिल कर छापेख़ानें वालों का सहयोग प्राप्त करना होगा। तब कहीं उनका गद्य और पद्य प्रकाशित हो सकेगा।

जबतक लोग मोटे कपडे और शारीरिक श्रम को नीचे दर्जे की चीज़ समझते रहेगे तबतक तो उन्हे अवश्य इस बात पर आश्चर्य होगा कि एक लेखक स्वयं ही अपनी किताब के अक्षर कम्पोज़ करे। वे सोचेंगे कि क्या उसके मनोरंजन के लिए उसकी व्यायामशाला या दूसरे खेल नही है? परन्तु जब शारीरिक श्रम के सम्बन्ध में अनादर-दृष्टि नष्ट हो जायगी, जब सब को अपने हाथों काम करना पडेगा—क्योकि उनका काम करने वाला दूसरा कोई न होगा—तब लेखक और उनके भक्त लोग शीघ्र ही कम्पोज़िग स्टिक और टाइप पकडना सीख जायँगे। तब जो-जो लोग छपनेवाली किताब के प्रशंसक होगे वे संगठित होकर टाइप जमाने, पेज बॉधने और सुन्दर छपाई करने के कार्य मे आनन्द मानेंगे। आजकल की सुन्दर-सुन्दर मशीनें तो सुबह से रात तक उन पर बैठने वाले लडको के लिए यातना देने वाले यन्त्र मात्र है, परन्तु उस समय जो लोग अपने प्रिय लेखक के विचारो को प्रकाशित करने के लिए उन-से काम लेंगे, उनके लिए वे आनन्द-साधन हो जायँगे।

क्या इससे साहित्य को हानि पहुँचेगी? क्या अपनी किताब के लिए बाहर जाकर काम करने या अपने हाथो से उसमे सहायता दे देने से कवि कवि न रहेगा? जंगल मे या कारख़ाने मे, सडक बनाने या रेलवे लाइन डालने के काम मे, एक उपन्यासकार दूसरे आदमियो के साथ कन्धे-से-कन्धा मिला कर काम करे तो क्या वह मानव-प्रकृति के अपने ज्ञान को भूल जायगा? इन प्रश्नों के दो उत्तर नही हो सकते।

संभव है कि कुछ पुस्तके बहुत बडी न छप पायं, परन्तु फल यह होगा कि थोडे ही पृष्ठों मे अधिक सामग्री रहेगी। सम्भव है कि अनावश्यक कागज़ कम छप पायें, परन्तु जो कुछ छपा करेगा वह अधिक ध्यान देकर पढा जायगा और अधिक आदर प्राप्त करेगा। उस समय के

पाठक आज की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से शिक्षा पाये हुए होंगे। वह पुस्तक उस अधिक विस्तृत क्षेत्र मे प्रभाव डालेगी, और वे लोग बात को अधिक अच्छी भांति समझने के योग्य होंगे।

इसके अतिरिक्त, छपाई की कला तो अभी बाल्यावस्था मे ही है। उसमे यूटेनबर्ग के काल के पश्चात् बहुत ही थोडी उन्नति हुई है। जितना दस मिन्टि मे लिख लिया जाता है उसके कम्पोज़ करने मे दो घण्टे लग जाते हैं, परन्तु विचारो को शीघ्रतर प्रकाशित करने के उपाय ढूँढे जा रहे है और ढूँढ लिए जायँगे।*

यह कितनी लज्जा की बात है कि लेखक अपनी पुस्तको की छपाई के काम मे स्वयं भाग न ले! ऐसा होता तो अभी तक छपाई की कला ने न जाने कितनी उन्नति कर ली होती! सत्रहवी शताब्दी की तरह आज हमे हाथ से उठाये जाने वाले टाइपों का प्रयोग न करना पडता।

३

सभी लोग आवश्यक वस्तुओं के उत्पादक हो, सभी विज्ञान और कला की वृद्धि करने योग्य शिक्षा पाये हुए हो, सब के पास इसके लिए अवकाश भी हो—और फिर वे शारीरिक श्रम में अपना-अपना हिस्सा बटाते हुए अपनी पसन्द की पुस्तको के प्रकाशन के लिए संगठन बनावें—क्या ऐसे समाज की कल्पना एक स्वप्नमात्र ही है? इस समय भी विद्वानो की, साहित्यिको की, तथा अन्य प्रकार के व्यक्तियो की सैकड़ो समितियाँ या सभाएँ हैं और ये समितियाँ या सभाये क्या हैं? वे ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं मे दिलचस्पी रखने वाले तथा अपने-अपने ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए सम्मिलित होनेवाले लोगो के स्वेच्छा से बनाये हुए अलग-अलग समूह है। इन संस्थाओ के सामयिक पत्रो मे लेख लिखने वालो को पुरस्कार नही मिलता, और इन सामयिक पत्रो की केवल थोडी-सी ही

---

* अधिक शीघ्रता से छापने के उपाय, उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखे जाने के बाद, निकल चुके हैं।

प्रतियाँ विक्रयार्थ होती है। उनकी प्रतियाँ संसार मे सब स्थानों पर उन दूसरी संस्थाओ को बिना मूल्य भेजी जाती है, जो उन्हीं ज्ञान-शाखाओ की वृद्धि में लगी हुई हैं। उस पत्र मे संस्था का एक सदस्य समालोचना-स्तम्भ मे अपने निष्कर्षों के सम्बन्ध मे एक पृष्ठ का नोट दे सकता है। दूसरा सदस्य, जिसने वर्षों तक किसी विषय का अध्ययन किया है, उस पर एक विस्तृत ग्रन्थ प्रकाशित करा सकता है। अन्य सदस्य और भी आगे अन्वेषण करते हैं और उसकी सम्मतियों से अपना अध्ययन प्रारम्भ करते हैं, और उन पर विचार करते रहते है। परन्तु इससे कोई भेद नहीं पडता। ये लेखक और पाठक अपनी सामान्य रुचि के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये सङ्गठित हुए हैं।

आजकल तो छपाई के लिए जिस प्रकार लेखक को उसी प्रकार समिति को भी ऐसे छापेखाने की शरण लेनी पडती है, जहाँ छपाई के लिए मज़दूर लगे रहते हैं। वर्तमान समय मे जो लोग साहित्यिक-सभाओं से सम्बन्ध रखते है, वे शारीरिक श्रम से घृणा करते है, क्योंकि उस श्रम की अवस्था आज बहुत ही बुरी हो रही है। परन्तु जो समाज अपने सारे सदस्यो को उदार, दार्शनिक और वैज्ञानिक शिक्षण देगा, वह तो शारीरिक श्रम को इस ढङ्ग से व्यवस्थित करेगा, जिससे वह मानव-जाति के अभिमान की वस्तु बन जायगी। उस समाज की साहित्यिक और विद्या-सभायें अन्वेषकों, विज्ञान-प्रेमियों और मज़दूरों के संघ होंगे। वे सब लोग शारीरिक-श्रम का कोई धंधा भी जानते होंगे और विज्ञान में दिलचस्पी भी रखते होंगे।

मान लीजिए कि एक संस्था भूगर्भ-विद्या का अध्ययन करती है। तो उस संस्था के सभी लोग पृथ्वी की परतों (Strata) का अन्वेषण करने मे योग देंगे। अन्वेषण-कार्य मे आजकल जहाँ सौ निरीक्षक भाग लेते है, उस समय वहां दस हजार निरीक्षक भाग लेंगे और जितना काम हम बीस वर्ष में करते हैं उससे अधिक कार्य वे एक वर्ष मे कर दिखाएंगे। और जब उनके ग्रन्थ छपने लगेंगे, तो विविध काम जानने वाले दस हज़ार स्त्री-पुरुष नकशे बनाने, डिज़ाइन खोदने, कंपोज़ करने और छपाई

करने के लिए तैयार रहेंगे। अपने अवकाश के समय को वे बडी प्रसन्नता के साथ ऋतु-ऋतु के अनुसार बाहर जाकर अन्वेषण करने मे या घर मे बैठ कर काम करने में लगायंगे। और, जब उनके ग्रन्थ निकलेगे तो उनको केवल सौ पाठक ही नही, किन्तु अपने सामान्य कार्य मे रुचि रखने वाले दस हजार पाठक मिल जायगे।

आज भी इसी दिशा मे प्रगति हो रही है। जब इंगलैण्ड को अंग्रेज़ी भाषा के एक पूर्ण कोष की आवश्यकता हुई, तो इस कार्य के लिए एक साहित्य-महारथी के जन्म की प्रतीक्षा नहीं की गई। स्वयं-सेवको के लिए अपील निकाली गई और आदमियो ने अपनी सेवाएं अर्पण कर दी। वे अपने आप बिना कुछ लिए पुस्तकालयों मे से एक-एक बात ढूंढ निकालने, टिप्पणियां लिख लेने और जो काम एक आदमी एक जीवन-काल मे पूर्ण नही कर सकता था उसे थोडे ही वर्षों मे पूर्ण कर डालने के लिए जुट पडे। मानव-ज्ञान की प्रत्येक शाखा मे यही प्रवृत्ति काम कर रही है। यदि हम यह न समझ पायॅ कि वैयक्तिक कार्य की जगह पर अब सहयोगवाद आरहा है, और सहयोगवाद के इन प्रयोगो मे ही आगामी भविष्य अपना स्वरूप झलका रहा है, तो समझना चाहिए कि मनुष्य-जाति के विषय मे हमारा ज्ञान बहुत परिमित है।

इस कोष को भी यदि वास्तव मे सम्मिलित कार्य बनाना होता तो यह आवश्यक था कि अवैतनिक लेखक, छापनेवाले और संशोधक लोग मिल कर काम करते। साम्यवादी प्रकाशन-गृहो मे इस दिशा मे अब भी कुछ काम हुआ है। उससे हमे शारीरिक और मानसिक काम के सम्मिलित होने के उदाहरण मिलते हैं। हमारे समाचार-पत्रो मे ऐसा होता है कि साम्यवादी लेखक स्वयं ही अपना लेख कम्पोज़ करता है। ऐसे उदाहरण हैं तो कम, परन्तु उससे इतना तो प्रकट होता है कि विकास किस दिशा की ओर हो रहा है?

ये प्रयत्न स्वाधीनता का मार्ग दिखाते है। भविष्य मे जब किसी आदमी को कोई उपयोगी बात कहनी होगी—कोई ऐसा सन्देश देना होगा जो उसकी शताब्दी के विचारो से भी आगे जाने वाला होगा—

बंबई की 'ज़ूलाजीकल सोसायटी' उपहार-स्वरूप एक हाथी भेज देती है; कभी मिश्र के प्रकृति-विज्ञान के अध्ययन करनेवाले लोग एक हिपोपोटेमस पशु या गेंडा भेज देते है। ये महान् उपहार-पक्षी रेंगनेवाले जीव (Reptiles) कीडे आदि—संसार के सब स्थानो से प्रतिदिन बडी संख्या मे आते रहते है। ससार का सारा ख़ज़ाना भी ऐसे माल को ख़रीद नही सकता। इसी प्रकार, एक भ्रमण करने वाला व्यक्ति अपनी जान को जोखम में डाल कर किसी जानवर को पकडता है, और उस पर एक बालक की भाति स्नेह करने लगता है। वह उस जानवर को उस सोसायटी को भेंट करता है, क्योकि उसे ज्ञात है कि वहाँ उसकी संभाल की जायगी। उस महान् संस्था मे आनेवाले असंख्य दर्शको के प्रवेश-शुल्क से ही उस महान् संस्था का व्यय चल जाता है।

लन्दन की 'ज़ूलाजीकल सोसायटी' तथा उसी भांति की अन्य संस्थाओं में यदि कमी है तो यह है कि सदस्य-शुल्क श्रम के रूप नहीं लिया जा सकता। इस बडी संस्था के रखने वाले और बहुसंख्यक नौकर इसके सदस्य नही माने जाते। और अनेक सदस्य तो ऐसे भी हैं जो केवल अपने कार्डो पर F Z S. (Fellow of the Zoological Society) अक्षर लिखने के लिए ही इस संस्था के सदस्य बने हैं। संक्षेप मे कह सकते है कि सहयोग अधिक पूर्ण होना चाहिए।

जो बात हमने वैज्ञानिको के बारे में कही है वही आविष्कार करने वालो के विषय मे भी कह सकते है। बडे-बडे आविष्कारो के लिए प्रायः कितने-कितने कष्ट उठाये गये हैं—यह कौन नही जानता? रातो-की-रातें बिना सोये बीत गईं, परिवार भूखे ही रह गये, प्रयोगों के लिए औज़ार और सामान भी न मिल पाया, यह है उन सब लोगो का इतिहास जिन्होने हमारी सभ्यता का गौरव बढ़ानेवाले आविष्कार किये और उनसे उद्योग-धन्धो को समृद्ध किया।

परन्तु जिस परिस्थिति को सभी लोग विश्वासपूर्वक बुरा बताते हैं उसको बदलने के लिए हमको करना क्या चाहिए? पेटेन्ट कराने का तरीका भी आज़मा लिया गया और जो परिणाम हुआ वह हमें मालूम

है। आविष्कार करनेवाला व्यक्ति कुछ मूल्य लेकर अपने पेटेन्ट को बेच देता है, फिर पूँजी लगानेवाला व्यक्ति ही उसके भारी-भारी मुनाफो को हडप करता रहता है। पेटेन्ट कराने वाला अन्य सब आविष्कारको से पृथक भी हो जाता है। उसे अपने आविष्कार को गुप्त रखना पडता है और इससे आविष्कार अधूरा रह जाता है। परन्तु कभी-कभी तो तात्त्विक विचार मे न लगे हुए मस्तिष्क की किसी छोटी-सी सूझ से ही वह आविष्कार समृद्ध हो सकता है और व्यवहारोपयोगी बन सकता है। उद्योग-धन्धों की उन्नति मे जिस तरह राज्य के सब प्रकार के नियन्त्रण रुकावट डालते है उसी तरह पेटेन्ट प्रणाली से भी रुकावट होती है। विचार पेटेन्ट किये जाने की चीज़ नही है। इसलिए सिद्धान्त की दृष्टि से पेटेन्ट कराने की प्रणाली एक घोर अन्याय है, और व्यवहार मे उसका परिणाम यह होता है कि आविष्कार के जल्दी-जल्दी विकास होने मे बडी बाधा खडी हो जाती है।

आविष्कार की वृत्ति को बढ़ाने के लिए जिस बात की आवश्यकता है वह तो है, सबसे पहले, विचार की जाग्रति, बडी-बडी कल्पनाओ के करने की शक्ति। परन्तु उसी को आजकल की हमारी सारी शिक्षा निर्जीव कर देती है। आवश्यकता है कि वैज्ञानिक शिक्षा का विस्तार किया जाय, जिससे अन्वेषको की संख्या सौगुनी बढ़ जाय। आवश्यकता है हृदय मे इस विश्वास की कि मनुष्यजाति एक क़दम आगे बढ़ रही है; क्योकि सभी बडे-बडे आविष्कारको को लगन-अर्थात् मनुष्य-समाज के कल्याण की आशा से ही स्फूर्ति मिली है। साम्यवादी क्रान्ति ही विचार को इस उत्तेजना, कल्पना की इस महत्ता, इस ज्ञान, और सबके कल्याण के इस विश्वास को प्रदान कर सकती है।

उस समय हमारे पास विशाल-विशाल संस्थाएँ होगी, उनमे मोटर-(सञ्चालक) शक्ति और सब प्रकार के औजार होगे। उस समय हमारे पास बडी-बडी औद्योगिक प्रयोग-शालाएँ होगी, जो सब परीक्षकों के लिए खुली रहेगी। समाज के प्रति अपने आवश्यक कर्त्तव्य को पूर्ण करने के पश्चात् लोग वहां अपनी-अपनी कल्पनाओ को कार्यरूप मे ला सकेगे।

उस समय हमारे पास बडे-बड़े यन्त्रालय होगे। वहाँ लोग अपनी फ़ुरसत के पॉच या छः घण्टे बिता सकेंगे। वहाँ उन्हे दूसरे साथी भी मिलेंगे, जो किसी गहन प्रश्न का अध्ययन करने के लिए आये हुए होगे, और जो अन्य उद्योग-धन्धो के विशेषज्ञ होगे। वे एक-दूसरे की सहायता करेंगे, और एक-दूसरे के ज्ञान की वृद्धि कर सकेंगे—उनके विचार और अनुभव के संघर्ष और परामर्श से सबकी अपनी-अपनी समस्याएँ हल हो जायँगी। और, यह तो कोई स्वप्न की-सी बात नही है। पीटर्सबर्ग मे सोलेनाय गोरोडोक संस्था ने यन्त्रो और कला-कौशल सम्बन्धी विषय मे अंशतः इस बात को कर दिखाया है। इस कारख़ाने मे सब तरह के औज़ार हैं और वह सबके लिए निःशुल्क है। औज़ार और मोटर-शक्ति मुफ्त दी जाती है। सिर्फ धातुओ और लकडी के दाम लागतमात्र लिए जाते हैं। दुर्भाग्य से कारीगर लोग वहाँ केवल रात्रि को ही जाते है। उस समय वे बेचारे वर्कशॉप के दस घंटे के काम से थके हुए होते है। इसके अतिरिक्त वे बडी सावधानी के साथ एक-दूसरे से अपने आविष्कारो को छिपाते रहते है। पेटेन्ट-प्रणाली और पूँजीवाद, जो वर्तमान समाज का अभिशाप है और बौद्धिक और नैतिक उन्नति के रास्ते का रोडा है, उनके दिमाग़ मे पूरी तरह घुसा हुआ है।

५

और कला का क्या हाल है? सब तरफ से हमे कला के ह्रास का रोना सुनाई देता है। पुनरुत्थान (Renaissance) के कलायुग से वास्तव मे हम बहुत पिछड गये हैं। कला के नियमो ने तो हाल मे बडी उन्नति की है, हज़ारो आदमी प्रत्येक शाखा को बढ़ाने का काम कर रहे हैं और उनमे कुशल-बुद्धि लोग भी काफी है। परन्तु हमारी संस्कृति से कला दूर भागती हुई दिखाई देती है। नियम तो बढ़ रहे है, परन्तु कलाकारो के कला-भवनो मे स्फूर्ति और प्रतिभा बहुत कम आया करती है।

वह आवे भी कहाँ से ? महान् विचार ही तो मनुष्य को कला की स्फूर्ति दे सकता है। हमारे आदर्श के अनुसार कला सृष्टि (Creation) का पर्यायवाची शब्द है। उसकी दृष्टि बहुत आगे पहुँचनी चाहिए। परन्तु बहुत ही थोड़े अपवादों को छोड़कर शेष व्यवसायी कलाकार तो व्यावहारिक-से हो गये हैं। वे नई कल्पनाओं को नहीं खोज सकते।

इसके अतिरिक्त यह स्फूर्ति पुस्तकों से नहीं आसकती, वह जीवन मे से आनी चाहिए। परन्तु वर्तमान समाज उसको जाग्रत नही कर सकता।

रेफेल और म्यूरिलो उस युग में चित्रकारी करते थे जब कि पुरानी धार्मिक परम्पराओं को रखते हुए नये आदर्श की तलाश भी चल सकती थी। वे दोनों गिरजाघरों को सुशोभित करने के हेतु से चित्र बनाया करते थे। ये गिरजाघर भी नगर की कई पीढ़ियों के पवित्र श्रम से बने हुए थे। अपने अद्भुत दृश्य और ऐश्वर्य के सहित, गिरजा का बेसीलिक भवन स्वयं नगर के जीवन से सम्बद्ध था, और चित्रकार के हृदय मे स्फूर्ति जाग्रत कर सकता था। वह चित्रकार सार्वजनिक इमारतों के लिए काम करता था। वह अपने साथी नगरवासियों से बात-चीत किया करता था और इससे उसे स्फूर्ति मिलती थी। लोगो को वह उसी प्रकार भाता था जिस प्रकार गिरजाघर का मध्य-भाग, उसके खम्भे, रँगी हुई खिडकियां, मूर्तियां और खुदे हुए किवाड। आजकल सबसे बडा सम्मान, जिसकी इच्छा एक चित्रकार कर सकता है, यह है कि उसका केनवास-चित्र चमकदार फ्रैम मे जडकर किसी अजायबघर में टांग दिया जाय। और, अजायबघर क्या है ? वह एक तरह की प्राचीन अद्भुत वस्तुओं की दूकान है। यहाँ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कलाकारो की सुन्दर कृतियाँ, भिखारियों और राजाओं के कुत्तों के चित्रों के पास रक्खी जाती हैं। कहां तो स्थापत्यकला की वे मूर्तियां, जो नगरो के सर्वोच्च स्थान पर खड़ी रहती थीं और लोगों के जीवन को स्फूर्ति प्रदान करती थीं, और कहाँ वही अब लाल कपडो के ढक्कनों के नीचे ढकी हुई पडी हैं !

जब यूनानी मूर्तिकार अपने संगमरमर पर छेनी से काम करता था,

तब वह अपने नगर की भावना और हृदय को प्रकाशित करने का प्रयत्न करता था। नगर के सारे मनोभाव, उसके गौरव की सारी परम्पराएं उसकी कृति में आकर फिर सजीव होना चाहती थीं। परन्तु आज सम्मिलित नगर की भावना ही नही रही। अब विचारों का सम्बन्ध नही होता। अब तो नगर ऐसे लोगों का आकस्मिक समूह-मात्र है, जो न तो एक-दूसरे को जानते है, और न एक-दूसरे को लूट कर धनी बन जाने के सिवाय जिनका दूसरा कोई सामान्य स्वार्थ है। मातृभूमि का अस्तित्व भी कहाँ है? एक अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीपति, और सडक पर चिथडो के टुकडे बीननेवाला एक व्यक्ति, दोनो की कौनसी समान मातृभूमि हो सकती है? जब नगर, कस्बे, प्रदेश, राष्ट्र या राष्ट्रों के समुदाय अपने प्रेमपूर्ण जीवन को फिर से नवीन बना लेंगे, तभी सामान्य आदर्श बनेंगे और उनसे कला को स्फूर्ति मिल सकेगी। उस समय कारीगरी जानने वाला व्यक्ति नगर के स्मारक-भवन की कल्पना सोचेगा। यह भवन मन्दिर, कारागार या किला न होगा। उस समय चित्रकार, मूर्तिकार, नक्काशी का काम करने वाला और आभूषणकार, अपने केनवास-चित्रों, मूर्तियों और, अलंकार-साधनो को किस स्थान पर लगाना चाहिए, यह जान जायगा। जीवन के उसी उद्गम से वे सब कार्य-क्षमता प्राप्त करेंगे और गौरव के साथ भविष्य की ओर बढते जायँगे।

परन्तु उस स्वर्ण-युग के आने तक तो कला केवल अस्तित्व बनाए रक्खेगी। वर्तमान कलाकारों के सब से सुन्दर चित्र प्रकृति, ग्रामों, तराइयों, तूफानी समुद्रों, वैभवपूर्ण पर्वतों के होते है। परन्तु जिस चित्रकार ने खेतों मे काम करके स्वयं कभी उसका आनन्द नही उठाया; जिसने केवल उसका अनुमान या उसकी कल्पना ही की है, वह खेतों के परिश्रम के काव्य को कैसे चित्रित कर सकता है? यदि उसको उस प्रदेश का ज्ञान उतना ही है, जितना कि उडकर जाते हुए पक्षी को होता है, तो वह उस काव्य को चित्रित कैसे कर सकेगा? यदि नये-नये यौवन मे उसने बडे सवेरे कभी हल नही चलाया है, यदि उसने अपने संगीत से सब दिशाओं को आप्लावित करने वाली सुन्दर-सुन्दर युवतियो से काम मे प्रतिस्पर्धा

करते हुए और परिश्रमी घास-कटैयो के साथ खूब हसिया भर कर घास काटने का आनन्द नही उठाया है, तो वह उसे कैसे चित्रित कर सकता है ? भूमि और भूमि पर जो कुछ उगा हुआ है उसका प्रेम तो तूलिका से नक्शा बना देने मात्र से प्राप्त होता नही, वह तो उसकी सेवा करने से आता है। जिससे प्रेम ही नही, उसका चित्र ही कैसे खिचेगा ? इसी कारण तो अच्छे-से-अच्छे चित्रकारो ने इस दिशा मे जो कुछ बनाया है वह बिलकुल अपूर्ण है, वास्तविक जीवन से बहुत दूर है और प्रायः भावुकतापूर्ण ही है। उसमे चमत्कार नही है।

काम करके घर लौटते हुए यदि आपने अस्त होते हुए सूर्य को देखा हो, यदि आप किसानो के बीच किसान रहे हो, तो उसका ऐश्वर्य आपकी आँखो मे रहेगा। नाविको के साथ सारे दिन और सारी रात यदि आप समुद्र मे गए हो, आपने स्वयं किश्ती चलाने का श्रम किया हो, आप लहरो से लडे हो, तूफान के सामने डटे रहे हो, और बडे परिश्रम के बाद यदि आपने कभी किसी की जान बचाने की प्रसन्नता या असफल होने की निराशा का अनुभव किया हो, तो आप नाविक-जीवन के काव्य को समझ सकते हैं। मनुष्य की शक्ति को समझने और उसे कला के रूप मे प्रकट करने के लिए आवश्यक है कि आपने कभी कारखाने मे समय बिताया हो, उत्पादक-कार्य के सुख-दुःख को जाना हो, बडी-बडी भट्टियो के प्रकाश से धातु को ढाला हो, मशीन के जीवन का अनुभव किया हो। जनता की भावनाओ का वर्णन करने के लिए आवश्यक है कि वास्तव मे वे भावनाएं आप मे ओत-प्रोत हो जायँ।

जिस प्रकार प्राचीनकाल के कलाकारो की कृतियाँ बेचने के लिए नही बनती थी, उसी प्रकार जनता का-सा ही जीवन बिताने वाले भविष्य के कलाकारो की कृतियाँ भी विक्रय के लिए तैयार न होगी। वे तो सम्पूर्ण जीवन का एक भाग होगी। वह उनके बिना पूर्ण न होगा, और न वे उसके बिना पूर्ण होगी। कलाकार की कृति देखने के लिये लोग उसके नगर मे जायँगे, और इस प्रकार की सृष्टियो की उत्साहपूर्ण और शान्त सुन्दरता हृदय और मस्तिष्क पर अपना हितकर प्रभाव डालेगी।

यदि कला की उन्नति करनी है, तो उसको बीच की सैकड़ो श्रेणियों द्वारा उद्योग-धन्धो से सम्बद्ध कर देना पडेगा, या यो कहें कि जैसे रस्किन और महान् साम्यवादी कवि मॉरिस ने कई बार और कई प्रकार से प्रमाणित कर दिया है, उस प्रकार घुला-मिला देना होगा। गलियों या बाज़ारो में, सार्वजनिक स्मारको के भीतर और बाहर, मनुष्य के आस-पास की प्रत्येक वस्तु शुद्ध कलामय स्वरूप की होनी चाहिए।

परन्तु ये बाते उसी समय हो सकती है जब सब लोगो को सुख-सुविधा और अवकाश हो। तभी ऐसी कला-समितियाँ बन सकेगी जिन मे प्रत्येक सदस्य को अपनी-अपनी योग्यता के लिए स्थान मिलेगा; क्योंकि कला के साथ-साथ हज़ारो तरह के ऐसे काम भी रहते हैं जो केवल हाथ से होते हैं या जिनमे यान्त्रिक विशेषज्ञता की ज़रूरत होती है। जिस प्रकार दयालुता से ऐडिनबर्ग के युवक चित्रकारो ने, स्वयंसेवक बनकर, अपने नगर में ग़रीबो के लिए बने हुए बडे अस्पताल की दीवारों और छतो को सुसज्जित कर दिया था, उसी प्रकार ये कला-समितियाँ अपने सदस्यों के घरो को सुशोभित करने का काम करेगी।

एक चित्रकार या मूर्तिकार जो अपनी आन्तरिक भावना से कोई कृति तैयार करेगा, वह उसे उस स्त्री को देगा जिससे वह प्रेम करता है या किसी मित्र को देगा। कलाकार की वह कृति, जो केवल प्रेम के लिए और प्रेम से ही प्रेरित होकर तैयार हुई होगी, क्या वह आजकल के कारीगरी के अभिमानी व्यावहारिक कलाकार की कृति से घटिया होगी, सिर्फ इस कारण कि इसकी कृति पर व्यय बहुत हुआ है?

जो आनन्द की वस्तुएँ जीवन की आवश्यकताओ मे नही आती, उन सब के विषय मे यही करना पडेगा। जिसे एक बडा हारमोनियम चाहिए वह संगीत-वाद्य बनाने वालो के संघ मे प्रवेश करेगा। उस संघ को अपने अर्धदिनो के अवकाश का कुछ भाग देकर वह अपना इच्छित हारमोनियम पा सकेगा। यदि किसी को खगोल-विद्या के अध्ययन का शौक है तो वह ज्योतिर्विज्ञान-वेत्ताओ के संघ मे सम्मिलित हो जायगा। उस संघ मे उस विषय के विचारक, निरीक्षक, गणक, खगोल-संबन्धी यन्त्रों के

कलाकार, वैज्ञानिक, उस विषय के व्यसन रखनेवाले—सभी होंगे। वह व्यक्ति सम्मिलित काम में से अपने हिस्से का काम करके अपनी इच्छित दूरबीन प्राप्त कर सकेगा; क्योंकि ज्योतिःशाला में तो विशेषकर मोटा काम—चुनाई, लकड़ी का काम, ढलाई, और मशीनों सम्बन्धी काम—आवश्यक होता ही है। कला का विशेषज्ञ तो उनमें अपना अन्तिम सुधारमात्र कर देता है।

तात्पर्य यही है कि आवश्यक वस्तुओं की उत्पत्ति में कई घण्टे लगा देने के बाद, प्रत्येक व्यक्ति के पास जो पाँच-छः घंटे बचते हैं, वे सब प्रकार के शौक पूरे करने के लिए काफ़ी हैं। शौक और आराम की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए हज़ारों संस्थाएँ खड़ी हो जायंगी। जो विशेषाधिकार आज केवल थोड़े-से लोगों को है, वह सब को सुलभ हो जायगा। विलास और ऐश्वर्य मध्यमवर्ग की बेहूदा दिखावट की चीज़ न रहेगी। वह एक कलायुक्त आनन्द का साधन बन जायगा।

इससे प्रत्येक व्यक्ति और भी सुखी हो जायगा। अपनी इच्छा की कोई पुस्तक, कोई कला-कृति, या कोई शौक की चीज़ प्राप्त करने के लिए जो सम्मिलित कार्य प्रसन्न हृदय से किया जायगा, उसमें प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं उत्साह होगा, और वह जीवन को आनन्दमय बनाने वाला आवश्यक मनोरंजन बन जायगा।

मालिक और दास के भेद को मिटाने का प्रयत्न करना दोनों के ही सुख का प्रयत्न करना है। इसी में मनुष्यजाति का सुख है।

: १० :

मनचाहा काम

१

साम्यवादी लोग यह कहते हैं कि जिस समय समाज पूँजीपतियों के शासन से मुक्त हो जायगा, उस समय श्रम करना सबको पसन्द होगा, और इच्छा विरुद्ध, अस्वास्थ्यकर कड़ी मेहनत मिट जायगी। परन्तु

लोग उन पर हँसते है। किन्तु आज भी हम देखते है कि इस दिशा मे बहुत प्रगति हो रही है। जहाँ-जहाँ यह प्रगति हुई है वहाँ-वहाँ उसके फलस्वरूप शक्ति की बचत हुई है और मालिको ने अपने को धन्य समझा है।

यह स्पष्ट है कि एक कारखाना भी उतना ही स्वास्थ्यकर और सुखकर बनाया जा सकता है, जितनी एक प्रयोगशाला। और यह भी स्पष्ट ही है कि ऐसा करना लाभदायक होगा। जहाँ जगह चौडी और हवा खूब होती है उन कारखानो मे काम अच्छा होता है। उनमे कई छोटे-छोटे सुधार सरलता से किये जा सकते हैं, और प्रत्येक सुधार से समय या श्रम की बचत होती है। हमे आज जो अधिकांश कारखाने बुरे या अस्वास्थ्यकर दिखाई देते है, इसका कारण यही है कि कारखानो के सम्बन्ध मे श्रमिको की पूछ नही है, और मनुष्य की शक्ति का बहुत बुरे प्रकार से अपव्यय होना वर्तमान औद्योगिक प्रबन्ध की एक विशेषता है।

फिर भी समय-समय पर हमे ऐसे सुव्यवस्थित कारख़ाने मिलते है जिनमे काम करना एक सच्चा आनन्द हो सकता है, यदि काम प्रतिदिन चार या पॉच घण्टे से अधिक का न हो और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार बदला जा सके।

मुझे मालूम है, इङ्गलैण्ड मे एक बहुत बडा कारखाना है। दुर्भाग्य से वह युद्ध-सामग्री बनाने के लिए ही नियत है। स्वास्थ्य और बुद्धियुक्त प्रबन्ध की दृष्टि से वह पूर्ण है। वह पचास एकड भूमि के घेरे मे है और पन्द्रह एकड पर तो कॉच की छत है। फर्श आग से न बिगड सकने वाली ईंटो से जडा हुआ है, और खान खोदने वालो की कुटिया की तरह साफ रक्खा जाता है। कॉच की छत को बहुत से श्रमिक सदा साफ करते रहते है और वे दूसरा काम नही करते। इस कारख़ाने मे पॉच-पॉच सौ मन के लोहे के गोटे तपाये और बनाये जाते है। बडी-बडी भट्टियो की ज्वालाओ मे हजार-हजार डिग्री से भी अधिक ताप होता है, परन्तु यदि आप उनसे १० गज दूर भी खडे रहे तो आपको उनके अस्तित्व का पता भी न चलेगा। हॉ, पता तब चलता है जब उनका मुह लोहे के

भीमकाय टुकडो को बाहर निकालने के लिए खुलता है। उस गर्म लोहे के राक्षस को केवल तीन-चार श्रमिक सम्हाल लेते है। वे कभी यहाँ, कभी वहाँ नल खोल देते है, और पानी के दबाव से ही बडे-बडे क्रेन इधर-उधर गति करते रहते है।

इस कारखाने मे प्रवेश करते समय आप समझते होगे कि शायद लोहा पीटनेवाले यन्त्रो की कान फोड देने वाली आवाज़ सुनाई देगी, परन्तु ऐसी बात नही है। तीन-तीन हज़ार मन की बडी-बडी तोपें, और अटलांटिक महासागर के पार जाने वाले जहाजो के लिए पहियो के भारी-भारी डण्डे, सब पानी के दबाव से ढाले जाते है। गर्म लोह-राशि की मोटाई कितनी ही क्यो न हो, धातु के उस बडे परिमाण को किसी भी शकल का बनाने के लिये कारीगर को सिर्फ़ पानी के नल को मोड देना पडता है, और उससे धातु की एक-समान चीज तैयार हो जाती है, कही तडकती भी नही।

मैं आशा करता था कि लोहे के काटते समय जो घिसाई होती है उसका अति कर्कश स्वर मुझे सुनाई देगा। परन्तु मैंने दस-दस गज़ लम्बे इस्पात के भारी टुकडो को काटने वाली मशीनें देखी, और उनसे उतना ही शब्द होता था जितना आलू काटने में होता है। जब मैंने इसकी प्रशंसा उस इंजीनियर से की जो हमे सब दिखा रहा था तो उसने उत्तर दिया—

"यह तो केवल मितव्ययिता का प्रश्न है। यह मशीन जो इस्पात को रेत कर सम करती है, बयालीस वर्ष से चल रही है। यदि इसके भाग ठीक जुडे न होते, परस्पर भिडते रहते, और सम करनेवाले औज़ार के आने-जाने पर शब्द करते तो यह मशीन दस साल भी न चलती।

"इसी प्रकार लोहा गलाने की भट्टियो मे गरमी को फिजूल निकलने देना बडा भारी अपव्यय है। जो गरमी भट्टी मे से फिर कर बाहर निकल जाती है वह तो सैकडो मन कोयले से पैदा होती है। फिर ढालने वाले आदमी को गर्मी मे क्यो भूना जाय?

"जिन लोहा पीटनेवाले यन्त्रो की धमक से पाँच-पाँच कोस को

इमारते हिल पडे वे भी अपव्यय स्वरूप थे। लोहा कूट कर बनाने की अपेक्षा दबा कर बनाना उत्तम है, उससे खर्चा भी कम होता है और हानि भी कम होती है।

"इस कारख़ाने मे प्रत्येक बेञ्च के लिए जितनी रोशनी, सफाई और खुली जगह रक्खी गई है उसमें भी मितव्ययिता का ही लिहाज़ रक्खा गया है। जो काम आप करते हैं उसको यदि आप अच्छी तरह देख सकेंगे, आपके पास हाथ-पैर हिलाने को काफी जगह होगी तो काम अधिक अच्छा होगा।"

उसने कहा, "यह सत्य है कि यहाँ आने से पहले हमे बडी तकलीफ हुई थी। शहरो के समीप ज़मीन बहुत महँगी होती है, ज़मीदार बडे लालची होते है।"

खानो में भी यही हाल है। ज़ोला के वर्णन और समाचार-पत्रों की रिपोर्टों से हमे विदित है कि खाने आजकल कैसी होती हैं। परन्तु भविष्य की खानो मे हवा का खूब इन्तज़ाम होगा, और उनका ताप उतनी ही सरलता से संचालित होगा जितनी सरलता से पुस्तकालय का होता है। ज़मीन के नीचे दब कर मरने के लिए घोडे न होगे। जमीन के नीचे वजन खींचने का काम स्वयं चलानेवाले रस्सो (Automatic cables) से होगा जो खान के मुँह पर से चलाये जायँगे। वेएटीलेटर (हवा देनेवाले यन्त्र) सदा काम करते रहेगे और धडाके कभी न हुआ करेंगे। यह कोई स्वप्नमात्र नही है। इंगलैण्ड मे ऐसी खान मौजूद है और मै उसमें गया हूँ। यहाँ भी इसके सुन्दर प्रबन्ध के कारण मितव्ययिता है। जिस खान का मैं वर्णन करता हूँ, वह ४६६ गज़ गहरी है। परन्तु उसमे भी प्रतिदिन अट्ठाईस हजार मन कोयला निकलता है। केवल २०० खनिक हैं—प्रत्येक काम करने वाला रोज़ाना १४ मन निकालता है। इसके विरुद्ध, जिस समय मैं इस खान को देखने गया था उस समय इंगलैण्ड की दो हजार खानो का सालाना औसत मुश्किल से फी आदमी ८४०० मन था।

यदि आवश्यकता हो तो इस बात के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं कि फोरियर के भौतिक संगठन का स्वप्न मिथ्या नही था।

परन्तु साम्यवादी समाचार-पत्रो मे इस प्रश्न पर इतनी बार चर्चा हो चुकी है कि इस विषय में लोकमत अवश्य शिक्षित हो चुका होगा। कारख़ाने, लोहे ढालने के यन्त्रालय और खाने इतनी स्वास्थ्यकर और शानदार बन सकती हैं जितनी कि वर्तमान विश्वविद्यालयों की बढिया-से-बढ़िया प्रयोगशालाएँ। और प्रबन्ध जितना अच्छा होगा, मनुष्य-श्रम भी उतना ही अधिक उत्पन्न करेगा।

यदि यह सत्य है, तो सामान्य व्यक्तियों के जिस समाज मे मज़दूर अपने श्रम को बेचने पर बाध्य न होगे, और प्रत्येक अवस्था का काम उन्हे मंजूर करना पडेगा, उसमे श्रम करना क्या एक आनन्द और मनोरंजन न हो जायगा ? इच्छा-विरुद्ध काम न रहेगा, क्योकि यह तो स्पष्ट है कि इन अस्वास्थ्यकर अवस्थाओं से सारे समाज को ही हानि पहुँचती है। गुलाम चाहे इन अवस्थाओं मे रह सके, परन्तु स्वाधीन लोग तो नई अवस्थाओं को पैदा करेगे और उनका श्रम आनन्द-दायक और अत्यधिक उत्पादक होगा। आज अच्छी-अच्छी बातें जो कहीं-कही है, कल वही बातें—वही अवस्थाएँ—साधारणत. व्यापक हो जायँगी।

जिस घरेलू काम को समाज ने आज कठोर परिश्रम करके थक जाने वाली स्त्री पर डाल रक्खा है, उसके विषय मे भी यही सुधार होगा।

२

जो समाज क्रान्ति के द्वारा नवीन जीवन प्राप्त कर लेगा, वह घरेलू दासता को भी मिटा देगा। घरेलू दासता दासता का अन्तिम स्वरूप है और लोग इसे रखना इसलिए पसंद करते हैं कि यह उससे प्राचीन भी है। परन्तु यह काम फ़ोरियर के आश्रमवादी दल के सोचे हुए मार्ग से न हो सकेगा, और न सत्तावादी साम्यवादियो की सोची हुई रीति से ही।

ऐसे आश्रम लाखो आदमियो को पसन्द नही आते। इसमे तो संदेह नहीं कि अधिक-से-अधिक एकान्त-सेवी व्यक्ति भी सामान्य काम पूरा

करने के लिए अपने साथियों के साथ मिलने की आवश्यकता अनुभव करता है, और जितना-जितना वह अपने को महान् समष्टि का एक भाग समझने लगता है उतना-उतना ही आकर्षक यह सामान्य श्रम हो जाता है। परन्तु अवकाश का समय तो आराम करने और घनिष्ट व्यक्तियो के साथ रहने के लिए होता है, उसमे सब इकट्ठे ही रहना नही चाहते। आश्रम या कुटुम्ब या तो इस बात पर विचार ही नहीं करते, या वे अपना एक कृत्रिम समुदाय बना कर इस आवश्यकता को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं।

आश्रम वास्तव मे एक बडे भारी होटल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह कुछ लोगो को हर समय या शायद सभी लोगो को कुछ समय के लिए पसन्द आ सके। परन्तु अधिक लोग तो परिवार का जीवन ही पसन्द करते है। ध्यान रहे कि इससे मतलब भविष्य के पारिवारिक जीवन से है। वे पृथक्-पृथक् घर अधिक चाहते हैं। ऐंग्लो-सेक्सन लोग तो यहाँ तक बढ़े हुए है कि वे छ-सात कमरों के घर पसन्द करते हैं, जिनमे एक परिवार या मित्र-समूह पृथक् रह सके। किसी-किसी अवस्था मे आश्रम आवश्यक हुआ करते हैं, परन्तु यदि वे सबके लिए और हर समय के लिए बना दिये जायँ, तो अप्रिय हो जायँगे। मनुष्य की यह साधारण इच्छा होती है कि कभी तो समाज के बीच सम्मिलित रह कर समय बिताये, और कभी पृथक् भी रहे। इसी कारण कारागार मे एकान्त का न मिलना एक घोरतम कष्ट होता है, और यदि सामाजिक जीवन न मिल पाये और तनहाई कोठरी मे बन्द कर दिया जाय तो वह भी ऐसा ही दु:खदायी हो जाता है।

आश्रम के जीवन के पक्ष मे जो मितव्ययिता की दलील दी जाती है, वह तो बनियेपन की-सी बात है। सबसे अधिक महत्व की और बुद्धिमत्ता-युक्त जो मितव्ययिता है वह है सबके जीवन को आनन्दपूर्ण बनाना, क्योकि जिस व्यक्ति की जीवन-विधि उसको प्रसन्न करने वाली है वह उस व्यक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक उत्पन्न कर सकता है, जिसने अपनी परिस्थिति बुरी बना ली है।

ज्ञात होता है कि यंग आइकेरिया के साम्यवादियो ने काम के अलावा अपनी-अपनी पसंद के अनुसार अपने-अपने दैनिक सम्बन्ध बना लेने के महत्व को समझ लिया था। धार्मिक साम्यवादियो का आदर्श एक साथ भोजन करने का रहा है। आरम्भिक ईसाई साथ भोजन करके ईसाई धर्म के प्रति भक्ति प्रकट किया करते थे। कम्यूनियन (भोज) ईसाई लोगो मे उसी प्रथा का अवशेष रह गया है। यंग आइकेरियन लोगो ने धार्मिक परम्परा को छोड दिया था। वे एक ही भोजन-शाला मे भोजन करते थे, परन्तु अलग-अलग छोटे-छोटे टेबलो पर बैठते थे, और उस समय जहाँ-जहाँ जिसको पसन्द आता था, वहाँ-वहाँ वह बैठ जाता था। अनामा के कम्यूनिस्ट लोगो के पास अलग-अलग घर है। वे अपने घर पर ही भोजन करते है और पचायती भण्डार से अपनी-अपनी इच्छानुसार भोजन का सामान ले सकते हैं।

दूसरे साम्यवादियो को आश्रम पसन्द नही। परन्तु जब आप उनसे पूछते हैं कि गृह-कार्य का प्रबन्ध किस प्रकार हो सकता है तो वे उत्तर देते है कि—'सब लोग 'अपना-अपना काम' करेंगे। मेरी पत्नी घर का प्रबन्ध करती है। मध्यमवर्ग की पत्नियाँ भी इतना काम कर सकती हैं।' और यदि कहने वाला व्यक्ति कोई मध्यमवर्ग का आदमी ही हो, जो साम्यवाद का मज़ाक उडाता हो, तो वह हंस कर अपनी पत्नी से कह सकता है, "प्रिये, क्या साम्यवादी समाज मे तुम बिना नौकर के काम न चला सकोगी? हमारे दोस्त अहमद की पत्नी या रामा बढ़ई की पत्नी की तरह क्या तुम्हे काम करना अच्छा लगेगा?"

नौकर बना कर चाहे पत्नी बना कर, पुरुष समझता है कि घर के काम के लिए तो स्त्री ही है।

परन्तु मनुष्य-जाति की मुक्ति मे स्त्री-जाति का भी तो हिस्सा है। वह अब घर मे भिश्ती, बावर्ची, ख़र बन कर रहना नही चाहती। अपने बच्चों के पालन-पोषण मे जीवन के कई वर्ष लगा देना ही वह अपना काफी काम समझती है। वह अब फटे-टूटे कपडे या दूसरी वस्तुएं सुधारने वाली या झाडू देने वाली बनी रहना नही चाहती। अमेरिका की स्त्रियो ने

अपना अधिकार प्राप्त करने मे नेतृत्व लिया है, इसलिए यूनाइटेड स्टेट्स में अब यही शिकायत है कि वहाँ घरेलू काम करने वाली स्त्रियो की कमी है। लोग कहते हैं कि हमारी रानी साहिबा तो कला, राजनीति, साहित्य या खेल अधिक पसन्द करती हैं, घर के काम-काज के लिए नौकरानियां कम मिलती हैं और नौकर तो बडी कठिनता से ही मिलते हैं। फलतः इस का सरल उपाय अपने-आप निकल आया है। गृह-कार्य का तीन-चौथाई भाग अब मशीन कर देती है।

आप अपने बूटो पर पालिश करते हैं, और आप जानते हैं कि यह कैसा भद्दा काम है। ब्रश से बीस या तीस बार बूट को रगडते बैठने से अधिक मूर्खता-पूर्ण कार्य क्या होगा? रहने का एक बहुत बुरा स्थान और अपर्याप्त भोजन प्राप्त करने के लिए यूरोप की जन-संख्या के एक-दशमांश भाग को अपना शरीर बेचना पडता है, और स्त्री अपने को दास समझने को बाधित होती है, सिर्फ इसलिए कि यह क्रिया रोज़ सवेरे उसी की जाति की लाखो स्त्रियाँ करती है।

सिर के बालो को ब्रश से चमकदार या ऊन के सामान नरम बनाने के लिए बाल बनाने वाले नाइयो ने मशीने ईजाद कर ली हैं। फिर, सिर के बजाय जूते पर हम इस सिद्धान्त को क्यो न लगायें? ऐसा हुआ भी है, और आज-कल बूट पालिश करने की मशीने अमेरिका और यूरोप के बडे-बडे होटलो मे सब जगह उपयोग मे आ रही हैं। होटलो से बाहर भी इनका उपयोग बढ रहा है। इंगलैण्ड के बडे-बडे स्कूलो मे जहाँ अध्यापको के घर पर विद्यार्थी रहते है, एक मशीन रख लेना काफ़ी होता है, जो प्रातःकाल सैकडो जोडी जूतो के ब्रश कर देती है।

बर्तनो को माँजने और धोने के विषय मे क्या होता है? यह काम हाथ से किया जाता है, केवल इसीलिए कि घर की दासी का कोई मूल्य नहीं समझा जाता। परन्तु ऐसी कौन-सी गृह-पत्नी है जो इस लम्बे और मैले काम से घबराती न हो?

अमेरिका मे अच्छा उपाय निकला है। वहाँ अब ऐसे बहुत से शहर हैं जहाँ घरो मे गरम पानी उसी भाँति पहुँचाया जाता है जैसे यूरोप में

ठण्डा पानी। इस दशा मे तो समस्या सरल ही थी, और एक स्त्री श्रीमती काकरेन ने इसको हल कर लिया। उसकी मशीन तीन मिनट से भी कम समय मे बारह दर्जन तश्तरियों को धो देती और सुखा डालती है। इलीनॉइस का एक कारख़ाना इन मशीनो को बनाकर इतनी सस्ती बेचता है कि मध्यमवर्ग के लोग सरलता से ख़रीद सकते हैं। छोटे-छोटे परिवारो को तो यह उचित है कि वे बूटों की भाँति अपने बर्तनों को भी किसी ऐसे कारख़ाने मे भेज दे। यह भी सम्भव है कि जूतों पर ब्रश करना और बर्तन मॉजना-धोना दोनो काम एक ही कार्यालय करने लगे।

सफाई करना और कपडे धोना, जिसमे कपड़े रगड़ने और निचोड़ने मे हाथ की खाल भी छिल जाती है, घर झाडना और दरी आदि पर ब्रश करना, जिससे धूल बहुत उडती है और उडकर जहाँ-जहाँ जम जाती है वहाँ-वहाँ से साफ करने मे काफी तकलीफ होती है; यह सारा काम इस लिए हो रहा है कि स्त्री अब भी दासता में है। परन्तु यह काम मिटता भी जा रहा है, क्योंकि यह मशीन से बहुत अच्छा हो सकता है। घरो में सब प्रकार की मशीने आजायँगी, और घर-घर में मोटर-शक्ति पहुँचाये जाने पर लोग शारीरिक श्रम के बिना उनसे काम ले सकेंगे।

इन मशीनो के बनाने मे बहुत थोडा ख़र्चा होता है। आज-कल इन के मॅहगे होने का कारण यह है कि इनका प्रयोग बढ़ा नही है। और मुख्य कारण यह है कि जो बडे-बडे आदमी शान से रहना चाहते हैं और जिन्होने ज़मीन, कच्चे माल, मशीन के तैयार करने, बेचने, पेटेन्ट करने और विविध करों के विषय में सट्टा किया है, उन्होंने प्रत्येक मशीन पर अपना भारी कर लाद दिया है।

परन्तु घरेलू काम से छुटकारा केवल छोटी-छोटी मशीनों से नहीं होगा। परिवार अब अपने पृथक्-पृथक् जीवन की अवस्था से निकल रहे हैं, और जो-जो काम वे अलग-अलग अकेले करते थे वह काम अब वे दूसरे परिवारो के साथ संघ-बद्ध होकर करने लगे है।

वास्तव में, भविष्य में, बूटों पर ब्रश करने की एक मशीन, बर्तन

साफ करने की दूसरी मशीन, और कपडे धोने की तीसरी मशीन. और इसी प्रकार कई मशीनें प्रत्येक घर मे न रखनी पडेगी। भविष्य मे तो, इसके विरुद्ध यह होगा कि शहर के मुहल्ले भर के सारे मकानो मे गरमी भेजनेवाला एक ही तापक-यन्त्र लगा दिया जायगा, जिससे हर कमरे मे आग जलाकर गरम रखने का काम बच जायगा। अमेरिका के कुछ शहरो मे ऐसा हो भी गया है। उस नगर-भाग के सारे घरो और कमरो मे गरम पानी के नल लग जायँगे। उनमे पानी चक्कर लगाता रहेगा. और इसके लिए एक बडी केन्द्रीय भट्टी बन जायगी। तापमान बदलने के लिए आपको केवल नल घुमाना पडेगा। और यदि आपको किसी विशेष कमरे मे खूब तेज़ आग की ज़रूरत होगी, तो गरम करने के लिए जो गैस एक केन्द्रीय संग्रह-स्थान से आता रहेगा, उसको आप जला सकते है। आग जलाने और चिमनियो को साफ़ रखने के काम मे कितना समय लग जाता है, यह स्त्रियाँ ही जानती हैं। वह अब कम होता जा रहा है।

दीपको, लेम्पो और गैस-बत्तियो के दिन अब बीत गए। अब तो सारे शहर मे प्रकाश करने के लिए एक बटन को दबाना ही काफी होता है। वास्तव मे यह केवल मितव्ययिता का प्रश्न है। केवल इतना ही ज्ञान होना चाहिए कि बिजली की रोशनी कोई बडे ऐश्वर्य की वस्तु नही, वह तो सबको प्राप्त हो सकती है। अन्तिम बात यह है कि अमेरिका मे तो लोग ऐसे संघ बनाना चाहते हैं जिनसे घरेलू काम ही सब बन्द हो जायँ। गृहो के प्रत्येक समूह के लिए एक-एक विभाग बना देना आवश्यक होगा। एक गाडी होगी, वह प्रत्येक मकान पर जायगी, और वहाँ से पॉलिश करने के जूते, साफ होनेवाले बर्तन, धुलाई के कपडे, सुधरनेवाली छोटी-छोटी चीज़ें, और ब्रश किये जाने के लिए दरियाँ ले जायगी। दूसरे दिन सबेरे, सारी चीज़े साफ होकर आ जायँगी। कुछ घण्टे बाद ही गरम चाय और दूध आपके टेबल पर आजायँगे। अमेरिका और इङ्गलैण्ड मे दिन के बारह बजे से दो बजे तक लगभग चार करोड मनुष्य दोपहर का खाना खाते है। उसमे सब मिलाकर दस-बारह तरह

की चीज़े होती हैं। इन्हे पकाने के लिए कम-से-कम ८० लाख स्त्रियों को अलग-अलग चूल्हे जलाने पडते हैं और अपना समय लगाना पडता है।

एक अमेरिकन स्त्री ने हाल मे ही लिखा था कि "जहाँ केवल एक चूल्हा काफी हो सकता है वहाँ पचास चूल्हे जलते है।" यदि आपकी इच्छा हो तो आप अपने ही घर, अपनी ही चौकी पर, अपने बाल-बच्चों के साथ, भोजन कर सकते है, परन्तु केवल इतना विचार कीजिए कि सिर्फ कुछ प्याले चाय और मामूली खाने की चीज़ बनाने के लिए क्यों पचास स्त्रियां सुबह का अपना सारा समय नष्ट कर डाले। जब यह चीज़ एक ही चूल्हे पर दो आदमी बना सकते हैं, तब क्यों पचास चूल्हे जलाये जायं? आप अपने-अपने पसन्द की अलग-अलग चीजें खाइये और जितना चाहिए मसाला डाल लीजिए। परन्तु रसोईघर एक और चूल्हा भी एक ही रखिए। उसका प्रबन्ध जितना अच्छा आप कर सकते हैं, कीजिए।

स्त्री के काम का मूल्य भी कुछ भी क्यो नहीं समझा जाता? प्रत्येक परिवार के रसोई सम्बन्धी काम में माता, बहुएँ और नौकरानियां अपना इतना समय व्यय करने के लिए क्यो बाधित रहती हैं? इसका कारण यह है कि जो लोग मनुष्य-जाति को मुक्त करने के स्वप्न देखते है उन्होने अपने स्वप्न मे स्त्री को शामिल नहीं किया है। उन्होने 'उस भोजन-प्रबन्ध' को स्त्री के ऊपर रख छोडा है। उसपर विचार करना वे अपनी मर्दानगी के ऊँचे गौरव के विरुद्ध समझते हैं।

स्त्री-जाति को बन्धन से मुक्त करना, उसको स्वतन्त्रता देना केवल इतने मे नहीं है कि उसके लिए विद्यालयो, अदालतो और शासन-सभाओ के दरवाजे खोल दिये जायँ; क्योंकि 'स्वतन्त्रता पानेवाली' स्त्री गृह-सम्बन्धी परिश्रम को प्रायः दूसरी स्त्री पर डालेगी। स्त्री को स्वतन्त्र करने का अर्थ है, उसको रसोईघर और धोबीघर के पाशविक श्रम से स्वतन्त्र करना। उसका अर्थ है, गृह-कार्य का ऐसा संगठन करना. जिससे चाहे तो वह अपने बच्चों के पालन-पोषण का समय पा सके, और

सामाजिक जीवन मे भाग लेने के योग्य अवकाश भी उसके पास बच रहे।

ऐसा होगा भी। हम कह चुके हैं कि उन्नति तो हो ही रही है। केवल इस बात को हम पूरी तरह समझ ले कि स्वतन्त्रता, समानता, एकता आदि सुन्दर शब्दो के मद से भरी हुई क्रांति कभी क्रांति नही हो सकती, यदि वह घर मे दासता को क़ायम रक्खेगी। चूल्हे की ग़ुलामी मे फँसी हुई आधी मनुष्य-जाति को फिर भी आधी मनुष्य-जाति के विरुद्ध विद्रोह करना पडेगा।

: ११ :

आपसी समझौता

१

हमने परम्परा से कुछ ऐसे ख़यालात बना लिए है, और सब जगह सरकार, व्यवस्थापक सभा, और अदालतो के उपकारो के विषय मे ऐसी दोषपूर्ण भ्रामक शिक्षा पाई है कि हम यह विश्वास करने लगे हैं कि जिस दिन पुलिस रक्षा करना छोड देगी उस दिन एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को वन्य-पशु की भाँति चीर-फाड डालेगा, और यदि क्रान्ति के समय मे सत्ता हट गई तो नितान्त अव्यवस्था हो जायगी; परन्तु हमने मनुष्यो के हजारो और लाखो ऐसे समुदाय देखे हैं जो स्वेच्छा से संगठित हुए है। इनमे कानून का कोई दख़ल नहीं हुआ है, और इनके परिणाम सरकारी संरक्षण के परिणामो से हजारो गुने अच्छे निकलते है। यह सब देखते-भालते हुए भी हमने आँखे बन्द कर रक्खी है।

यदि आप किसी दैनिक समाचार-पत्र को उठा कर खोले, तो आप देखेगे उसके सारे पन्ने सरकारी काम-काज या राजनैतिक स्वार्थसाधन की बातों से भरे पडे है। उसे पढकर दूसरी दुनिया का कोई आदमी तो यही समझेगा कि शेयर-बाज़ार के काम-काज के सिवाय यूरोप का कोई भी व्यवहार एक मालिक-सत्ता के हुक्म के बिना नहीं चलता। पत्र मे

आपको उन संस्थाओं के विषय मे कुछ भी नही मिलेगा जो राज्य-मन्त्रियों की निगरानी के बिना भी उत्पन्न होती, बढ़ती, और उन्नति करती हैं। सचमुच प्रायः एक अक्षर तक नही मिलेगा ! जहाँ-कही 'विविध समाचार' शीर्षक होता है, वह भी इसलिए रहता है कि उसमे पुलिस से सम्बन्ध रखनेवाली बाते रहती है। किसी पारिवारिक नाटक या विद्रोह की घटना भी यदि हुई तो इसीलिए होगी कि उसके किसी दृश्य मे पुलिस का वर्णन है।

पैंतीस करोड यूरोप-वासी एक दूसरे से प्रेम करते या द्वेष करते हैं, सब कोई न कोई काम करते हैं और अपनी-अपनी आजीविका पर जीवन-निर्वाह करते हैं; परन्तु साहित्य, नाटक या खेल के अतिरिक्त समाचार-पत्र उनको बिलकुल भुला देते है। हॉ, यदि उसमे किसी न किसी प्रकार सरकार का कोई हस्तक्षेप हुआ हो तो उनका ज़िक्र आ सकता है। इतिहास का भी यही हाल है। किसी राजा या शासन-सभा के जीवन की छोटी-से-छोटी तफ़सील हम जानते हैं। राजनीतिज्ञो ने जो अच्छी और बुरी वक्तृताऍ दी हैं, वे सब सुरक्षित है। इनके विषय में एक पुराने शासन-सभा-वादी ने कहा था कि "वे ऐसी वक्तृताए है जिनका प्रभाव किसी एक सदस्य के भी मत पर कभी कुछ नही हुआ।" राजाओ के आगमन, राजनीतिज्ञो की अच्छी या बुरी प्रकृति, उनके हास-परिहास और षड्यन्त्र सबकुछ भावी पीढियों के वास्ते लिखित मौजूद है। परन्तु यदि हम किसी नगर को मध्य-युग के ढंग पर बनाना चाहे, हंसा नगरों के व्यापारिक संघ मे चलनेवाले बडे भारी व्यापार की रचना को समझना चाहे, या यह जानना चाहे कि रूएन नगर ने अपने बडे गिरजाघर को किस प्रकार बना पाया, तो हमें अत्यन्त कठिनता होगी। यदि कोई विद्वान इन प्रश्नो के अध्ययन पर अपना जीवन लगाये, तो उसके ग्रन्थ अप्रसिद्ध ही रह जाते है, और पार्लमेण्ट-सभाओ के इतिहास, जो कि समाज के जीवन के एक ही पक्ष के विषय में होने से एकाङ्गी ही हैं, बढते जाते हैं। उनका प्रचार किया जाता है। वे स्कूलों में पढ़ाये जाते हैं।

इस प्रकार हम उस महान् कार्य को देख भी नही पाते जो मनुष्यों के स्वेच्छा-संघों द्वारा रोज़ हो रहा है और जो हमारी शताब्दी का मुख्य-

कार्य है।

हम इनमे से कुछ मुख्य-मुख्य उदाहरण यहाँ बतायँगे, और बतायँगे कि जब मनुष्यो के स्वार्थ बिलकुल परस्पर-विरोधी नही होते, तब वे बडे प्रेम से हिल-मिल कर काम करते है और बडे-बडे पेचीदा ढंग के सम्मिलित कार्य करते है।

वर्तमान समाज का आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति, या यो कहिए, कि लूट और सकुचित एवम् मूर्खतापूर्ण व्यक्तिवाद है। इसलिए ऐसे समाज मे इस प्रकार के उदाहरण अवश्य ही बहुत थोडे हैं। परस्पर के समझौते सदा पूर्ण स्वेच्छा से ही नही होते और उनका उद्देश्य यदि अत्यन्त घृणित नही तो प्राय. हीन तो होता ही है।

ऐसे उदाहरण देना हमारा काम नही है जिन पर हम आंख मीच कर चल सके। वे तो वास्तव मे वर्तमान समाज मे उपलब्ध ही नही हो सकते। हमे तो यह दिखाना है कि यद्यपि सत्तावादी व्यक्तिवादी हमारा गला घोट रहा है फिर भी समष्टिरूप से हमारे जीवन मे एक बहुत बडा भाग ऐसा बाकी है जिसमे हम आपसी समझौते से ही व्यवहार करते हैं, और इस कारण राज्य-व्यवस्था बिना काम चलाना जितना कठिन समझा जाता है वह उतना कठिन नही है, बल्कि बहुत सरल है।

हम अपनी सम्मति के समर्थन मे पहले रेलवे का उल्लेख कर चुके है और उसी विषय पर अब हम फिर लौटते है।

यूरोप मे रेलवे लाइनो का संगठन १,७५,००० मील से भी अधिक लम्बा है। रेलवे के इस जाल पर कोई भी व्यक्ति उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम, मेड्रिड से पीटर्सबर्ग तक और केले से कान्सटेन्टीनोपल तक, विना विलम्ब किये और (यदि एक्सप्रेस गाडी से जाय तो) बिना डिब्बा बदले यात्रा कर सकता है। इससे भी अधिक विस्मय की बात यह है कि किसी स्टेशन पर दाखिल की हुई पार्सल, केवल उस पर पानेवाले का पता लिख देने से, टर्की मे या मध्य-एशिया मे किसी भी स्थान पर उसके पानेवाले को मिल जायगी।

यही काम दो तरह से हो सकता था। एक नेपोलियन या बिसमार्क

या और कोई सत्ताधारी यूरोप को विजय करके, पेरिस से, बर्लिन से, या रोम से, रेलवे लाइन का एक नकशा बनाता और रेलगाडियो के आने-जाने के समयो का नियन्त्रण करता। रूस के ज़ार निकोलस प्रथम ने अपनी शक्ति से ऐसा ही काम करने का स्वप्न देखा था। जब उसको मास्को और पीटर्सबर्ग के बीच बननेवाली रेल के कच्चे नक़शे बताए गए तो उसने एक रूलर उठाया और रूस के नकशे पर एक सीधी लकीर खीच दी और कहा 'पक्का नकशा यह है।' तदनुसार रेलवे-लाइन बिलकुल सीधी बनाई गई, जिसमे गहरी-गहरी खाइयाँ भरनी पडी, ऊँचे-ऊँचे पुल बाँधने पडे, और अन्त मे फी मील १,२०,००० से लेकर १,४०,००० पौण्ड तक ख़र्चा हो कर वह काम छोड देना पडा।

यह तो एक मार्ग था। परन्तु प्रसन्नता की बात है कि यह सारा काम दूसरी ही भाति किया गया। रेलवे-लाइने छोटी-छोटी बनी, वे सब एक-दूसरे से जोड दी गई, और इन रेलवे लाइनो की मालिक पृथक्-पृथक् सैकडो कम्पनियों ने धीरे-धीरे आपस मे गाडियो के आने-जाने के समय के विषय में और एक-दूसरे की लाइन पर से सब देशो की गाडियो के गुजरने देने के बारे मे समझौते कर लिए।

यह काम आपसी समझौते से हुआ, आपस मे पत्र और प्रस्ताव भेजने से हुआ, और ऐसे सम्मेलनो के द्वारा हुआ जिसमे प्रतिनिधिगण पूर्ण स्पष्ट और विशेष-विशेष बातो पर ही बहस करने और उन पर समझौता करने के लिए गए थे। वे कानून बनाने नही गए थे। सम्मेलन समाप्त होने पर प्रतिनिधि अपनी-अपनी कम्पनी मे लौट कर गए और कोई कानून बना कर नही ले गए, किन्तु आपसी मुआहिदे का एक मसौदा लेकर गए, जिसको मंजूर या नामंजूर करना उनकी इच्छा पर था।

मार्ग मे कठिनाइयाँ तो अवश्य आईं। बहुत से ऐसे हठी आदमी भी थे जिन्हे समझाना मुश्किल था। परन्तु सामूहिक स्वार्थ ने अन्त मे उनके बीच समझौता करा दिया। न माननेवाले सदस्यो के विरुद्ध सेनाओ की सहायता बुलाने की आवश्यकता न पडी।

परस्पर सम्बद्ध रेलो का यह जाल, उस पर होने वाला बडा भारी

व्यापार और आवागमन, निःसन्देह उन्नीसवीं शताब्दी की सबसे बडी विशेषता है। और यह आपसी समझौते का फल है। इसी बात को अस्सी वर्ष पहले यदि कोई भविष्यवक्ता कह देता तो हमारे पूर्वज उसे मूर्ख या पागल बताते। उन्होने जवाब दिया होता—"सैकडों कम्पनियों के हिस्सेदारो को इस बात पर तुम कभी राजी नही कर सकते। यह तो केवल स्वप्न है, या बुढिया की कहानी है। एक केन्द्रीय सरकार हो, उसका एक "फ़ौलाद के समान दृढ" संचालक हो। वही अपनी व्यवस्था द्वारा ऐसा काम करा सकती है।"

इस संगठन मे बडे मजे की बात यह है कि यूरोप भर की रेलो की कोई केन्द्रीय सरकार नही है! कुछ भी तो नहीं! कोई रेलवे-मन्त्री नही, कोई डिक्टेटर नहीं, महाद्वीप भर की कोई पार्लमेण्ट नही है, एक संचालन कमेटी तक नहीं! सब कुछ परस्पर के समझौते से ही हो रहा है।

राज्य-शक्ति मे विश्वास रखनेवाले लोग कहते हैं, कि, "एक केन्द्रीय सरकार के बिना हमारा काम चल ही नही सकता, चाहे वह सडक पर आवागमन के संचालन के लिए ही क्यो न हो।" परन्तु हम उनसे प्रश्न करते हैं, "यूरोप की रेले बिना सरकारो के कैसे काम चला लेती हैं? वे किस प्रकार लाखों मुसाफ़िरो और पहाड-के-पहाड माल-असबाब को महाद्वीप के आर-पार ले जाती रहती हैं? रेलवे लाइनो की मालिक-कंपनियाँ जब आपस मे समझौता कर सकी हैं, तो इन्ही रेलो पर कब्जा करने वाले रेलवे-श्रमिक भी उसी तरह समझौता क्यो न कर सकेंगे? यदि पीटर्सबर्ग-वारसा कम्पनी और पेरिस-बेलफोर्ट कम्पनी परस्पर मिल कर काम कर सकती है और उन्हे अपने सिर पर किसी कमाण्डर का फ़ालतू बोझ लादने की ज़रूरत नही पडती, तो स्वतन्त्र श्रमिकों के संघ के बने हुए समाज के बीच मे हमे क्यो एक सरकार की आवश्यकता होगी?"

२

आज भी, जब कि सम्पूर्ण समाज का संगठन अन्यायपूर्ण है, यदि

लोगों के स्वार्थ बिलकुल परस्पर-विरोधी होते हैं, तो वे सत्ता के दख़ल के बिना ही आपस में समझौता कर लेते हैं। इस बात को हम उदाहरणों से सिद्ध कर सकते हैं, परन्तु उन में भी शंकाएं हो सकती हैं और उन्हे हम भुला नही देते।

ऐसे सब उदाहरणों मे दोष का भाग भी रहता ही है, क्योकि ऐसा तो एक भी संगठन बता सकना असम्भव है जिसमे सबल द्वारा निर्बल का, धनिक द्वारा निर्धन का, अपहरण न होता हो। इसी कारण राज्यवादी अपनी तर्कशैली के अनुसार यह कहेगे कि "अब आप समझ सकते है कि इस अपहरण को बन्द करने के लिए एक राज्य-सत्ता का बीच मे पडना आवश्यक है।"

परन्तु, वे इतिहास की शिक्षा को भूल जाते हैं। वे यह नही बतलाते कि दरिद्रों की सृष्टि करके और उनको लुटेरो के हाथ मे देकर राज्यसत्ता ने वर्तमान अवस्था उत्पन्न करने में स्वयं कितना भाग लिया है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और निर्धनता का दो-तिहाई हिस्सा तो कृत्रिम-रूप से राज्य-सत्ता द्वारा उत्पन्न किया हुआ है। वे इस बात को सिद्ध नही करते कि लूट के इन दोनो मूल कारणो के मौजूद रहते हुए भी लूट बन्द हो सकती है।

जब हम इस बात का जिक्र करते है कि रेलवे कम्पनियो मे कितना मेल है, तो हमें आशा है कि मध्यमवर्ग की सरकार के वे पुजारी हमसे कहेगे—"क्या तुम्हे मालूम नही है कि रेलवे-कम्पनियाँ अपने नौकरो और मुसाफिरो पर कितना जुल्म करती है, और उनके साथ कितना बुरा बर्ताव करती है? इसलिए एकमात्र उपाय तो यही है कि श्रमिको और जनता की रक्षा के लिए राज्य-सत्ता होनी चाहिए।"

परन्तु हमने तो इस बात को बार-बार कहा और दुहराया है कि जब तक पूंजीपति हैं तबतक शक्ति का दुरुपयोग होता ही रहेगा। जिस राज्य-सत्ता के विषय मे यह कहा जाता है कि वह भविष्य मे बडी उपकारिणी होगी, उसी ने तो उन कम्पनियों को हमारे ऊपर वे एकाधिकार

और विशेषाधिकार दिये थे जो आज उन्हे प्राप्त है। क्या राज्य ने इन्हों रेलो को रिआयते और आश्वासन (Guarantees) नही दिए ? क्या उसने हडताल करने वाले रेल मजदूरों के विरुद्ध अपने सिपाही नही भेजे ? प्रारम्भिक प्रयोगो मे तो उसने रेलवे के पूंजीपतियो के विशेपाधिकारो को इतना बढा दिया था कि, अखबारो को भी रेलवे दुर्घटनाओ के समाचारो का वर्णन करने से बन्द कर दिया, ताकि जितने हिस्सो की गारण्टी राज्य ने दी थी वह कम न हो जाय। जिस एकाधिकार से आजकल के धनेश, रेलवे कम्पनियो के संचालक, मोटे बने हुए हैं वह एकाधिकार क्या राज्य के अनुग्रह से नही मिला है ?

इसलिए यदि हम उदाहरणस्वरूप रेलवे कम्पनियो के अप्रत्यक्ष समझौते का जिक्र करते है, तो यह न समझ लेना चाहिए कि यह आर्थिक प्रबन्ध का एक आदर्श है। वास्तव मे यह तो औद्योगिक संगठन का भी आदर्श नही है। उदाहरण तो यह दिखाने के लिए है कि दूसरो से पैसा वसूल करके अपने हिस्सो के मुनाफे को बढाने के ही उद्देश्य से जब पूंजीपति लोग बडी सफलता के साथ और बिना अन्तर्राष्ट्रीय महकमा कायम किये हुए, रेलो को चला सकते है, तो श्रमिको के संघ भी उतनी ही या उससे भी ज्यादा अच्छी तरह से चला सकेंगे, और यूरोप भर की रेलो के किसी मन्त्रिमण्डल को मनोनीत करने की ज़रूरत न पडेगी।

एक शका और भी उपस्थित की जाती है, और ऊपर से देखने पर वह अधिक गम्भीर भी प्रतीत होती है। कहा जा सकता है कि जिस समझौते का हम ज़िक्र करते है वह पूर्णतः स्वेच्छापूर्वक किया हुआ नही है, और छोटी-छोटी कम्पनियो को बडी-बडी कम्पनियो का बनाया कानून मानना पडता है। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि राज्य-सहायता पाने वाली एक धनाढ्य जर्मन कम्पनी अपने मुसाफिरो को, जो बर्लिन से बाले को जाना चाहते हैं, लीपजिग के रास्ते से न जाने देकर, कोलोन और फ्रेंकफोर्ट के मार्ग से जाने को बाध्य करती है या यह कहा जा सकता है कि वह कम्पनी अपने प्रभावशाली हिस्सेदारो को लाभ पहुँचाने और

छोटी कम्पनियो का सर्वनाश करने के लिए माल को एक सौ तीस मील का व्यर्थ चक्कर दिलाती है। यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका) मे वहां के धन-कुबेरो की जेबे भरने के लिए बहुधा मुसाफिरो और माल को अत्यन्त लम्बे चक्कर दे कर जाना पडता है।

हमारा उत्तर तो वही है। जबतक व्यक्तिगत पूँजी रहेगी, तबतक बडी पूँजी छोटी पूँजी पर जुल्म करेगी। परन्तु जुल्म केवल पूँजी से ही पैदा नही होता। जो सहायता राज्य द्वारा उनको मिलती है, जो एकाधिकार राज्य ने उनके पक्ष मे निर्मित कर दिये है, उनके कारण भी बडी-बडी कम्पनियाँ छोटी-छोटी कम्पनियो पर जुल्म करती हैं।

अब से बहुत समय पहले इंग्लैण्ड और फ्रांस के साम्यवादी यह बता चुके हैं कि इंगलैण्ड की राज्य-व्यवस्था ने छोटे-छोटे धन्धो का नाश करने, किसानो को दरिद्र बना डालने, और बहु-संख्यक मनुष्यो को, चाहे जितनी कम मज़दूरी पर, उद्योगपतियो के हाथों मे सौंप देने के लिए अपनी शक्ति भर सबकुछ किया था। रेलवे के क़ानून ने भी यही काम किया। सैनिक उपयोग की लाइने, सहायता पाने वाली लाइने, अन्तर्राष्ट्रीय डाक का एकाधिकार रखने वाली कम्पनियाँ, इत्यादि सब बातें इसलिए की गईं कि बडे-बडे धनपतियो के स्वार्थों को ही अधिक लाभ हो। जब सारे राज्यो को कर्जा देनेवाला एक धनपति किसी रेलवे-कम्पनी मे पूंजी लगाता है, तो उन राज्यो के मन्त्री लोग जो कि उसके विनीत प्रजाजन हैं, वही काम करेंगे जिससे उस धनपति की कमाई और भी बढे।

जिस यूनाइटेड स्टेट्स को राज्यसत्तावादी लोग आदर्श लोक-सत्तात्मक राज्य बताते हैं, उसी मे रेलो की हर बात में अत्यन्त घृणित धोखेबाज़ी घुसी हुई है। यदि किसी एक कम्पनी का किराया दूसरी कम्पनी से सस्ता है, जिससे दूसरी कम्पनी मुकाबिले मे टिक नही सकती तो प्राय. इसका कारण यही है कि उस कम्पनी को राज्य की ओर से ज़मीन मुफ्त मे दे दी गई है। अमेरिका के व्यापार के सम्बन्ध मे कुछ कागजात अभी प्रकाशित हुए थे। उनसे पूर्णतया प्रकट होता है कि सबल द्वारा निर्बल

के दबाये जाने मे राज्य का कितना हाथ था। यहाँ भी यही देखने में आता है कि राज्य की सहायता से एकत्रित पूँजी की शक्ति दसगुनी और सौगुनी बढ गई। फलतः हम देखते है कि रेलवे कम्पनियों के संघ (syndicates) बन गये है (जो आपसी समझौता के परिणाम हैं) और वे बडी कम्पनियो के मुकाबिले में अपनी छोटी कम्पनियो की रक्षा करने मे सफल हुए हैं, तब हमे आपसी समझौते की वास्तविक शक्ति का पता लगता है। इसके द्वारा तो राज्य का अनुग्रह पाने वाली सर्वशक्तिमती पूंजी का भी मुकाबिला किया जा सकता है।

यह एक वास्तविकता है कि राज्य के पक्षपात के होते हुए भी छोटी कम्पनियाँ मौजूद है। फ्रांस यद्यपि केन्द्रीकरण की भूमि है फिर भी वहाँ हमे पांच या छ: बडी कम्पनियाँ दिखाई देती हैं; परन्तु ग्रेटब्रिटेन मे एक-सौ दस से भी अधिक है। इनका परस्पर मेल काफी अच्छा है, और मुसाफिर और माल जल्दी ले जाने का प्रबन्ध भी फ्रेंच और जर्मन कम्पनियों से निश्चयपूर्वक अच्छा है।

परन्तु सवाल यह नही है। बडी पूंजी तो राज्य का अनुग्रह पाकर सदा छोटी पूंजी को दबा सकती है, यदि ऐसा करना राज्य के लिए लाभदायक हो। पर हमारे लिए तो महत्व की बात यह है कि जो संधि (समझौता) यूरोप की सैकडो पूँजीपति रेलवे कम्पनियों के बीच हुई थी, वह विविध संस्थाओ के लिए कानून बनाने वाली केन्द्रीय सरकार के हाथ के बिना ही स्थापित हुई थी। वह संधि उन सम्मेलनों द्वारा कायम रही है, जिनमे विविध रेलवे कम्पनियो के प्रतिनिधि अपनी-अपनी कम्पनियो के लिए क़ानून नही; किन्तु तजवीजे बनाने के लिए आते हैं, और इन तजवीज़ो पर बहस करके अपनी-अपनी कम्पनी मे पेश करते हैं। यह तो सिद्धान्त ही नया है, और सब प्रकार के राज्य विषयक सिद्धान्तो से बिलकुल भिन्न है—चाहे वे एक-तन्त्र शासन या प्रजातन्त्र-शासन, चाहे निरंकुश-शासन या व्यवस्था-सभा (पार्लमेन्ट) शासन के ढंग के ही क्यो न हो। यह एक नया ही आदर्श है, जो यूरोप की परम्परा में चुपके-चुपके घुस गया है, परन्तु स्थायी हो गया है।

३

राज्य-सत्ता के प्रेमी साम्यवादियो ने भी बहुधा लेखो मे लिखा है—"क्यों जी, आपके भावी समाज मे नहर पर होने वाले ग्रामदरफ्त का नियन्त्रण फिर कौन करेगा ? यदि आपके किसी अराजक साम्यवादी 'कामरेड' के मन में यह बात आई कि वह नहर के बीच में अपना बजरा (बडी किश्ती) खडा कर दे और हज़ारो नावों का आना-जाना बन्द करदे, तो उसे ठीक रास्ते पर कौन लायगा ?"

हमें यह कल्पना तो अनहोनी-सी मालूम होती है। फिर भी एक शंका यह हो सकती है कि "यदि कोई एक ग्राम-पंचायत या पंचायत-संघ अपने बजरो को दूसरो से पहले ले जाना चाहे, तो वे पत्थर से भरे हुए अपने बजरो से ही नहर को रोक रक्खेंगे, और दूसरी पंचायत की आवश्यकता के गेहूँ को रुक कर खडा रहना पडेगा। उस अवस्था मे यदि कोई सरकार न होगी तो गमनागमन का नियन्त्रण कौन करेगा ?"

परन्तु वास्तविक जीवन ने यह दिखा दिया है कि इस मामले मे भी सरकार की आवश्यकता नहीं है। स्वेच्छा से किया हुआ समझौता और स्वेच्छा से किया हुआ संगठन उस राज्य नामधारी अनीतिमय और ख़र्चीली प्रणाली के बजाय काम करेगा और उससे अच्छा काम करेगा।

हालैण्ड के लिए नहरें बडे ही महत्व की है। वे उसकी सडकें है। जो कुछ माल-असबाब हमारी सडको और रेलो पर से जाता है, वह हालैण्ड में नहरो पर नावो से जाता है। वहां आपको अपनी नावें दूसरो से पहले निकालने के लिए लडने का कारण मिल सकता है। वहाँ गमनागमन को व्यवस्थित रखने के लिए सरकार वास्तव में बीच मे पड सकती है।

परन्तु ऐसा होता नहीं। बहुत जमाने पहले हालैण्डवासियो ने इस बात का फैसला अधिक व्यावहारिक मार्ग से कर लिया। उन्होने नाववालो के संघ बना लिये। ये स्वेच्छा से बने हुए संघ थे और नाव चलाने की आवश्यकता से ही बने थे। नाववालो के रजिस्टर में जिस क्रम से नाम

लिखे गए उसी क्रम से नावो के गुज़रने का हक होता था। वे अपनी-अपनी बारी से एक-के-बाद-एक जाते थे। उस संघ से निकाल दिए जाने के दण्ड से डर कर कोई दूसरो से पहले निकालता न था। निश्चित संख्या से अधिक दिन तक घाट पर कोई ठहर न सकता था। नाव-मालिको को उतने समय मे यदि ले जाने के लिए कोई माल न मिलता तो उसे नये आनेवालो के लिए स्थान खाली करके चल देना पडता था इस प्रकार रास्ता रुक जाने की कठिनाई मिट गई, यद्यपि नाव-मालिको की व्यक्तिगत प्रति-स्पर्धा मौजूद थी। यदि यह प्रति-स्पर्धा भी मौजूद न होती तो उनका समझौता और भी अधिक प्रेमपूर्ण होता।

यह कहना आवश्यक है कि जहाज-मालिको का उस सघ में शामिल होना या न होना उनकी इच्छा पर था। यह उनके ही देखने का काम था, परन्तु उनमे से अधिकाश ने उसमे सम्मिलित होना पसन्द किया। इसके अतिरिक्त इन संघो से इतने अधिक लाभ थे कि ये राइन, वेसर, ओडर नदियो पर और बर्लिन तक फैल गए थे। ये नाववाले इस इंतज़ार में बैठे न रहे कि एक महान् बिसमार्क आवे, हालैण्ड को जीतकर जर्मनी में मिला ले, और वह अपनी व्यवस्था से 'सुप्रीम हेड काउन्सिलर ऑव दि जेनेरल स्टेट्स केनाल नेवीगेशन' (राजकीय नहरो का प्रधान अधिकारी) नामक किसी पदाधिकारी को नियुक्त करे, जिसकी बॉह पर उतनी ही सुनहरी धारियॉ हो जितना लम्बा उसका पद है। उन संघो ने एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता कर लेना पसन्द किया। इसके अलावा, जिन जहाज़-मालिको के जहाज़ जर्मनी और स्केन्डिनेविया तथा रशिया के बीच चलते थे; वे भी बाल्टिक सागर के गमनागमन को सुसंचालित करने और जहाज़ो के पारस्परिक व्यवहार में अधिक सामञ्जस्य पैदा करने की दृष्टि से इन्ही नाववालो के सघो मे सम्मिलित हो गये। ये संघ स्वेच्छा-पूर्वक उत्पन्न हुए है। इनमे सम्मिलित होनेवाले अपनी ही इच्छा से सम्मिलित हुए है। इन संघो मे सरकारो से कुछ भी समता नही है।

फिर भी, यह अधिक सम्भव है कि यहॉ भी बडी पूँजी छोटी पूंजी पर ज़ुल्म करती हो। शायद इस सघ में भी एकाधिकारी बनने की

प्रवृत्ति मौजूद हो, विशेषकर उस अवस्था मे जब उसे राज्य की ओर से खासा संरक्षण मिलता हो। राज्य ने तो यहाँ भी अपनी टाँग अड़ाई, परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि ये संघ उन सदस्यो के है जो अपने-अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ रखते हैं। यदि उत्पत्ति, खपत और विनिमय के समाजीकरण होने से यह जहाज़-मालिक किसी साम्यवादी पंचायतों के समुदाय से या विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिए बनी हुई किसी विशेष संस्था-समिति से सम्बन्धित होते, तो अवस्था दूसरी ही होती। जहाज-मालिको का संघ समुद्र पर शक्तिशाली होते हुए भी स्थल पर कमजोर होता, और रेलों, कारखानों और दूसरे संघों के साथ योग देने के लिए उन्हें अपने अधिकार कम करने पडते।

परन्तु भविष्य में क्या होगा इस पर हम बहस नहीं करते। हम एक और ऐसी ही स्वयं-संगठित संस्था बताते है जो सरकार के बिना चलती है।

जब जहाजों और नावों की चर्चा चल रही है, तो हम एक ऐसी संस्था का भी वर्णन क्यो न कर दें, जो उन्नीसवी सदी की सुन्दरतम संस्थाओं में से है, और जिसका हम वास्तव मे अभिमान कर सकते हैं। वह संस्था है—इंगलिश लाइफ-बोट एसोसिएशन।'

यह तो सर्वविदित है कि हर साल एक हज़ार से भी अधिक जहाज़ इंग्लैण्ड के समुद्र-तट पर नष्ट हो जाते हैं। समुद्र पर तो जहाज़ को तूफान का भय प्राय नही होता। किनारों के पास ही ख़तरे अधिक होते है। कही समुद्र क्षुब्ध (rough) होने के कारण जहाज़ के पीछे का धड टूट जाता है। कभी-कभी अचानक हवा के तेज़ झोके आ जाते हैं जो जहाज़ के मस्तूलो और बादबानों को उडा ले जाते है। कहीं-कहीं ऐसी जल-धाराएँ होती हैं जिनमे जहाज़ बडी मुश्किल से काबू मे रह पाता है। कही पानी मे चट्टानो या रेत का सिलसिला होता है, जिस पर जहाज़ चढ जाता है।

प्राचीन काल में समुद्र-तटो के रहनेवाले किनारों पर आग इसलिए जलाया करते थे कि उससे आकर्षित होकर जहाज़ वहाँ जाय और पानी मे की चट्टानों पर चढ जाय और वे उसे लूट ले। परन्तु उस

समय भी वे जहाज़वालो की जान बचाने का सदा प्रयत्न करते थे। यदि वे किसी जहाज़ को आपत्ति मे पडा देखते थे, तो अपनी नावे डाल देते और भग्न-पोत नाविको की सहायता के लिए जाते थे। कभी-कभी स्वयं भी समुद्र में मर जाते थे। समुद्र-तट की प्रत्येक कुटिया की वीरता की अनेको कहानियाँ है। ये कहानियाँ उन स्त्रियो और पुरुषो की है, जिन्होंने विपद्ग्रस्त मल्लाहो की जान बचाने मे समानरूप से बहादुरी दिखलाई थी।

नि.सन्देह राज्य ने और विज्ञानवेत्ताओ ने ऐसी घटनाओ की संख्या कम करने मे थोडी-बहुत सहायता पहुँचाई है। समुद्रो के दीप-स्तम्भों और विशेष-विशेष चिन्हो, नक्शो और वायुमण्डल विज्ञान सम्बन्धी सूचनाओ ने इन दुर्घटनाओ को बहुत कम कर दिया है। फिर भी सैकडो जहाज़ो और हज़ारो मनुष्यो का जीवन बचाना बाकी रहता है।

इस कार्य के लिए कुछ सत्पुरुष मैदान मे आये। वे स्वयं अच्छे-अच्छे नाविक या समुद्र मे जानेवाले मल्लाह थे। इसलिए उन्होने एक ऐसी रक्षा-नौका का आविष्कार किया जो तूफान मे भी न टूटे, न उलटे। वे अपने इस साहसी कार्य मे जनता की दिलचस्पी बढाने, और रक्षा-नौकाओ को बनाने व उन्हे तट पर यथावश्यक स्थानो पर रखने के लिये धन-संग्रह करने के काम में लग गये।

वे लोग वाक्शूर राजनीतिज्ञ तो थे नही, जो सरकार का मुंह ताकते। इन्होंने समझा कि इस साहस की सफलता के लिए स्थानीय नाविकों का सहयोग, उत्साह और स्थानिक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। जो व्यक्ति इशारा पाते ही बडी-बडी लहरों में भी रात मे अपनी नाव डाल देंगे, अन्धकार या लहरो के कारण रुकेंगे नही, जबतक आपत्तिग्रस्त जहाज पर पहुँच न जायंगे तबतक पॉच, छ या दस घंटे बराबर प्रयत्न करते जायंगे—जो व्यक्ति दूसरों की जान बचाने के लिये अपनी जान तक दे डालने को तैयार होंगे—ऐसे लोगो को प्राप्त करने के लिए एकता और बलिदान की भावना चाहिए। यह भावना दिखावटी बातो से खरीदी नही जा सकती। इसलिए रक्षा-नौकाओ का यह आन्दोलन

पूर्णतः स्वयं ही उत्पन्न हुआ था, और व्यक्तिगत प्रेरणा और समझौते के ही कारण उत्पन्न हुआ था। समुद्र के किनारे सैकड़ों स्थानीय संघ बन गये। संघों को बना कर खड़े करनेवालों मे इतनी समझ थी कि वे मालिक बनकर नही रहे। उन्हे विश्वास था कि मछुओं की कुटियो में भी विचार-बुद्धि है। जब कभी कोई धनिक किसी गाँव के किनारे पर रक्षा-नौका का स्टेशन बनाने के लिए १०० पौण्ड धन भेजता था, और वह धन ले लिया जाता था, तो वह उचित स्थान पसंद करने का काम स्थानीय मछुओं और नाविको पर ही छोड़ देता था।

नई नावो के नमूने समुद्र-मन्त्री के विभाग मे पेश नही किए गए। इङ्गलिश लाइफ़-बोट एसोसिएशन की एक रिपोर्ट मे लिखा है—"चूंकि रक्षानौका (लाइफ-बोट) चलाने वालों को अपनी नौका के विषय में पूर्ण विश्वास होना चाहिए, इसलिए कमेटी अपना मुख्य ध्यान रक्खेगी कि नौकाएं उनके चलाने वालो की प्रकट इच्छाओ के अनुसार ही बनें और उनके बताए हुए साधनो से उत्पन्न हो।" परिणाम यह है कि हर साल उनमे नये-नये सुधार होते रहते है। कमेटियां और स्थानीय संघ बना कर स्वयंसेवक लोग ही सब काम चलाते है। सारा काम पारस्परिक सहयोग और आपसी समझौते से होता है। देखा, अराजक लोग ही यह सब कार्य कर लेते है! इसके अतिरिक्त, करदाताओं से वे एक कौड़ी नहीं मांगते और साल मे ४०,००० पौण्ड तक उन्हे स्वेच्छापूर्वक चन्दे से मिल जाता है।

यदि यह पूछा जाय कि काम कितना हुआ, तो वह इस प्रकार है—सन् १८६१ में एसोसिएशन के पास २६३ रक्षा-नौकाएँ थीं। उस वर्ष उसने टूटे हुए जहाज़ों के ६०१ नाविको और ३३ जहाज़ों और नावों को बचाया। जब से संस्था का जन्म हुआ तब से उसने ३२,६७१ मनुष्यो को बचाया

१८८६ मे तीन रक्षा-नौकाएँ और उनमे बैठने वाले समुद्र मे डूब गए। तब सैकडों नवीन स्वयंसेवको ने अपने-अपने नाम लिखाए और

अपने-अपने स्थानीय संघ बना लिए। उस समय के आन्दोलन का फल यह हुआ कि बीस रक्षा-नौकाएं बन गईं। इस बीच हमें यह भी जान लेना चाहिए कि यह एसोसिएशन हर साल मछुओं और नाविकों को अच्छे-अच्छे बेरोमीटर (वायुभार-सूचक यन्त्र) बाजार से तिहाई मूल्य पर भेजता है। यह वायुमण्डल-सम्बन्धी विज्ञान का प्रचार करता है और वैज्ञानिकों द्वारा मालूम किये हुए मौसम के शीघ्र-परिवर्तनों की पूर्व-सूचना उन-उन व्यक्तियों को देता है जिन-जिन से उन सूचनाओं का सम्बन्ध है।

हम यह फिर दोहरा देते हैं कि इन सैकड़ों कमेटियों और स्थानीय संघों को बनाने कोई पवित्र सत्ताधीश नहीं आए। उनमें केवल स्वयं-सेवक, रक्षा-नाविक, और इस कार्य के रसिक लोग ही हैं। केन्द्रीय कमेटी भी केवल पत्र-व्यवहार का केन्द्र है। वह किसी प्रकार दख़ल नहीं देती।

यह सच है कि जब किसी ज़िले में शिक्षा के या स्थानीय कर लगाने के किसी प्रश्न पर वोट लिये जाते हैं, तो वहां की इंग्लिश लाइफ़ बोट एसोसिएशन की कमेटियाँ, अपनी हैसियत से, उन विवादों में कोई भाग नहीं लेतीं। दुर्भाग्य है कि इस नम्र व्यवहार का अनुकरण चुनी हुई संस्थाओं के सदस्य नहीं करते! परन्तु इसके विपरीत यह भी बात है कि ये वीर पुरुष समुद्र में आदमियों की जान बचाने के बाबत कोई विधान उन लोगों को बनाने नहीं देते जिन्होंने कभी तूफान का मुक़ाबिला नहीं किया। आपत्ति का पहला इशारा पाते ही वे अपनी नावों पर दौड़ पड़ते हैं और आगे बढ़ जाते हैं। उनके पास चमकदार वर्दियाँ नहीं हैं, पर उन में सद्भावना बहुत है।

हम उसी प्रकार की एक दूसरी संस्था, 'रेड क्रॉस सोसायटी' का उदाहरण लें। नाम कैसा भी हो, हमें तो उसके गुण-दोष देखने चाहिएँ।

कल्पना कीजिए कि कोई व्यक्ति पचास वर्ष पहले कहता—"राज्य रोज़ बीस हजार आदमियों का वध करने और पचास हज़ार आदमियों को घायल करने में समर्थ है, परन्तु वह अपने घायलों की सेवा-सुश्रूषा

करने मे असमर्थ है। इसलिए जबतक युद्ध का अस्तित्व रहे तबतक अपनी व्यक्तिगत प्रेरणा से लोग इस काम मे पड़ें और सद्भाव रखनेवाले लोग अन्तर्राष्ट्रीय रूप से इस परोपकार-कार्य के लिये संगठन बना लें!" यदि ऐसी बात कहने का कोई साहस करता तो उसका कितना मज़ाक उड़ाया जाता! पहले-पहले तो उसे पागल कहा जाता। यदि वह इससे चुप न होता तो उससे कहते—"यह कितनी वाहियात बात है! तुम्हारे स्वयं-सेवक ठीक वहां तो पहुँचेंगे नही जहाँ उनकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत होगी। तुम्हारे स्वेच्छा-चिकित्सालय सुरक्षित स्थानो पर ही केन्द्रीभूत हो जायेंगे और लडाई के मैदानो के चलते-फिरते चिकित्सालयो मे कुछ भी न होगा। तुम्हारे जैसे स्वप्न देखने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि उन काम करने वालों मे भी राष्ट्रीय द्वेषभाव होंगे। वे ग़रीब सिपाहियो को बिना सहायता किये ही पडे रहने देंगे।" जितने मुंह उतनी ही बातें कही जाती। लोगो को जनता मे इस ढंग की बातें करते हुए किसने नहीं सुना है?

परन्तु वास्तव मे कैसा हुआ, वह हमें मालूम है। रेड क्रॉस सोसायटियां सब जगह, सब देशो में, हजारों स्थानों पर स्वेच्छा से स्वयं संगठित हुईं। जब १८७०–७१ का युद्ध चला तो स्वयंसेवक कार्य मे जुट पडे। स्त्री और पुरुष सेवा के लिए आगे आये। हज़ारों अस्पतालो और चलते-फिरते चिकित्सालयो का संगठन हुआ। चलते-फिरते चिकित्सालयो, भोजन-सामग्री, कपडा और घायलों की औषधियो को ले जानेवाली रेल-गाडियाँ छोडी गईं। इंगलैण्ड की कमेटी ने भोजन, वस्त्र और औज़ारो की भरपूर सहायता भेजी, और युद्ध से उजडे हुए प्रदेशों की खेती के लिए बीज, हल खींचने वाले पशु, स्टीम-हल और उनके चलाने के लिए आदमी तक भेजे। गस्टेव मॉयनियर लिखित 'La Croix Rouge' नामक पुस्तक देख लीजिए। आपको आश्चर्य होगा कि कितना भारी काम किया गया।

जो भविष्यवक्ता दूसरों के साहस, सदिच्छा और बुद्धिमत्ता का सदा ही खण्डन करते है और जो डंडे के जोर से संसार पर शासन करने के योग्य अपने को ही समझते है, उनकी एक भी भविष्यवाणी सत्य न हुई।

रेड क्रॉस स्वयंसेवकों की लगन अत्यन्त प्रशंसनीय थी। बडे-से-बडे ख़तरे की जगहो पर ही काम करने के लिए वे उत्सुक रहते थे। जब प्रशियन सेना बढने लगी तो नेपोलियन के राज्य के वेतन-भोगी डाक्टर अपने मातहतो के साथ भाग खडे हुए। परन्तु रेड क्रॉस स्वयंसेवकों ने गोलो की वर्षा मे भी अपना काम जारी रक्खा। वे बिस्मार्क और नेपोलियन के अफसरो की पाशविकताओं को सहन करते रहे, और सब राष्ट्रो के घायलो की समान सेवा करते रहे। हॉलैण्ड, इटेली, स्वीडेन, बेल्जियम, जापान और चीन के भी लोगों ने बडी ख़ूबी से मिल-जुल कर काम किया। जब जैसी आवश्यकता पडती, तब उसी के अनुसार वे अपनी, अस्पतालो को बॉट देते थे। वे एक दूसरे से प्रति-स्पर्धा करते थे, विशेषकर अस्पतालो की सफाई में। अब भी ऐसे कई एक फ्रान्सवासी हैं जो रेड कॉस एम्बुलेंस के डच या स्वयंसेवकों की प्रेमपूर्ण चिकित्सा का बडा उपकार मानते हैं। परन्तु राज्यसत्तावादी की दृष्टि मे यह है ही क्या ? उसका आदर्श तो है, राज्य से वेतन पानेवाला फ़ौजी डाक्टर। परिचारिकाएँ (नर्स) यदि सरकारी न हुईं, तो वह रेड क्रॉस और उसके अच्छे-अच्छे अस्पतालो को समझता ही क्या है ?

तो, यह एक ऐसा संगठन है जो केवल कल का बच्चा है। इसके मेम्बरो की संख्या लाखो है। इसके पास चलते-फिरते चिकित्सालय हैं, अस्पताल के सामान की रेलगाडियॉ हैं, यह घावो की चिकित्सा के नये-नये तरीके निकालता है और इसी प्रकार की कई प्रशंसनीय बातें करता है। और इस संस्था के जन्म का कारण है लगनवाले कुछ व्यक्तियो का स्वेच्छापूर्वक साहस।

कहा जा सकता है कि इस संगठन से राज्य का भी तो सम्बन्ध है। हॉ, राज्यो ने इस संस्था को अपने कब्ज़े मे करने के लिए उसमे हाथ डाला है। इसकी प्रबन्धक-कमेटियो के प्रधान वे लोग है जिन्हे खुशामदी लोग जाति के सरदार कहते हैं। सम्राट् और साम्राज्ञियॉ अपने राष्ट्र की कमेटियो के संरक्षक और सहायक बनने का खूब ढोंग करते हैं। परन्तु इस संरक्षण से इस संगठन को सफलता नही मिली

है। इसकी सफलता प्रत्येक राष्ट्र की उन हज़ारों स्थानीय कमेटियो के कारण हैं, उन व्यक्तियो के उत्साह के कारण हैं और उन लोगों की लगन के कारण हैं जो युद्ध के घायलो की सेवा करते है। और यह लगन बहुत अधिक हो जाती, यदि राज्य अपना हस्तक्षेप न करता।

फिर भी, १८७१ के युद्ध मे घायलो की सेवा के लिए इंगलैण्डवालो और जापानवालो, स्वीडनवासियों और चीनवासियों, ने जो सहायता भेजी वह किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापक कमेटी के हुक्म से नही भेजी। आक्रान्त प्रदेश में जो अस्पताल खडे हुए और युद्ध-क्षेत्र पर चलते-फिरते चिकित्सालय लेजाए गए, यह काम किसी अन्तर्राष्ट्रीय मंत्रिमंडल की आज्ञा से नही हुआ। यह काम प्रत्येक देश के आये हुए स्वयंसेवकों के विचारो और प्रयत्नो से हुआ। कार्य स्थान पर पहुँचने के बाद वे एक-दूसरे से लडे नही, जैसा कि सब राष्ट्रों के वाक्शूर राजनीतिज्ञो ने सोचा था, परन्तु राष्ट्रीय भेदो को भूलकर काम मे लग गए।

इसका तो हमे खेद है कि इतना बडा प्रयत्न इतने बुरे कार्य की खातिर करना पडा। एक बालक कवि की भाँति हम सोचते हैं—"बाद में चिकित्सा करनी पडे तो पहले घायल ही क्यों किया जाय?" पूँजी-पति की शक्ति और मध्यमवर्ग की सत्ता का नाश करके हम युद्ध नामक हत्याकाण्डों की समाप्ति करना चाहते हैं, और अधिक अच्छा तो यह हो कि रेड क्रॉस स्वयंसेवक (हमारे साथ) युद्ध की समाप्ति करने की ओर अपनी शक्ति लगाये। परन्तु इस बडे भारी संगठन का ज़िक्र तो हमने सिर्फ इसलिए किया है कि इससे स्वेच्छापूर्वक किये हुए समझौते और सहयोग का परिणाम मालूम हो सके।

मनुष्य के बध करने की कला में से यदि हम उदाहरण देने लगें तो वे कभी समाप्त न हो। इतना ही कह देना काफी है कि जर्मन सेना को बल पहुँचनेवाली अनेकों समितियाँ हैं। प्रायः लोगो का ख़याल है कि जर्मन-सेना की शक्ति अनुशासन पर ही निर्भर है, पर वैसा नही है। हमारा तात्पर्य उन संघों से है जो सेना-सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार करते है।

सैनिक मित्र-मंण्डल क्रीगरबन्ड (Military Alliance)

Kriegerbund की एक पिछली कॉग्रेस के अवसर पर २४५२ सम्बन्धित संघो से प्रतिनिधि आये थे जिनकी कुल सदस्य-संख्या १,५१,७१२ थी। लक्ष्यवेधन, सैनिक खेल, युद्ध की चालाकियो के खेल और भौगोलिक अध्ययन-सम्बन्धी बहु-संख्यक संघ इसके अलावा हैं। इनमे ही जर्मन-सेना का युद्धज्ञान विकसित होता है, न कि सैनिक छावनियो के स्कूलो मे। सब प्रकार की सोसाइटियो का यह एक ज़बर्दस्त जाल है। ये सोसाइटियाँ अपने-आप उत्पन्न होती है, संगठित और सम्बन्धित होती हैं, और देश का परिवर्तन कर डालती हैं। इनमे सैनिक और शहरी लोग, भूगोल-वेत्ता और व्यायाम जाननेवाले लोग, खिलाडी और औद्योगिक कलाओं के विशेषज्ञ सभी है।

इन संघो का उद्देश्य वास्तव मे घृणित है; और वह है, साम्राज्य का पोषण करना। परन्तु इससे हमारा सरोकार नही। हमारा प्रयोजन तो सिर्फ यह दिखलाना है कि यद्यपि सैनिक संगठन ही 'राज्य का महान् ध्येय' है फिर भी इस दिशा मे भी जितना ही अधिक वह समुदायो के स्वेच्छापूर्वक समझौते और व्यक्तियो के स्वतन्त्र विचार और प्रयत्न पर छोड दिया जाता है, उतनी ही अधिक उसमे सफलता मिलती है।

इस प्रकार युद्ध से सम्बन्ध रखनेवाली बातो मे भी आपसी समझौते की ज़रूरत होती है। हमारे सिद्धान्त की सिद्धि के लिए हम निम्न-लिखित उदाहरण और भी दे सकते हैं:—स्वीज़रलैण्ड का धरातल-शोधक दल (टोपोग्राफर्स कोर) जिसके स्वयंसेवक पर्वत-मार्गों का ब्यौरेवार अध्ययन करते है; फ्रांस का वायुयान दल (ऐरोप्लेन कोर), ब्रिटेन के तीन लाख वालण्टियरों का दल, ब्रिटिश नेशनल आर्टिलरी एसोसिएशन, इंगलैण्ड के समुद्र-तट की रक्षा के लिए हाल मे ही जो एक सोसाइटी बन रही है, बाइसिक्लिस्ट कोर; और व्यक्तिगत मोटरो व स्टीम नावो के नये संगठन।

सब जगह राज्य अपना अधिकार-त्याग कर रहा है। वह अपने पवित्र कर्त्तव्यों को छोड रहा है और व्यक्तिगत मनुष्य उसको ग्रहण कर रहे है। सब जगह स्वेच्छापूर्वक बना हुआ संगठन उसकी सीमा मे घुस

रहा है। परन्तु जो उदाहरण हमने दिये है वे तो हमे भविष्य की उस अवस्था का केवल दिग्दर्शन मात्र कराते है जो आपसी समझौते से बनेगी और जब राज्य का अस्तित्व मिट जायगा।

: १२ :

शंकाएँ

१

अब हम उन मुख्य-मुख्य शंकाओ की समीक्षा करेंगे जो समाजवाद के विरुद्ध उठाई जाती है। उनमे से अधिकांश शंकाएँ तो केवल ग़लतफहमी के कारण उत्पन्न हुई है, परन्तु प्रश्न महत्व के हैं, इसलिए हमको उनपर ध्यान देना चाहिए।

राज्यसत्तावादी समाजवाद के विरुद्ध जो शंकाएँ है उनका उत्तर देना हमारा काम नही है। हमे ख़ुद उसके विरुद्ध वे शंकाएँ हैं। चाहे राज्य समाज के केवल कल्याण के ही लिए क्यो न हो, पर उसकी सत्ता का नागरिक के छोटे-से-छोटे काम में भी अनुभव होता है। ऐसे राज्य को अपने ऊपर से हटाने और व्यक्ति की स्वतंत्रता को पाने के वास्ते सभ्य जातियो ने लम्बी-लम्बी और कठिन लडाइयाँ लडी हैं और उनमें बहुत कष्ट उठाये है। यदि राज्यसत्तात्मक साम्यवादी समाज कभी स्थापित भी हो जाय, तो वह स्थायी न रह सकेगा। सार्वजनिक असंतोष या तो उसे शीघ्र ही तोड देगा, या उसका स्वाधीनता के सिद्धान्तो पर पुन. संगठन करायगा।

हम तो उस अराजक साम्यवाद की बात कहते है, जो व्यक्ति की पूर्ण स्वाधीनता को मानता है, जिसमे किसी सत्ता को स्थान नहीं है, और जो मनुष्य से काम लेने के लिए बलात्कार से काम नही लेता। हम इस प्रश्न के आर्थिक पहलू पर ही विचार करेंगे और देखेंगे कि क्या ऐसा समाज उन्नतिशील विकास पा सकता है या नही। उसमें

आदमी वैसे ही होंगे जैसे आज है; न आजकल.के मनुष्यो से अच्छे, न बुरे। न इनसे अधिक परिश्रमी, न कम परिश्रमी।

यह शङ्का सर्वविदित है कि "यदि प्रत्येक व्यक्ति के जीवित रहने का प्रबन्ध हो जायगा, और यदि मजदूरी कमाने की आवश्यकता मनुष्य को काम करने के लिए बाधित न करेगी तो कोई व्यक्ति काम न करेगा। यदि प्रत्येक मनुष्य पर अपना काम करने की मज़बूरी न होगी तो वह अपने काम का भार दूसरे पर टाल देगा।" पहली बात तो यह है कि यह शङ्का बिना समझे की गई है, और इसमे यह भी नही सोचा गया कि इस प्रश्न से पहिले दो वास्तविक प्रश्न उठते हैं। एक तो यह कि मजदूरी-प्रथा से जो सुपरिणाम बताये ज.ते हैं, क्या वे वास्तविक रूप मे प्राप्त होते ही हैं? और दूसरा यह कि अब भी मजदूरी कमाने की प्रेरणा से जो उत्पत्ति होती है क्या उसकी अपेक्षा स्वेच्छापूर्वक किये हुए श्रम से अधिक उत्पत्ति नही होती? ये ऐसे प्रश्न है जिन पर ठीक-ठीक विचार करने के लिए गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। यद्यपि वैसे तो वैज्ञानिक और शास्त्रीय विषयों के लोग, इससे बहुत ही कम महत्व के और कम पेचीदा सवालो पर भी, अपनी राय बडा अन्वेषण कर लेने और बडी सावधानी से सामग्री इकट्ठी करने और खूब विश्लेषण करने के बाद देते हैं, परन्तु इस प्रश्न पर वे बिना जाने ही अन्तिम निर्णय दे डालते हैं। वे अमेरिका के किसी समाजवादी संघ की असफलता आदि एक-आध घटना का ही प्रमाण काफी समझ लेते हैं। वे उस वकील की तरह हैं को विरुद्ध पक्ष की तरफ से पैरवी करने की राय को अथवा अपनी राय से विरुद्ध-किसी भी राय को नही मानता। सिर्फ यह समझता है कि वह कोई बकवादी है। और उसे कोई मुंहतोड जवाब मिल जाता है तो फिर अपना पक्ष-समर्थन भी नहीं करता। मानव-श्रम का न्यून-से-न्यून अपव्यय करके उपयोगी वस्तुओ का अधिक-से-अधिक परिमाण प्राप्त करने के लिए सबसे अधिक अनुकूल परिस्थिति समाज के लिए क्या हो सकती है—यह प्रश्न ही सारे राजनैतिक अर्थशास्त्र का आवश्यक आधार है। और उपर्युक्त कारण से इस प्रश्न का अध्ययन नहीं

बढ पाता। या तो लोग साधारण आक्षेपो को दुहराते रहते है या हमारे कथनों के अज्ञान का बहाना कर लेते है।

इस बेसमझी की शंका मे एक बात यह ध्यान देने योग्य है कि पूंजीवादी राजनैतिक अर्थशास्त्र मे भी आजकल कुछ ऐसे लेखक है जो अपने शास्त्र के जन्म देने वालो के इस सिद्धान्त पर कि 'भूख का भय ही मनुष्य को काम् करने के लिए प्रेरित करता है' संदेह करने लगे हैं, और इसके लिए उनके पास कुछ वास्तविक प्रमाण का आधार है। वे अनुभव करने लगे है कि उत्पत्ति में कुछ 'सामूहिक तत्त्व' अवश्य होता है, जिसको अभी तक बहुत भुलाया गया है, और वह व्यक्तिगत लाभ से अधिक महत्व का हो सकता है। उच्च अर्थशास्त्रीय विचारको के मन मे यह बात घूमने लगी है कि मजदूरी से जो काम कराया जाता है वह हलका होता है, आधुनिक कृषि और उद्योगो मे जो मज़दूर काम करते हैं उन में मनुष्य की शक्ति का भयङ्कर अपव्यय होता है, आराम-तलबों की सख्या दिन-दूनी बढ रही है, लोग अपना काम दूसरों के ऊपर छोडते जा रहे है, और उत्पत्ति-कार्य मे उत्साह का अभाव अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है। उनमें से कई विचारक सोचते हैं कि क्या वे गलत रास्ते पर तो नही चले आये? वे सोचते हैं कि जिस मनुष्य के विषय मे यह कल्पना की गई थी कि वह केवल लाभ कमाने या मज़दूरी पाने की प्रेरणा से ही काम करता है, ऐसा पतित प्राणी वास्तव मे कहीं है भी या नहीं। यह संदेह विश्वविद्यालयो में भी घुस गया है। वह कट्टर अर्थशास्त्र की पुस्तकों में भी पाया जाता है।

परन्तु अब भी बहुत से साम्यवादी सुधारक है जो व्यक्तिगत वेतन के पक्षपाती है, वे मज़दूरी-प्रथा के पुराने दुर्ग की रक्षा कर रहे है, यद्यपि उस दुर्ग के रक्षक उसका एक-एक पत्थर धीरे-धीरे आक्रमणकारियो के सिपुर्द करते जाते है।

उन्हे भय है कि दबाव के बिना जनता श्रम न करेगी।

हमारे जीवन-काल में ही यह भय दो बार प्रकट किया जा चुका है। एक बार तो अमेरिका में नीग्रो जाति को दासता से मुक्त करने के पहले

विरोधियो ने यही भय प्रकट किया था। दूसरी बार रूस के रईसो और जमीदारो ने हलवाहो की मुक्ति (Emancipation of Serfs) से पहले प्रकट किया था। नीग्रो-मुक्ति का विरोधी कहता था कि "कोडो के बिना नीग्रो काम न करेगा"। रूसी हलवाहो (Serfs) का स्वामी कहता था कि "मालिक की देख-रेख बिना हलवाहे खेतो को जोतना छोड देगे।" फ्रान्स के सरदारों की भी १७८९ मे यही रट थी। यह मध्ययुग की रट है और वास्तव मे उतनी ही पुरानी चिल्लाहट है जितनी पुरानी यह दुनिया है। प्रत्येक बार जब किसी प्रचलित अन्याय को हटाया जायगा तभी यह सुनाई देगी और प्रत्येक बार वास्तविक परिणाम से यह सिद्ध हो जाता है कि यह चिल्लाहट झूठी थी। १७९२ में जो किसान स्वतन्त्रता पा गए उन्होने अपने पूर्वजो की अपेक्षा बहुत अधिक उत्साह से खेती की, मुक्ति पाने वाला नीग्रो आजकल अपने पूर्वजो से अधिक काम करता है, और रूस के कृषक को भी जब से स्वतन्त्रता मिली है तब से वह बडे जोश से काम कर रहा है। जहाँ ज़मीन उसकी है, वही वह ख़ूब जी-तोड मेहनत करता है। नीग्रो-दासो की मुक्ति के विरोधी की चिल्लाहट दास-स्वामियों को मूल्यवान् हो सकती है, परन्तु दासो के लिए उसका कितना मूल्य है यह दास ही जानते हैं, क्योकि उन्हें उसका आन्तरिक उद्देश्य ज्ञात है।

इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्रियो ने ही तो हमे यह बताया है कि मज़दूरी पानेवाले का काम मन लगाकर नही होता, और वही आदमी ख़ूब मेहनत से काम करेगा जिसे यह मालूम है कि जितनी वह मेहनत करेगा उतनी ही उसकी सम्पत्ति बढेगी। व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रशंसा के सारे मन्त्रो का मूल-सार यही निकाला जा सकता है।

अर्थशास्त्री लोग जब व्यक्तिगत सम्पत्ति के सत्परिणामों की प्रशंसा करते है, तो वे बताते है कि जो भूमि पहले अनुत्पादक दलदल और पथरीली थी, वह उस समय अच्छी फस्लें देने लगती है, जब कृषक उस भूमि का स्वामी बनकर खेती करने लग जाता है: परन्तु इससे उनके प्रतिपाद्य विषय—व्यक्तिगत सम्पत्ति—का समर्थन किसी प्रकार नही होता। यह बात सत्य है कि यदि अपनी परिश्रम की कमाई को लूट से

बचाना हो तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि श्रम के साधनों पर अपना कब्ज़ा हो। जब इस बात को अर्थशास्त्री लोग स्वयं स्वीकार करते है, तो वे यही सिद्ध करते हैं कि जब मनुष्य स्वाधीनता से काम करता हो; जब उसने अपना धन्धा आप पसन्द किया हो, जब उसके काम मे बाधा डालने वाला कोई निरीक्षक न हो, और जब वह यह प्रत्यक्ष जानता हो कि जो कोई मेहनत करता है उसी को उसका लाभ होता है, आलसियो को नही होता, तभी वह सब से अधिक उत्पत्ति कर सकता है। उनकी दलीलबाज़ी से इसके अतिरिक्त और कोई नतीजा नही निकाला जा सकता, और यही बात तो हम स्वयं मानते है।

अर्थशास्त्री लोग श्रम के साधनो पर सीधा कब्ज़ा कर लेने की बात नही कहते, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसका प्रदर्शन करते है कि किसान की फसल का लाभ या जो सुधार वह अपनी ज़मीन पर करेगा, वह सब उससे छीने नही जायँगे। इसके अतिरिक्त, यदि अर्थशास्त्रियो को यह सिद्ध करना है कि व्यक्तिगत स्वामित्व ही श्रेयस्कर है, अन्य किसी प्रकार का कब्ज़ा श्रेयस्कर नहीं है, तो उन्हे यह दिखाना चाहिए कि पंचायती स्वामित्व की प्रणाली मे भूमि उतनी अच्छी फसलें कभी नहीं देती जितनी व्यक्तिगत कब्ज़े की प्रणाली में देती है। परन्तु इसका उन्होने प्रमाण नही दिया। वस्तुत. अवस्था इसके विपरीत देखी गई है।

वॉड प्रदेश के किसी पंचायती गॉव का उदाहरण लीजिए। शीतकाल मे गॉव के सब आदमी जंगल मे लकडी काटने जाते है और जंगल पंचायती है अर्थात् सबका है। श्रम के इन्ही त्यौहारो में काम के लिए सबसे अधिक जोश दिखता है, और मनुष्य कितना अधिक काम कर सकता है इसका प्रदर्शन हो जाता है। मज़दूरी पानेवाले मज़दूरों का काम या व्यक्तिगत स्वामी के सारे प्रयत्न उसका मुकाबिला नही कर सकते।

अथवा रूस के किसी गॉव का उदाहरण लीजिए। सारे गॉववाले पंचायत के किसी खेत या पचायती रूप से बोये हुए किसी खेत को काटने जाते है, उस वक्त आपको मालूम होता है कि यदि मनुष्य पंचायती उत्पत्ति के लिए सबके साथ काम करे तो वह कितना उत्पन्न कर सकता

है। ग्रामवासी अधिक-से-अधिक हंसिया फैलाकर काटने मे एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते है, और स्त्रियाँ उनके पीछे-पीछे बराबर काम करती आती है, ताकि वे काटने वालो से बहुत पीछे न रह जायँ। वह श्रम का त्यौहार होता है। कुछ घंटो मे ही सौ आदमी इतना काम कर डालते है कि यदि वे अलग-अलग करते तो कई दिनो मे न होता। मिल कर काम करने वाले इन लोगो के सामने अकेला अलग काम करने वाला खेत-स्वामी कितना तुच्छ प्रतीत होता है!

इस विषय में हम बीसियो उदाहरण अमेरिका के अग्रगामी श्रमिकों के या स्वीजरलैंड, जर्मनी, रूस के या कुछ फ्रान्स के ग्रामो के दे सकते है। रूस मे राज, बढ़ई, नाववाले, मछुए आदि लोगो के दल मिल कर कोई काम ले लेते हैं और उपज या मज़दूरी आपस मे बॉट लेते है। उन्हे बीच वाले लोगो की ज़रूरत नही पडती, और उनका काम भी मिल कर बहुत शीघ्रता से होता है। ऐसा ही काम मैंने इंग्लैण्ड के जहाज़ बनने के कारखानो मे होता हुआ देखा। वहाँ भी मज़दूरी इसी उसूल से (सबको इकट्ठी) दी जाती थी। घूमती-फिरती रहने वाली जातियो की बड़ी-बडी शिकारो का भी उल्लेख किया जा सकता है। अनेको व्यक्ति मिल कर सामुदायिक रूप से आजकल बहुत से साहस-कार्य करते है, वे भी उल्लेखनीय है। प्रत्येक उदाहरण मे हम बता सकते हैं कि मज़दूरी से काम करने वाले एक व्यक्ति या एक व्यक्तिगत स्वामी के कार्य की अपेक्षा मिल कर किया हुआ सामूहिक कार्य बहुत ही अच्छा होता है।

मनुष्य को काम करने के लिए सब से बडी प्रेरक बात जो सदा रही है, वह है सुख-प्राप्ति, अर्थात् शारीरिक, कला-सम्बन्धी और नैतिक आवश्यकताओ की पूर्ति। मजदूरी पर काम करने वाला व्यक्ति बडी कठिनता से भोजन-वस्त्र ही कदाचित् पैदा करता है; परन्तु स्वाधीन काम करने वाला व्यक्ति कहीं अधिक शक्ति से काम करता है और उस की अपेक्षा बहुत अधिक प्रचुरता में सब सामग्री उत्पन्न करता है, क्योकि वह जानता है कि जितनी ही वह मेहनत करेगा उतनी ही अधिक सुख-सुविधा उस की और दूसरो की बढ़ेगी? एक तो दरिद्रता और दुरवस्था मे ही फॅसा-सा

रहता है, और दूसरा भविष्य मे सुख-सुविधा पाने और अपने शौको को पूरा करने की आशा रखता है। इसी भेद मे सारा रहस्य है। इस लिए जो समाज यह चाहता है कि सब लोग सुख से रहे, सब लोग जीवन के सारे विकासो का आनन्द उठा सके, उसे चाहिए कि वह श्रमिको को उन की इच्छानुसार काम दे। गुलामी और मजदूरी की प्रथा से अभी जो कुछ उत्पत्ति हुई है, उसकी अपेक्षा स्वेच्छापूर्वक किए हुए काम से बहुत अधिक उत्पत्ति होगी और काम भी बहुत अच्छा होगा।

२

आजकल जीवित रहने के लिए जो श्रम अनिवार्य है, उसे प्रत्येक व्यक्ति दूसरे पर लादने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है, और लोग समझते हैं कि सदा यही हाल रहेगा।

मनुष्य-जीवन के लिए जितना काम अनिवार्य रूप से आवश्यक है, वह सब शारीरिक है। हम चाहे कलाकार हो या वैज्ञानिक, परन्तु रोटी, कपडे, सडके, जहाज़, प्रकाश, अग्नि आदि शारीरिक श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओं के बिना कोई नही रह सकता। इसके अतिरिक्त, कितने ही उच्च कलामय या सूक्ष्मतम आध्यात्मिक हमारे शौक क्यो न हो, उन सब का आधार तो शारीरिक श्रम ही है और जीवन के आधार-रूप इसी श्रम से हर एक बचता है।

हाँ, यह हमारी समझ मे आ जाता है कि आजकल तो यह अवस्था अवश्य होनी चाहिए।

कारण यह कि आजकल शारीरिक श्रम करने के लिए आपको किसी अस्वास्थ्यकर कारख़ाने मे रोज़ दस या बारह घंटे बन्द रहना पडेगा, और उसी काम मे बीस या तीस वर्ष तक, या सम्भव है जीवन भर, बँधा रहना पडेगा।

आजकल शारीरिक श्रम करने का तात्पर्य है, नाम-मात्र मजदूरी या वेतन मिलना, कल कैसे गुजारा होगा, इसका कुछ निश्चय न होना, काम के बिना बेकार बैठे रहना, प्राय. मुहताज रहना, और अपने और अपने बच्चो

के अलावा दूसरो के खिलाने, पहनाने, मनोरंजन करने, और शिक्षा देने मे चालीस साल काम करने के बाद बहुधा किसी अस्पताल में जाकर मर जाना।

आजकल शारीरिक श्रम करने का तात्पर्य है, जीवनभर नीचा समझा जाना। क्योंकि राजनीतिज्ञ लोग चाहे शारीरिक श्रम करनेवाले की कितनी ही प्रशंसा करते रहे, फिर भी शारीरिक श्रम करने वाला तो मानसिक श्रम करने वाले से सदा नीचा ही समझा जाता है और जो व्यक्ति दस घण्टे कारखाने मे परिश्रम कर चुका है उसके पास न इतना समय रहता है, और साधन तो रहते ही कहाँ कि वह विज्ञान और कला का आनन्द उठा सके, या उनकी कद्र करने योग्य हो सके। उसे तो विशेषाधिकार रखने वाले लोगो की जूठन से ही सन्तुष्ट रहना पडता है।

इस अवस्था के कारण ही शारीरिक श्रम करना दुर्भाग्य माना जाता है।

सब मनुष्यों के मन मे यही एक स्वप्न है—सब यही चाहते हैं कि—वे या उनके बच्चे इस नीची दशा से उबर जायँ, और अपने लिए एक 'स्वतन्त्र' स्थिति बनाले। इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ है कि वे भी दूसरे मनुष्यो के श्रम पर जीवित रहने लगे।

जबतक शारीरिक श्रम करनेवालो और मानसिक श्रम करनेवालों के दो पृथक्-पृथक् वर्ग रहेगे तबतक यही हाल रहेगा।

वस्तुतः जब श्रमिकों को मालूम है कि उनके भाग्य में तो सदा असम्मान, दरिद्रता और भविष्य की अनिश्चितता ही है, तो इस गिरानेवाले काम मे वे क्या रुचि रख सकते हैं ? इसलिए जब हम देखते हैं कि अधिकांश मनुष्यों ने मशीन की तरह दी हुई गति के अनुसार आज्ञा-पालन करने और भविष्य के लिए कोई आशा न रखते हुए भी इस दु:ख-भरे जीवन को वहन करने की आदत बना ली है, तो हमे उनकी इस आदत, काम करने के इस उत्साह, और उनके धैर्य पर आश्चर्य होता है। उन्हें इतनी भी आशा नही है कि जिस मनुष्य-जाति के पास प्रकृति के सम्पन्न खज़ाने हैं और ज्ञान-विज्ञान और के कला सारे आनन्द हैं, उसी मनुष्य-जाति मे किसी दिन वे या उनके बच्चे भी शामिल हो सकेंगे, क्योंकि ये खज़ाने

और आनन्द तो आजकल कुछ विशेषाधिकारियों के लिए ही सुरक्षित है। आश्चर्य है कि फिर भी वे निरन्तर काम करते रहते हैं।

शारीरिक और मानसिक काम के इस पार्थक्य का नाश करने के लिए ही हम मज़दूरी-प्रथा को मिटाना चाहते है, और साम्यवादी क्रान्ति लाना चाहते है। उस समय श्रम करना दुर्भाग्य प्रतीत न होगा। उस समय वह अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतीत होगा, वह मनुष्य की सारी योग्यताओ और शक्तियों का स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रयास मालूम पडेगा।

मज़दूरी-प्रथा से काम बहुत अच्छा होता है, यह जो एक झूठा ख़याल बन गया है, हम इसको अब कसौटी पर कसेंगे।

यदि आपको वर्तमान उद्योगधंधो मे होने वाला मनुष्य-शक्ति का भारी अपव्यय देखना हो तो आप नमूने के कारखानो मे न जाइए। ये तो कहीं-कही ही मिलेगे। आप साधारण कारख़ानो में जाइए। यदि एक कारख़ाना ऐसा मिला जिसका प्रबन्ध थोडा-बहुत बुद्धिमत्तापूर्वक है, तो सौ से अधिक कारख़ाने ऐसे मिलेंगे जिनमें मनुष्य की मेहनत बरबाद की जाती है, और जिसका उद्देश्य शायद यही होता है कि मालिक को उससे थोडी और आमदनी हो जाय।

इन कारख़ानो में आप देखेंगे कि बीस-बीस पच्चीस-पच्चीस वर्ष के युवक बेञ्चो पर सारे दिन बैठ रहते हैं। उनकी कमरे झुकी हुई हैं। जिस तरह कोई बुखार से कांपे, इस तरह वे अपने सिर और शरीर को कँपा रहे हैं, और बडी शीघ्रता से सूती फीतो के कर्घों पर के बचे हुए बेकार टुकडो के दोनो सिरो को बाँध रहे हैं। अपने जर्जर, दुर्बल शरीरो से ये लोग अपने देश के लिए कैसी सन्तान छोड जायेगे ? पर मालिक कहता है कि "ये लोग मेरे कारख़ाने मे थोडी-सी ही जगह घेरते हैं, और प्रत्येक के काम से मुझे चार आने की आमदनी हो जाती है।"

लन्दन के एक बडे भारी कारख़ाने मे हमने देखा कि सत्रह-सत्रह साल की लडकियाँ दियासलाइयों की टोकरिआँ एक कमरे से दूसरे कमरे में सिर पर उठा कर ले जाती है, और उनके सिर के बाल उडे हुए है। कोई छोटी-सी मशीन ही इन दियासलाइयों को मेज पर पहुँचा सकती थी। मालिक

कहता है कि "ख़र्चा हमे बहुत थोडा पडता है। जो स्त्रियॉ कोई विशेष धन्धा नही जानती वे सस्ती मिल जाती हैं। फिर हमे मशीन की क्या ज़रूरत है ? जब ये काम न कर सकेगी, तो इनके बजाय दूसरी स्त्रियो को काम पर लगा लेंगे। सडको पर इतनी तो मारी-मारी फिरती है !"

आपको किसी बडे मकान की सीढियो पर जाडे की रात्रि में नंगे पॉव सोता हुआ कोई बालक मिलेगा। उसके बगल मे अख़बारो का बण्डल दबा होगा। . बच्चो की मजदूरी इतनी सस्ती पडती है कि रोज़ शाम को आठ आने के अख़बार बेचने के लिए कोई भी लडका रक्खा जा सकता है, जिसमे से आना, आध आना उस लडके को मिल जायगा। बडे-बडे शहरो मे आप निरंतर देखे कि बडे-बडे और तगडे-तगडे आदमी तो सडको पर घूम रहे है और महीनो से बेकार है, और उनकी लडकियॉ कारख़ानो की गरम भाप में काम करके पीली पड गई हैं, उनके लडके हाथ से काला पालिश डब्बों मे भर रहे हैं, या जिस उम्र मे उन्हे कोई काम सीखना चाहिए उसी उम्र में शाक बेचने वाले की डलिया उठाते-फिरते हैं और अठारह या बीस साल की उम्र मे नियमित बेकार बन जाते हैं।

सेनफ्रान्सिस्को से लेकर मास्को तक और नेपल्स से लेकर स्टाकहोम तक यही दशा है। मनुष्य-शक्ति का अपव्यय ही हमारे उद्योग-धन्धो की मुख्य विशेषता है। व्यापार का तो कहना ही क्या, जिसमें यह अपव्यय और भी भारी हो जाता है।

जो शास्त्र मजदूरी या वेतन-प्रथा से होने वाली मनुष्य-शक्ति के अपव्यय का शास्त्र है, उसको राजनैतिक मितव्ययिता-शास्त्र (Political Economy) नाम देना कितना उल्टा है !

इतना ही नही। यदि आप किसी सुव्यवस्थित कारख़ाने के संचालक से बात करे तो वह आपको बडी सच्चाई के साथ बतायगा कि आजकल होशियार, फुर्तीले, और मन लगाकर काम करनेवाले आदमी नही मिलते। "प्रत्येक सोमवार को काम चाहनेवाले बीस-तीस आदमी हमारे पास आते है। यदि ऐसा कोई आदमी आये तो हम अपने और आदमियो को घटा कर भी उसे रख ले। ऐसे आदमी को हम देखते ही पहचान लेते हैं,

और रख लेते हैं, चाहे हमे किसी सुस्त पुराने आदमी को निकालना ही पडे।" जो आदमी इस प्रकार निकाला जाता है और जो दूसरे दिन निकाले जायँगे, वे सब बेकार श्रमिक हो जाते है। यही पूँजी-पतियों की रक्षित सेना है। जब काम बढ़ जाता है या हडतालियों को दबाना होता है तब ये ही बेकार श्रमिक कारख़ानो मे काम पर लगा लिये जाते हैं। और जो श्रमिक साधारण प्रकार का काम करनेवाले हैं, जिन्हे काम कम होते ही प्रथम श्रेणी के कारख़ाने हटा देते है—उनका क्या होता है? वे बूढ़ों की और मन लगा कर काम न करने वाले श्रमिको की भारी सेना में सम्मिलित हो जाते हैं। वे उन द्वितीय श्रेणी के कारख़ानों में चक्कर काटते रहते है, जिनका ख़र्चा मुश्किल से निकलता है, जो ख़रीददारों को चाल और धोखे में फंसा कर दुनिया मे जीवित रहते हैं, और विशेषतः दूर देशो के ख़रीददारों को ही अपना माल टिकाते है।

यदि आप ख़ुद उन श्रमिकों से ही मिले और बातचीत करें तो आपको मालूम होगा कि इन कारख़ानो मे खूब काम न करना ही नियम है। जब कोई आदमी ऐसे कारख़ाने मे काम करने जाता है तो सब से पहला उपदेश जो उसे साथी श्रमिको से मिलता है, वह है—"जितना दाम, उतना काम!"

कारण यह है कि काम करनेवाले जानते है कि अगर उदारता में आकर और मालिक की प्रार्थनाओ पर ध्यान देकर वे किसी आवश्यक ऑर्डर को पूरा करने के लिए तेजी से ज़्यादा काम कर देंगे तो भविष्य में मजदूरी की दर मे उनसे उतना ही ज्यादा काम लिया जायगा। इसलिए सब कारख़ानो मे वे जितनी उत्पत्ति कर सकते है, उतनी करते नहीं। कई उद्योग-धन्धो मे माल ही कम तैयार किया जाता है ताकि माल सस्ता न हो जाय, और कभी-कभी मज़दूर परस्पर सांकेतिक शब्दों में कह देते है—"थोडा दाम, थोडा काम।"

मज़दूरी का काम गुलामी का काम है। मज़दूरी-प्रथा से न तो पूरी उत्पत्ति हो सकती है और न होनी ही चाहिए। अब समय हो गया है कि

'उत्पत्ति-कार्य के लिए मज़दूरी-प्रथा ही सबसे अच्छी प्रेरक है' इस सिद्धांत में विश्वास करना ही लोग छोड दे। हमारे दादाओं के समय से आज उद्योग-धंधो में जो सौगुनी आमदनी हो गई है, उसका कारण मज़दूरों से काम लेनेवाला पूँजीवादी संगठन नहीं है (इस संगठन ने तो उलटा परिणाम दिया है), किन्तु पिछली शताब्दी के अन्त में होने वाली भौतिक विज्ञान और रसायन-विज्ञान की उन्नति है।

३

जिन्होंने इस प्रश्न का गम्भीर अध्ययन किया है, वे साम्यवाद के लाभों को अस्वीकार नहीं करते, शर्त यही है कि वह साम्यवाद पूर्ण स्वतंत्र अर्थात् अराजक साम्यवाद हो। वे यह मानते हैं कि यदि बदले में रुपया दिया जायगा, भले ही उसका नाम 'लेबर-चेक' (मज़दूरी की हुण्डी) हो, और राज्य द्वारा नियंत्रित श्रमिक संघों को दिया जाय, तो भी यह मज़दूरी-प्रथा का ही रूप होगा और हानियाँ भी वही रहेंगी। चाहे समाज के हाथ मे उत्पत्ति के साधन आ जायँ, फिर भी उनका मत है कि सारी समाज-रचना को उससे कष्ट उठाना पडेगा। और वे यह मानते हैं कि जब सब बालकों को पूर्ण और 'समाज के लिए जितनी आवश्यक है उतनी सब' शिक्षा दी जायगी, जब सभ्य समाजों का स्वभाव श्रम करने का हो जायगा, जब लोगो को अपने धंधे पसन्द करने और बदलने की स्वतन्त्रता होगी, और जब सब के सुख के लिए बराबरी से काम करना सब को आकर्षक होगा, तब साम्यवादी समाज में ऐसे उत्पादकों की कमी न होगी जो भूमि की उपज अठगुनी अथवा दसगुनी बढा देंगे, या जो उद्योग-धंधो को एक नवीन गति देंगे।

हमारे विरोधी इसको तो मानते हैं, परन्तु वे कहते हैं कि—"भय तो उन थोडे-से काहिलों से होगा जो काम नहीं करेंगे, न अपनी आदतों को नियमित बनायेंगे, भले ही काम करने की परिस्थिति कितनी ही सुन्दर हो जाय। आज भूखों मरने की आशंका काम न करने वाले से भी दूसरों के साथ काम करा लेती है। जो समय पर काम करने नहीं आता वह

निकाल दिया जाता है। परन्तु एक मछली ही सारे तालाब को गंदा कर देती है। दो-तीन सुस्त या उद्दण्ड श्रमिक दूसरो को भी बिगाड़ देंगे, और कारखाने में अव्यवस्था और विद्रोह की प्रवृत्ति फैला देंगे, जिससे काम न हो सकेगा। फलत. अन्त मे हमे बल-प्रयोग का कोई तरीका निकालना पडेगा, जिससे ऐसे सरगना आदमियों को ठीक किया जा सके। और फिर, जो जितना काम करे उसको उतनी ही मज़दूरी या वेतन मिले। यह मज़दूरी की प्रणाली ही एक ऐसी प्रणाली है जिससे दबाव भी पड सकता है और साथ ही काम करने वाले की स्वतन्त्रता की भावनाओ पर भी आघात नही पहुँचता। यदि कोई दूसरा उपाय काम मे लाया जायगा, तो उसमें सत्ता के हस्तक्षेप की निरन्तर आवश्यकता रहेगी और वह स्वतन्त्र मनुष्य को पसन्द नहीं है।" हम समझते हैं कि शंका हमारे द्वारा अच्छे प्रकार से रक्खी गई है।

पहली बात तो यह है कि जिन दलीलो से राज्य, दण्ड-कानून, जज और जेलर का होना उचित बताया जाता है, यह शंका भी उन्हीं दलीलों की श्रेणी की है।

राज्यसत्तावादी लोग कहते हैं कि "समाज में थोडे लोग तो ऐसे होते ही हैं जो सामाजिक सहयोग की रीतियो को नही मानते। इसलिए हमें मजिस्ट्रेटों, कचहरियों और कारागारो को रखना पडेगा, यद्यपि इन संस्थाओं से सब प्रकार की अन्य बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं।"

इसलिए हम भी अपना वही उत्तर दुहरा देते हैं जो हमने सत्तामात्र के सम्बन्ध में कई बार दिया है—"एक भावी दोष को मिटाने के लिए आप ऐसे उपाय करते हैं, जो स्वयं उससे भी बडे दोष हैं। इन उपायों से वही दोष पैदा होते है जिन्हे आप मिटाना चाहते हैं। आपको स्मरण रखना चाहिए कि जिस वर्तमान पूंजीवादी अवस्था की हानियों को आप मानने लगे है वह मज़दूरी-प्रथा से (अर्थात् बिना पूंजीपति की मज़दूरी किये जीवन-निर्वाह न कर सकने के कारण) पैदा हुई है।" इसके अतिरिक्त इस प्रकार के तर्क से वर्तमान प्रणाली के दोषो का ही छल-पूर्वक समर्थन हो जाता है। मज़दूरी या वेतन की प्रथा साम्यवाद की त्रुटियों

को दूर करने के लिये कायम नही की गई थी, उसका जन्म तो राज्यसत्ता और व्यक्तिगत स्वामित्व के जैसे अन्य कारणो से ही हुआ था। प्राचीन काल मे जहाँ गुलामो और हालियो (Serfs) से बलपूर्वक काम लिया जाता था, वहीं से मज़दूरी-प्रथा का भी जन्म हुआ है, केवल इसका वेष आधुनिक है। अतः जिस प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य के पक्ष में दी हुई दलीलें निःसार है उसी प्रकार मज़दूरी-प्रथा के समर्थन मे दी हुई दलीले भी मूल्यहीन हैं।

फिर भी हम शंका पर विवेचन करेंगे और देखेंगे कि उसमे कुछ तथ्य भी है या नहीं।

सर्वप्रथम यदि स्वेच्छा-श्रम के सिद्धान्त पर स्थापित हुए समाज मे अकर्मण्यों का ख़तरा वस्तुतः ही होगा, तो आजकल के-से सत्तावादी संगठन के बिना और मजदूरी-प्रथा को चलाये बिना भी वह दूर हो सकेगा।

उदाहरण लीजिए कि कुछ स्वयं-सेवक किसी कार्य-विशेष के लिये अपना एक संघ बनाते है। वे हृदय से चाहते है कि उन्हे अपने कार्य मे सफलता मिले, और दिल लगा कर काम करते हैं। केवल एक साथी ऐसा है जो अपने काम से प्राय. ग़ैरहाज़िर रहता है। अब इस कारण क्या उन लोगों को उचित होगा कि वे अपने संघ को तोड दे, जुर्माना करने वाला एक अध्यक्ष चुन ले, और सज़ाएँ देने के लिये एक क़ानून बना डालें? परन्तु इनमे से एक बात भी नही की जायगी। काम बिगाडने वाले उस साथी से एक दिन कह दिया जायगा कि "मित्र! हम लोग तो तुम्हारे साथ काम करना चाहते है, परन्तु तुम प्रायः ग़ैरहाज़िर रहते हो, और अपना काम लापरवाही से करते हो। इसलिए तुम हमारे साथ काम नही कर सकते। तुम और कही चले जाओ और ऐसे साथी ढूंढ़ लो जिन्हे तुम्हारी लापरवाही पसन्द हो।"

यह मार्ग इतना स्वाभाविक है कि आजकल भी सब जगह, सब उद्योग-धंधो मे, यही काम आता है। इसके मुक़ाबिले मे जुर्माना करने, तनख्वाह काटने, और कडी निगरानी करने आदि के तरीके सब असफल रहते है। एक आदमी निश्चित समय पर कारख़ाने मे काम करने आता

है, परन्तु यदि वह अपना काम बिगाडता है, या अपनी सुस्ती से दूसरों के काम को अटकाता है, या उसमें कोई दोष होता है, या वह झगडालू होता है, तो उसे कारख़ाना छोडना पडता है, और मामला खत्म हो जाता है।

सत्तावादी समझते हैं कि सर्व-शक्तिमान् मालिक और उसके निरीक्षकों के कारण ही नियम-पालन और अच्छा काम होता है। परन्तु वास्तविक बात यह है कि प्रत्येक जटिल कार्य में, जहाँ तैयार होने से पहले चीज़ कई हाथों में से गुज़रती है वहाँ वह कारख़ाना ही, अर्थात् वहाँ के सारे श्रमिक ही मिल कर, इस बात का ध्यान रखते हैं कि काम अच्छा हो। इस कारण इंग्लैण्ड के अच्छे-अच्छे व्यक्तिगत कारख़ानों में निरीक्षक कम होते हैं। फ्रांस के कारख़ानो की औसत से तो बहुत कम, और इङ्गलैण्ड के राजकीय कारख़ानों से भी कम होते हैं।

इसी प्रकार सार्वजनिक नैतिक-मर्यादा भी एक ख़ास हद तक क़ायम रहती है। सत्तावादी कहते हैं कि इस नैतिक-मर्यादा की रक्षा सिपाहियो, जजों और पुलिस वालों के कारण होती है, पर वास्तव में वह उनके कारण नहीं होती। किसी ने यह बात बहुत पहले कही थी कि "बहुत से कानून हैं ही ऐसे जिनसे लोग अपराधी बन जाते है।"

औद्योगिक कारखानों में ही इस तरह काम नहीं चलता, बल्कि हर जगह और हर रोज इसी तरह काम चलता है, और इतने बडे पैमाने पर चलता है कि किताबी लोग उसका अनुमान भी नहीं कर सकते। जब कोई ऐसी रेलवे-कंपनी, जिसका दूसरी कम्पनियों से संगठन है, अपने इकरार पूरे नहीं कर सकती, अपनी गाडियाँ समय पर नहीं चलाती और माल स्टेशनों पर पडा रहने देती है, तो दूसरी कम्पनियाँ अपना इक़रारनामा मंसूख करने की धमकी देती है। वह धमकी ही काफी हो जाती है।

साधारणतः यह विश्वास किया जाता है और कम-से-कम सरकारी स्कूलों में तो यह सिखाया ही जाता है कि व्यापारी लोग अपने इक़रारों को इसलिए निभाते हैं कि उनको अदालतों का भय रहता है। परन्तु ऐसा नहीं है। दस उदाहरणों में नौ ऐसे होते हैं जिनमें इकरार तोड़ने

वाला व्यापारी अदालत के सामने पेश ही नहीं होता। लन्दन जैसे केन्द्र में जहाँ व्यापार बड़ी तेज़ी से चलता है, यदि कोई व्यक्ति अपना देना स्वयं नहीं चुकाता और लेनदार को अदालत की शरण लेनी पड़ती है, तो वहाँ के अधिकांश व्यापारी हमेशा के लिए उस व्यक्ति से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते है, क्योंकि उसने अदालत में जाने का मौका दिया।

जब यह उपाय कारखाने के श्रमिको मे, व्यापार करने वालो में और रेलवे-कम्पनियों मे आजकल काम में लाया जाता है, तो इस समाज में भी क्यों न काम मे लाया जायगा जिसका आधार स्वेच्छा-श्रम होगा ?

मान लीजिए कि एक ऐसा संगठन है जिसमें यह तय हुआ कि प्रत्येक सदस्य को निम्नलिखित इकरार पूरा करना पड़ेगा—

"हम वादा करते है कि हम तुम्हें अपने मकानो, सड़कों, आवागमन के या माल लाने लेजाने के साधनो, स्कूलों, अजायबघरों आदि से काम लेने देंगे। शर्त यह है कि तुम बीस से लेकर पैंतीस-पचास वर्ष की उम्र तक रोज़ चार या पांच घंटे का समय ऐसे काम मे लगा दो जो जीवन के लिए आवश्यक माना जाय। जिस उत्पत्ति-संघ मे तुम सम्मिलित होना चाहो उसमे अपनी पसन्द से सम्मिलित हो सकोगे, अथवा नया संघ भी संगठित कर सकोगे, बशर्ते कि उसमे आवश्यक वस्तुओ की उत्पत्ति हो। जो समय तुम्हारे पास शेष रहे, उसमें तुम अपनी रुचि के अनुसार कला या विज्ञान मे अपने मनोरंजन के लिए दूसरे लोगो के साथ सहयोग कर सकते हो।

"हम तुमसे केवल इतना ही चाहते हैं कि तुम अन्न, वस्त्र और मकानात पैदा करने या बनाने वाले संघों मे काम करने के लिए, या सार्वजनिक स्वास्थ्य और सार्वजनिक गाड़ियों के विभागों मे काम करने के लिए, या इसी प्रकार के दूसरे आवश्यक कार्य के लिए वर्ष मे अपने बारह सौ या पंद्रह सौ घंटे देदो। इस काम के बदले मे हम विश्वास दिलाते हैं कि जो कुछ ये संघ उत्पन्न करते हैं या करेंगे, वह सब तुम्हें मुफ़्त मिलेगा। हमारे संगठन मे हज़ारों उत्पत्ति-संघ होंगे और यदि उनमे से कोई एक संघ भी किसी कारण से तुम्हे न रख सकेगा—तुम उपयोगी वस्तु उत्पन्न

करने मे बिलकुल अयोग्य होगे या इनकार करोगे—तो तुम बहिष्कृत व्यक्ति या अपाहिज की तरह रहोगे । यदि हमारे पास जीवनोपयोगी सामग्री इतनी होगी कि हम तुम्हे दे सकेंगे तो हम खुशी से दे देंगे । तुम मनुष्य हो, इसलिए जीवित रहना तुम्हारा अधिकार है। परन्तु तुम विशेष दशा में रहना चाहते हो और अलग होना चाहते हो तो यह अधिक सम्भव है कि तुम्हें अन्य नागरिको से व्यवहार करने मे रोज़ कष्ट उठाना पडे । यदि तुम्हें विद्वान् समझ कर, दया करके कोई मित्र तुम्हारा आवश्यक कार्य न कर देगा और वह तुम्हें समाज के प्रति नैतिक कर्तव्य से मुक्त कर न देगा, तो तुम मध्यमवर्गी समाज के भग्नावशेष समझे जाओगे ।

"अन्त में, यदि तुम्हे यह पसन्द नही आता, तो तुम इस विस्तृत भूमण्डल पर कहीं भी अन्यत्र चले जाओ, जहाँ की परिस्थिति तुम्हे पसन्द आये । या अपने भक्त ढूंढ़ कर, नये सिद्धान्तों पर, नया संगठन करो । हमे तो अपना संगठन पसन्द है ।"

साम्यवादी समाज मे, यदि काहिलो की संख्या बढ जायगी तो उनको निकालने के लिए यही उपाय किया जायगा ।

४

हमारा ख़याल है कि जिस समाज मे व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता होगी उसमें इस प्रकार की संभावना का भय शायद न रहे ।

यद्यपि सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व से अकर्मण्य लोग बडे लाभ में है, फिर भी वास्तव मे नितान्त अकर्मण्य व्यक्ति तो, बीमारो को छोड़ कर, बहुत कम दिखाई देते है ।

श्रमिक लोग प्रायः कहते हैं कि मध्यमवर्गी लोग अकर्मण्य है । ऐसे लोग भी अवश्य काफी तादाद मे हैं, फिर भी अपवाद-स्वरूप ही हैं । बल्कि प्रत्येक औद्योगिक कार्य मे आप अवश्य एक-दो मध्यमवर्गी व्यक्तियों को देखेंगे जो बहुत काम करते है । यह तो सत्य है कि अधिकाँश मध्यमवर्गी लोग अपने विशेषाधिकारों से लाभ उठाते है । वे अपने लिए बहुत कम

अरुचिकर कार्य पसन्द करते हैं, स्वास्थकर वायु और स्वास्थ्यकर भोजन पा कर काम करते हैं, ताकि बिना थकावट उठाये अपना कार्य कर सकें। परन्तु यही सारी बाते तो हम अपने हर एक श्रमिक के लिए चाहते हैं।

यद्यपि अपनी ऊँची विशेष स्थिति के कारण धनाढ्य लोग समाज में बिलकुल अनुपयोगी, या हानिकर कार्य भी करते है, फिर भी कहा जा सकता है कि राज्य-मन्त्री, महकमो के अध्यक्ष, कारख़ानो के स्वामी, व्यापारी, साहूकार, आदि लोग रोज कई घण्टे काम करते हैं। इसमे उन्हें कुछ-न-कुछ थकावट भी मालूम पडती ही है, और अपने कर्तव्य-कार्य से छूटकर फ़ुरसत का समय पाना उन्हे भी अच्छा लगता है। यद्यपि दस में से नौ कार्य तो इनमे हानिकर है, फिर भी वे सब हैं थकाने वाले ही। परन्तु इतना अधिक काम करके, भले ही (ज्ञात या अज्ञात रूप से) वह काम हानिकर ही हो, और अपने विशेषाधिकारो की रक्षा करके ही तो मध्यमवर्ग के लोगो ने ज़मीन के मालिक जागीरदारों को पराजित कर पाया है, और जनता पर शासन किया है और कर रहे हैं। यदि वे अकर्मण्य होते तो उनका अस्तित्व भी कभी का मिट गया होता। वे सरदारों के वर्ग की तरह मिट गये होते। जिस समाज मे रुचिकर और स्वास्थकर काम रोज़ चार या पॉच घंटे लिया जायगा, उस समाज मे मध्यमवर्ग के यही लोग बडी अच्छी तरह काम करेंगे, और जिस भयंकर परिस्थिति मे आजकल मनुष्य श्रम करते हैं उसका सुधार किये बिना वे उसको सहन न करेंगे। यदि लन्दन की ज़मीन की भीतर की मोरियो मे हक्सले जैसा वैज्ञानिक पॉच-छः घण्टे का समय भी बिताये तो विश्वास रखिए कि वह उन मोरियो को वैसे ही आरोग्य-सिद्धान्तो के अनुकुल बनाने के उपाय निकाल लेगा, जैसी उसकी शरीर-रचना-शास्त्र की प्रयोगशाला थी।

अधिकॉश श्रमिको को आलसी कहना तो केवल बुद्धू अर्थशास्त्रियों का काम है।

यदि आप किसी चतुर कारखानेदार से पूछे तो वह आपको बतायगा कि यदि श्रमिक लोग सुस्ती करने का विचार मनमें धार ले तो सारे कारख़ाने बन्द कर देने पडे। फिर तो कितनी भी सख्ती की जाय और

कितना ही निरीक्षण रक्खा जाय, सब व्यर्थ होगा। आपने देखा होगा कि सन् १८८७ में जब कुछ आन्दोलन-कारियों ने 'थोडा दाम, थोडा काम', के उसूल का प्रचार करना शुरू किया था, और यह सिखाना शुरू किया था कि 'मन लगा कर काम मत करो, ताकत से ज्यादा काम मत करो, और जितना बने उतना नुकसान करो,' उस समय इंग्लैण्ड के कारखानेदारों में कितना आतङ्क छा गया था। जो लोग एक दिन पहले श्रमिको को नीति-भ्रष्ट कहते और उनके काम को बुरा बताया करते थे, वे ही फिर यह चिल्लाने लगे कि "ये आन्दोलनकारी श्रमिकों को नीति-भ्रष्ट कहते हैं और हमारे उद्योग-धन्धो को नष्ट कर डालना चाहते है।" परन्तु यदि श्रमिक लोग खुद ही सुस्त या आलसी होते, और केवल काम से निकाल दिये जाने की धमकी से काम करते होते, तो जैसा कि उनके विषय मे कहा जाता है, 'नीति-भ्रष्ट कहते हैं' का क्या मतलब था ?

इसलिए जब हम कहते हैं कि समाज में आलसी लोग भी हो सकते हैं, तो समझ रखना चाहिए कि यह सवाल अल्प-संख्यक आदमियों के सम्बन्ध मे है। इस अल्प-संख्या के लिए कोई भी कानून बनाने से पहले यह बुद्धिमत्ता होगी कि हम इनके आलस्य के कारण का अध्ययन कर ले। विवेक-दृष्टि से देखने वाला व्यक्ति अच्छी तरह जानता है कि जो लडका स्कूल मे सुस्त कहा जाता है, उसका कारण यह है कि उसको बुरे ढंग से पढ़ाया जाता है, और इसीलिए वह विषय को समझता नहीं। कभी-कभी सम्भवतः लडके के मस्तिष्क मे खून की कमी का रोग हो, जो दरिद्रता या अस्वास्थ्यकर शिक्षा के कारण होता है। जो लडका संस्कृत या लेटिन के विषय मे सुस्त होता है वह साइन्स मे खूब चल निकलता है, विशेषकर जब उसे शारीरिक काम की सहायता से पढाया जाय। जो लडकी गणित विषय में सुस्त होती है, उसे जब अकस्मात् कोई ऐसा समझाने वाला मिल जाता है, जो उसे गणित के उन मूल सिद्धान्तो को समझाता है जो उसकी समझ में नहीं आये थे, तब वह अपने दर्जे की सब से तेज़ गणितज्ञ बन जाती है। एक श्रमिक, जो कारखाने मे सुस्त रहता है, बडे सवेरे उदय होते हुए सूर्य को देखता जाता है और अपने बगीचे मे मेहनत से काम करता है,

और रात्रि मे जब सारी प्रकृति विश्राम करती है तब फिर काम करने लगता है।

किसी ने कहा है कि जो चीज़ अपने नियत स्थान पर नही होती उसी का नाम कचरा है। जो लोग सुस्त कहलाते है उनमे से दस मे से नौ मनुष्यो की भी परिभाषा है। ये लोग भूलकर ऐसे रास्ते लग गए है जो उनके स्वभाव या योग्यता के अनुकूल नही है। महान् पुरुषो के जीवन-चरित्र पढते समय हमे यह देखकर आश्चर्य होता है कि उनमे से बहुतेरे सुस्त थे। वे तब-तक सुस्त रहे जब-तक उन्हे ठीक रास्ता नही मिला, और ठीक रास्ता मिलने पर घोर परिश्रमी बन गये। डारविन, स्टीफनसन आदि कई (आविष्कारक) लोग आलसियो की इसी श्रेणी के थे।

बहुधा सुस्त आदमी वही होता है जिसे यह पसन्द नही है कि वह जीवन भर पिन का अठारहवॉ भाग या घडी का सौवॉ भाग ही बनाता रहे, और जो यह अनुभव करता है कि वह दूसरे ही किसी काम को बहुत अधिक शक्ति से कर सकेगा। वह यह नहीं चाहता कि वह तो जीवन भर किसी कारख़ाने मे मज़दूरी करता रहे, और उसका मालिक उसके कारण हजारों प्रकार के आनन्द उठाए। वह इतना मूर्ख भी नही है कि इस अन्याय को न समझता हो, पर वह जानता है कि उसका क़ुसूर इतना ही है कि उसने एक महल मे जन्म न लेकर एक ग़रीब की कुटिया मे जन्म लिया है। ऐसा आदमी भी प्रायः सुस्त होता है।

अन्तत. आलसियो की बहुत बडी संख्या तो इस कारण आलसी है कि जिस काम से वे पेट पालते हैं उसको पूर्णतः नही जानते। वे देखते हैं कि उनके हाथ से जो चीज़ बनती है वह त्रुटिपूर्ण ही बनती है या अच्छी नही बनती। वे अच्छी बनाने का प्रयत्न भी करते है, पर बना नही पाते। वे समझने लगते है कि जिस बुरे ढंग से उन्हे काम करने की आदत है उसके कारण वे कभी सफल नही हो सकते। तब अपने काम से वे घृणा करने लगते है। उन्हे दूसरा काम आता नही, इसकारण सभी कामो से घृणा करने लगते है। हजारो कारीगर और हज़ारो कलाकार

जो असफल निकलते है, इसी कारण असफल होते है।

परन्तु जिसने छोटी उम्र से ही बाजे को अच्छी तरह बजाना सीखा है, जिस मूर्तिकार ने छोटी अवस्था से ही अच्छी तरह मूर्ति गढ़ना सीखा है, जिस नक्काशी की कला जानने वाले ने बचपन से ही अच्छी तरह नक्काशी का काम सीखा है और जिसे विश्वास है कि वह जो काम करता है वह सुन्दर होता है, वह व्यक्ति अपने धन्धो को कभी नही छोडेगा। उसको अपने काम मे आनन्द मिलता है और उस काम से वह थकता नही, जबतक कि वह बहुत ही अधिक काम न कर ले।

आलस्य या सुस्ती, इस एक नाम मे अनेको भिन्न-भिन्न कारण सम्मिलित है। प्रत्येक कारण समाज के लिए हानिकारक नही, बल्कि उपयोगी हो सकता है। जिस प्रकार अपराधो के अनेको भिन्न-भिन्न कारण होते है, उसी प्रकार इस सुस्ती के विषय में भी ऐसे-ऐसे कारणो का संग्रह किया गया है, जो एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। लोग सुस्ती या अपराध के विषय मे बाते करते हैं, पर इनके कारणो का विश्लेषण करने का कष्ट नहीं उठाते। वे जल्दी से इन दोषो के लिए दण्ड देदेते है और यह जांच नही करते कि दण्ड ही तो कही 'सुस्ती' या 'अपराध' बढ़ाने वाला नहीं है।*

इस कारण यदि किसी स्वाधीन समाज मे आलसियो की सख्या बढ़ने लगेगी, तो वह समाज दण्ड देने के पहले आलस्य का कारण ढूंढेगा, ताकि वह कारण हटाया जाय। जैसा कि पहले उदाहरण दिया गया है, यदि न पढ़ने वाला बालक इसलिए सुस्त है कि उसे पाण्डु या रक्तन्यूनता का रोग है, तो उस बालक के दिमाग़ मे साइन्स ठूँस कर भरने की आवश्यकता नही है। उसके शरीर को इस प्रकार पोषित कीजिए कि उसमे रक्त और शक्ति उत्पन्न हो। उसे देहात मे या समुद्रतट पर ले जाइए ताकि उसका समय भी व्यर्थ नष्ट न होने पावे। वहाँ उसे

* लन्दन मे १८८७ की छपी हुई मेरी पुस्तक 'In Russian and French Prisons' देखिये।

किताबों से नहीं, परन्तु प्रकृति द्वारा ही पढ़ाइए। एक स्थान से दूसरे स्थान तक नाप कर या किसी पेड़ की ऊँचाई नाप कर रेखागणित सिखाइए, फूल तोड़ते समय या समुद्र में मछली पकड़ते समय प्रकृति-विज्ञान सिखाइए, और जिस नाव में बैठ कर वह समुद्र में जायगा उस नाव को बनाते समय भौतिक विज्ञान सिखाइए। परन्तु दया करके उसके दिमाग़ में साहित्यिक वाक्य और मृत भाषाओं को मत ठूँसिए। उसको आलसी मत बनाइए!...

अथवा एक ऐसा बालक है, जिसमें न कोई व्यवस्था है, न उसकी आदतें नियमित हैं। बालक पहले तो अपने बीच में ही व्यवस्था की आदत डालें, फिर प्रयोगशाला और कारख़ाने में सीखें। थोड़ी जगह में जो काम किया जायगा, और जहाँ बहुत से औज़ार इधर-उधर बिखरे हुए होंगे, वहाँ यदि एक बुद्धिमान् शिक्षक भी बतानेवाला होगा, तो बच्चे काम करते हुए ही व्यवस्था सीख जायँगे। पर अपने स्कूलों की शिक्षा दे-दे कर उन बालकों को अव्यवस्थित प्राणी मत बनाइए। आपके स्कूलों में सिवाय इसके कि एक-सी बेंचें व्यवस्था से रक्खी रहती हैं, और कौन-सी व्यवस्था है? वे स्कूल तो वास्तव में शिक्षा की अव्यवस्था के सच्चे प्रतिबिम्ब हैं। स्कूलों से तो कोई भी बालक काम की एक-समानता, सुसंगतता, और क्रमबद्धता कभी नहीं सीखता।

आपकी शिक्षा-प्रणाली को कौन बनाता है? भिन्न-भिन्न अस्सी लाख योग्यता रखनेवाले अस्सी लाख विद्यार्थियों के लिए शिक्षा-मन्त्री का विभाग कोई प्रणाली बना देता है। मामूली दर्जे की शिक्षावालों की बनाई हुई यह प्रणाली मामूली दर्जे की शिक्षा ही तो दे सकती है। जिस तरह आपके कारागार अपराधों के कारख़ाने हैं, उसी तरह आपके स्कूल सुस्ती के कारख़ाने हैं। स्कूल को स्वतन्त्र बनाइए। अपने विश्वविद्यालय की डिग्रियों को मिटा दीजिए, और स्वेच्छापूर्वक पढ़नेवालों का आह्वान कीजिए। सुस्ती को मिटाने के लिए क़ानून न बनाइए, क्योंकि उन क़ानूनों से तो सुस्ती बढ़ती है, बल्कि ऊपर बताए हुए प्रकार से काम कीजिए।

जो मज़दूर किसी चीज़ के एक छोटे-से हिस्से को बनाने में ही अपना सारा जीवन लगाए रहना नही चाहता, जो श्रमिक अपनी छोटी-सी टेपिग मशीन (हलकी चोट लगाने वाली मशीन) पर काम करते-करते घुट जाता है, और काम छोड देता है, उसे ज़मीन जोतने का मौक़ा दीजिए, जंगल मे दरख्त काटने का काम दीजिए, तूफानो मे जहाज़ या किश्ती चलाने दीजिए, एंजिन चलाने का अवसर दीजिए, परन्तु किसी छोटी-सी मशीन चलाने या स्क्रू का सिरा घिसने, या सुई की नोक में छेद करने, और उसी काम मे सारी जिन्दगी बिता देने को मजबूर न कीजिए। इसीसे तो वह सुस्त बनता है।

सुस्ती का कारण मिटा दीजिए, और विश्वास रखिए कि फिर तो शायद ही ऐसे व्यक्ति रहे, जो श्रम करने से और विशेषतः स्वेच्छा-श्रम से घृणा करे। उनके लिए कानून की धाराएं गढ़ने की ज़रूरत न पडेगी।

: १३ :

समष्टिवादियों की वेतन-प्रथा

१

समष्टिवादी (Collectivist) दल के साम्यवादियो ने समाज की नवीन रचना के लिए जो योजना बनाई है उसमें, हमारी राय मे, दो गलतियाँ है। वे कहते है कि पूँजीवादी शासन को मिटा देना चाहिए, पर वे दो बातो को कायम रखना चाहते है। एक प्रतिनिधि-सत्तात्मक सरकार और दूसरी वेतन या मज़दूरी की प्रथा। वास्तव मे ये ही दोनो बातें तो पूँजीवादी शासन के आधार-स्तम्भ है।

प्रतिनिधि-सत्तात्मक सरकार के विषय मे हम कई बार विवेचन कर चुके है। फ्रांस मे, इंग्लैण्ड मे, जर्मनी मे, और यूनाइटेड स्टेट्स मे राष्ट्रीय या नगर शासन-सभाओ के इतने कुपरिणाम दृष्टिगोचर हुए है, और इतिहास से भी उनके विषय मे इतनी शिक्षा मिल चुकी है, कि हमे तो आश्चर्य है कि क्यों समष्टिवादी दल के बुद्धिमान् आदमी अब भी प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन के पक्षपाती है?

प्रतिनिधि-सत्तात्मक (Parliamentarian) शासन तो टूटता जा रहा है, और सब तरफ से उस पर बडी समालोचना हो रही है। उसके परिणामों पर ही नहीं, उसके सिद्धान्तो पर भी समालोचना होती है। फिर भी, मालूम नही क्यो, क्रान्तिकारी साम्यवादी उसकी म्रियमाण प्रणाली का समर्थन करते हैं ?

प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन मध्यम-वर्ग के लोगो ने इसलिए बनाया है कि वे राजा के अधिकारों के सामने खडे रह सके, और श्रमिकों के ऊपर अपनी सत्ता कानूनन जायज़ बना सकें तथा दृढ़ कर सकें। इसलिए पार्लमेण्ट-शासन मुख्यतः मध्यमवर्गीय शासन है। इस शासन-प्रणाली के समर्थकों ने हृदय से इस बात को कभी नहीं माना कि पार्लमेण्ट या म्युनिसिपल कौंसिल राष्ट्र या नगर की प्रतिनिधि है। उनके अधिक-से-अधिक बुद्धिमान् लोग जानते है कि यह बात असम्भव है। मध्यमवर्ग के लोगो ने पार्लमेण्ट-शासन को इस बात के लिए अपनाया है कि वे राजा के झूठे अधिकारो के विरुद्ध एक रक्षात्मक अड्डा खडा कर सके और जनता को भी स्वतन्त्रता न दें। परन्तु क्रमशः ज्यों-ज्यो सर्वसाधारण अपने लाभ को समझने लगे हैं, त्यों-त्यो यह शासन-प्रणाली अव्यवहार्य होती जा रही है। इसीलिए सब देशों के प्रजातन्त्रवादियों ने इसके दोषों को कम करने के कई उपाय सोचे, परन्तु वे सब व्यर्थ हैं। रिफरेण्डम (Referendum)* की प्रणाली प्रयोग मे लाई गई और असफल हुई, संख्या

---

* स्वीज़रलैण्ड मे प्रायः और यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका), आस्ट्रेलिया और फ्रान्स में भी अंशतः ऐसा होता है कि जब व्यवस्थापिका सभा चाहती है कि अमुक प्रस्तावित विधान पर आम जनता की राय ली जाय तो वह सारे निर्वाचको से सम्मति लेती है, और निर्वाचक अपनी सम्मति देते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जनता अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के बनाये हुए विधान को गिराने के लिए अपनी राय देती है। उस समय सब निर्वाचक अपना-अपना वोट व्यवस्थापिका-सभा के किसी विधान या कृत्य के विरुद्ध देते हैं। यह प्रणाली रिफरैण्डम-प्रणाली कहलाती है।

के अनुपात से प्रतिनिधित्व देने (Proportional representation) और अल्पसंख्यकों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व देने की तजवीज़ें भी हो चुकीं और इसी प्रकार की अन्य पार्लमेण्ट प्रणालियाँ सोची गईं। संक्षेपतः वे असंभव बात को ढूँढने का प्रयत्न करते हैं और प्रत्येक नये प्रयोग के पश्चात् उसकी असफलता उन्हे माननी पड़ती है। फलतः प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन में लोगों का विश्वास दिन-दिन कम होता जा रहा है।

मज़दूरी-प्रथा के विषय मे भी यही बात है। जब एक बार सब प्रकार की व्यक्तिगत सम्पति हट जायगी और उत्पत्ति के साधनों पर सबके अधिकार की घोषणा हो जायगी, तो मज़दूरी-प्रथा किसी भी रूप मे न रह सकेगी। परन्तु समष्टिवादी दल यही करना चाहता है। वह चाहता है कि राज्य ही सब श्रमिकों से काम लेनेवाला रहे, और श्रम के बदले में लेबर-चेक* दिये जाएँ।

राबर्ट ओवेन के समय से इंग्लैण्ड के प्रारंभिक साम्यवादी लेबर-चेक की प्रणाली को क्यों मानने लगे, यह समझना सरल है। उन्होंने सिर्फ पूंजीपतियो और श्रमको में समझौता कराने की चेष्टा की। उन्होंने क्रान्ति करके पूँजीपतियों की सम्पत्ति पर कब्ज़ा करने की बात का खण्डन किया।

बाद में प्राउढन ने भी यह विचार ग्रहण किया। अपनी परस्परवादी (Mutualist) प्रणाली में वह व्यक्तिगत सम्पत्ति को तो रखना चाहता था, पर इस रूप में कि वह लोगों को बुरी न लगे। वह पूँजीवाद से हृदय से घृणा करता था, पर उसने उसे इसलिए क़ायम रक्खा कि ऐसा करने से व्यक्ति राज्य से बचा रहे।

बहुत से अर्थशास्त्री भी ऐसे हैं, जो कुछ-न-कुछ मध्यमवर्गी तो हैं, पर लेबर-चेक के सिद्धान्त को स्वीकार करते है। वे इसकी चिन्ता नहीं करते कि मजदूर को ऐसे लेबर-नोट दिये जायें जिन पर प्रजातन्त्र या

---

* लेवर-चेकों का अधिक परिचय इसी परिच्छेद के दूसरे अंक में देखिए।

साम्राज्य की मुहर हो, या ऐसे सिक्के दिए जायँ जिन पर प्रजातन्त्र या साम्राज्य की छाप हो। वे मकान, ज़मीन और कारख़ानो की व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा ज़रूर करना चाहते है, और कम-से-कम मकानो को और उद्योग-धन्धो मे काम आनेवाली पूँजी की तो रक्षा करना ही चाहते है। लेबर-नोट का सिद्धान्त इस व्यक्तिगत सम्पत्ति के समर्थन का उद्देश्य पूरा कर ही देता है।

जबतक लेबर-नोट देकर आभूषण या बग्घियाँ मिल सकेंगी तबतक तो मकान-मालिक किराये मे लेबर-नोट भी खुशी से ले लेगा। और जबतक मकान, खेत और कारख़ाने लोगो के व्यक्तिगत हैं, तबतक तो उन खेतो और कारख़ानो पर काम करने और मकानो में रहने के बदले मे मालिक को किसी-न-किसी प्रकार कुछ-न-कुछ अवश्य देना ही पड़ेगा। जबतक सोने, नोट या चेक से सब प्रकार की चीज़ें ख़रीदी जा सकेंगी, तबतक तो मालिक सोना या नोट या चेक, कुछ भी लेने को तैयार हो जायँगे, केवल शर्त यह है कि श्रम पर कर लगा रहना चाहिए और उस करके लगाने का हक मालिको को होना चाहिए। परन्तु हम लेबर-नोट की प्रणाली का समर्थन कैसे कर सकते है? यह तो मज़दूरी-प्रणाली का ही नया रूप है, और हम तो यह मानते है कि मकान, खेत और कारख़ाने व्यक्तिगत सम्पति न रहेगे, बल्कि सारी पंचायत या राष्ट्र के होगे।

२

फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड और इटली के समष्टिवादी लोग श्रमिको को मज़दूरी मे लेबर-चेक देने के इस सिद्धान्त का प्रचार करते है। स्पेन के अराजक साम्यवाद अबतक अपने को समष्टिवादी ही कहते है। समष्टिवादी से उनका अर्थ यह है कि उत्पत्ति के साधनो पर तो सब का सामान्य अधिकार हो और उत्पत्ति को आपस मे बांट लेने की प्रत्येक समुदाय को स्वतन्त्रता हो; फिर वह बँटवारा चाहे वे समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार करें अथवा और किसी सिद्धान्त के अनुसार। हम इस

प्रणाली का सूक्ष्म विवेचन करेंगे।

समष्टिवाद का सिद्धान्त निम्नलिखित है: प्रत्येक व्यक्ति खेत, कारखाने, स्कूल, अस्पताल आदि मे श्रम करता है। सारी ज़मीन, सब कारखाने और सडके आदि राज्य की सम्पत्ति है, और राज्य ही श्रम-दिवस निश्चित करता है। एक श्रम-दिवस की मजदूरी के बदले मे एक लेबर-चेक दिया जाता है, जिस पर लिखा होता है, 'आठ घंटे का श्रम' इस चेक से श्रमकर्ता राजकीय भण्डारो मे से या विविध व्यापार-संघो से सब सामान प्राप्त कर सकता है। रुपये की भॉति इस चेक के अनेक टुकडे हो सकते है। इसलिए आप एक घंटे के श्रम का आटा, दस मिनट के श्रम के मूल्य की दियासलाई या आधे घंटे के श्रम के मूल्य की तम्बाकू ख़रीद सकते है। जब समष्टिवादी क्रान्ति हो जायगी तब हम "दो आने मूल्य का साबुन" न कहेंगे, बल्कि "पॉच मिनट श्रम के मूल्य का साबुन" कहेंगे।

मध्यमवर्गीय अर्थशास्त्रियो ने (मार्क्स ने) भी श्रम के दो विभाग किये है। एक पेचीदा श्रम, और दूसरा सादा श्रम। अधिकॉश समष्टिवादी इस श्रम-विभाग पर श्रद्धा रखते हुए इतना और कहते है कि पेचीदा श्रम या किसी विशेष धंधे का वेतन सादे श्रम की अपेक्षा कुछ-न-कुछ अधिक होना चाहिए। उदाहरण के लिए डाक्टर के एक घंटे का काम अस्पताल की परिचारिका (नर्स) के दो या तीन घंटे के काम के बराबर अथवा साधारण मज़दूर के तीन या पॉच घंटे के काम के बराबर समझना चाहिए। समष्टिवादी लेखक ग्रोनलैण्ड कहता है कि "विशेष धंधे का श्रम या पेचीदा श्रम साधारण श्रम से कुछ गुना अधिक माना जायगा, क्योंकि प्रथम प्रकार के श्रम मे थोडा-बहुत काल काम सीखने मे लगाना आवश्यक होता है।"

फ्रॉसीसी साम्यवादी जैस्डे जैसे कुछ समष्टिवादी लोग इस भेद को नही मानते। वे "समान वेतन" की घोषणा करते है। उनके मतानुसार जिस हिसाब से एक मामूली श्रमिक को वेतन मिलेगा, उसी हिसाब से

डाक्टर, पाठशाला के अध्यापक और प्रोफ़ेसर को भी (लेबर-चेकों द्वारा) मिलेगा। अस्पताल में आठ घंटे बीमारों की देख-भाल करना या आठ घंटे मिट्टी खोदना, खान खोदना या कारख़ाने में मेहनत करना बराबर होगा।

कुछ लोग इससे भी अधिक रिआयत करते हैं। वे मानते हैं कि अरुचिकर या अस्वास्थ्यकर काम का वेतन रुचिकर काम की अपेक्षा अधिक दिया जा सकता है। जैसे जमीन के भीतर की गन्दी मोरियों का काम। उनका कहना है कि मोरी साफ़ करने वाले के एक घण्टे का श्रम प्रोफ़ेसर के दो घंटे के श्रम के बराबर माना जायगा।

हम यह भी कह देना चाहते हैं कि कुछ समष्टिवादी लोग मानते हैं कि विशेष-विशेष व्यवसायों के संघों को उनके काम के बदले में अनुमान से कुछ निश्चित् मूल्य दे देना चाहिए। उदाहरणार्थ एक व्यवसाय-संघ यह कहे कि "यह लो सौ टन लोहा। सौ श्रमिक इसकी उत्पत्ति में लगे और उन्होंने इसे दस दिन में उत्पन्न किया। उनका श्रम-दिवस आठ घंटे का था, अत. उन्होंने इस लोहे को आठ हज़ार श्रम-घंटों में उत्पन्न किया। अर्थात एक टन मे आठ घंटे लगे।" इस काम के लिए राज्य उन्हें एक-एक घंटे के आठ हजार लेबर-नोट दे देगा और लोहे के व्यवसाय के श्रमिक उनको जैसा उचित समझेंगे आपस में बाँट लेंगे।

इसी प्रकार सौ खनिक आठ हज़ार टन कोयला बीस दिन मे खोद लेते हैं, तो एक टन कोयले का मूल्य दो घंटे का श्रम हुआ। राज्यखनिकों के संघ को एक-एक घंटे के सोलह हज़ार लेबर-नोट दे देगा और वे सब उन नोटों को जिसका कार्य जितना मूल्यवान समझा जायगा उसी प्रकार से परस्पर बाँट लेंगे।

यदि इसमें झगडा हुआ और खनिक यह कहने लगे कि लोहे का मूल्य प्रति टन आठ घंटे का श्रम नहीं, किन्तु छः घंटे का श्रम होना चाहिए, यदि प्रोफेसर कहे कि मेरे दिन का मूल्य परिचारिका के दिन के मूल्य से चौगुना होना चाहिए, तो राज्य बीच-बचाव करेगा और उनका झगडा निपटायगा।

संक्षेप मे यही वह संगठन है जिसको समष्टिवादी दल के अनुयायी साम्यवादी क्रान्ति के द्वारा समाज में स्थापित करना चाहते हैं। उनके सिद्धान्त इस प्रकार हैं : उत्पत्ति के साधनो पर सबका सामूहिक स्वामित्व हो, प्रत्येक को उतना ही वेतन दिया जाय जितना समय उसने उत्पत्ति मे लगाया हो; साथ ही यह भी ध्यान रक्खा जावे कि उसकी उत्पत्ति किस प्रकार की है। राजनीतिक प्रणाली प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन के ढंग की होगी। उसमे इतना सुधार होगा कि जो लोग प्रतिनिधि चुने जायँगे उन्हें विशेष निश्चित हिदायतें दी जायँगी और 'रिफ़रेन्डम' प्रणाली प्रचलित की जायगी, अर्थात् 'हां' या 'ना' के रूप मे ही राष्ट्र के वोट लिए जायँगे।

हमें कहना पडेगा कि यह प्रणाली हमको बिलकुल अव्यवहार्य जान पडती है।

समष्टिवादी पहले तो एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त की घोषणा करते हैं, अर्थात् कहते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहनी चाहिए, और घोषणा करने के साथ ही उसका खण्डन भी कर डालते हैं, अर्थात् वे उत्पत्ति और खपत के उस संगठन का समर्थन करते हैं जो व्यक्तिगत सम्पत्ति से उत्पन्न हुआ है।

वे क्रान्तिकारी सिद्धान्त की घोषणा तो करते हैं परन्तु उन परिणामों को भुला देते हैं जिनका उस सिद्धान्त के द्वारा होना अनिवार्य है। श्रम करने के साधनों—ज़मीन, कारख़ाने, सडकें, पूँजी—पर से जब व्यक्ति का स्वामित्व मिट जायगा तब समाज का प्रवाह बिलकुल नई धाराओं में हो जायगा। उस समय उत्पत्ति की वर्तमान प्रणाली लक्ष्य और साधन दोनों में बिलकुल बदल जायगी और ज्योंही भूमि, मशीनरी और उत्पत्ति के अन्य सब साधन सबकी सामान्य सम्पत्ति माने जायँगे त्योंही व्यक्तियो का दैनिक पारस्परिक सम्बन्ध दूसरा ही हो जायगा।

वे मुँह से कहते है कि "व्यक्तिगत सम्पत्ति नही रहनी चाहिए;" परन्तु दैनिक व्यवहार में व्यक्तिगत सम्पत्ति को क़ायम रखने का प्रयत्न करते। हैं वे कहते हैं कि "उत्पत्ति के विषय में तो तुम्हारा संगठन साम्यवादी

इन्जीनियर को मजदूर से बीस गुना वेतन इसलिए मिलता है कि एक व्यक्ति को इंजीनियर बनाने में जितनी पूँजी लगती है, वह एक व्यक्ति को मज़दूर बनाने के कार्य से अधिक होती है। मार्क्स ने भी यह माना है कि शारीरिक श्रम में भी यह भेद करना उचित है। परन्तु उसने तो रिकार्डो का 'मूल्य' विषयक सिद्धान्त पकड़ लिया, और यह मान लिया कि वस्तुओं के विनिमय का मूल्य उसी अनुपात से होता है, जिस अनुपात से उस वस्तु की उत्पत्ति के लिए समाज को श्रम लगाना पड़ता है। इसलिए वह ग़लत परिणाम पर पहुँचा।

परन्तु यह उत्तर भ्रामक है। हम जानते हैं कि आज इंजीनियरों, वैज्ञानिकों और डाक्टरों को मज़दूर से जो दस गुना या सौ गुना वेतन मिलता है और मिल में कपड़ा बुनने वाले को जो खेत के मजदूर से तिगुना या दियासलाई के कारखाने की मज़दूरी से दस गुना वेतन मिलता है, इसका कारण यह नहीं है कि उनको तैयार करने में समाज की लागत ज्यादा लगी है। परन्तु कारण यह है कि उन्होंने शिक्षा या उद्योग-धन्धों पर एकाधिकार जमा रक्खा है। जिस प्रकार मध्यमवर्ग का कारखानेदार अपने कारख़ाने से स्वार्थ-साधन करता है, जिस प्रकार सरदार लोग अपने सरदार-पद से स्वार्थ-साधन करते हैं, उसी प्रकार इन्जीनियर, विज्ञानवेत्ता अथवा डाक्टर लोग अपनी पूँजी, अर्थात अपने प्रमाण-पत्रों से स्वार्थ-साधन करते हैं।

यदि कारख़ानेदार एक इंजीनियर को मज़दूर से बीस गुना वेतन देता है तो उसका कारण है उसका व्यक्तिगत स्वार्थ। यदि इंजीनियर कारख़ानेदार को उत्पत्ति की लागत में ४००० पौंड की बचत कर दिखाता है, तो कारख़ानेदार उसे ८०० पौंड वेतन दे देता है, यदि कारखानेदार के यहाँ कोई ऐसा फोरमैन है जो मजदूरों से खूब काम ले-लेकर चतुराई से काम में ४०० पौंड की बचत दिखलाता है, तो वह उसे खुशी से ८० या १२० पौंड का वेतन दे देता है। यदि उसे ४०० पौंड का लाभ होता नज़र आयगा, तो वह ४० पौण्ड और खर्च कर सकता है। यही पूंजीवादी प्रणाली का सार है। सब भिन्न-भिन्न व्यवसायों में यही हिसाब है।

इसलिए समष्टिवादियो का यह कहना व्यर्थ है कि पेचीदा श्रम का मूल्य इसलिए अधिक है कि उसकी "उत्पत्ति पर व्यय" अधिक हुआ है। उनका यह कहना भी व्यर्थ है कि एक खनिक के लडके को, जो ग्यारह वर्ष की उम्र से कोयले की खान मे काम करते-करते पीला पड गया है, मामूली वेतन मिलना चाहिए, और एक विद्यार्थी को जिसने बडे आनन्द से विश्वविद्यालय से अपनी युवावस्था बिताई है, उससे दस गुना अधिक वेतन मिलने का हक है; अथवा खेत के मजदूर की अपेक्षा मिल के बुनकर को तीन या चार गुना अधिक वेतन मिलने का हक है। किसान को किसानी का काम सिखाने मे जो खर्चा लगा है, उसकी अपेक्षा बुनकर को बुनाई सिखाने में चार गुना खर्चा नही लगा है। बुनकर का वस्त्र-उद्योग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बडा लाभ उठाता है। जिन देशों मे उद्योग-धन्धे अभी तक नही हैं उन देशो मे वस्त्र-व्यापार बडा लाभ देता है। खेती के धन्धे की अपेक्षा तो उद्योग-धन्धो को सब राज्यों की ओर से बहुत ही अधिक सुविधाये दी गई हैं। इन सब कारणों से ही बुनकर का वेतन अधिक होता है।

किसी ने अभी तक उत्पत्ति करनेवाले की 'उत्पत्ति का खर्चा' नही निकाला। यह कहा जाता है कि एक अकर्मण्य सरदार को तैयार करने मे एक श्रमकर्त्ता को तैयार करने की अपेक्षा समाज को अधिक खर्चा पडा है। परन्तु यह देखते हुए कि ग़रीब जनता मे बहुत अधिक बाल-मृत्युये, पाण्डु-रोग के प्रहार, और अकाल-मृत्युये होती हैं, क्या एक कुशल कारीगर की अपेक्षा एक स्वस्थ, तगडे श्रमिक को बनाने मे समाज का व्यय अधिक नही हुआ है?

यदि पेरिस की एक मजदूरनी को १४ पेंस मजदूरी मिलती है ऑवर्ने की कृषक-लडकी को जो बेल का फीता बनाते-बनाते अन्धी हो जाती है, ३ पेंस वेतन मिलता है, या एक खेत पर काम करनेवाले को २० पेंस वेतन मिलता है, तो क्या इस भेद का कारण यह है कि इसी अनुपात से इनकी 'उत्पत्ति का खर्चा' पडा है? काम करनेवाले तो इससे भी सस्ती मजदूरी पर मिल जायेंगे, पर उसका एकमात्र कारण यही है

कि यदि वे इतनी कम मज़दूरी की दर स्वीकार न करें तो हमारे अद्भुत संगठन के कारण वेचारे भूखों ही मर जायँ ?

हमारे विचारानुसार वेतन की भिन्न-भिन्न दरों के कई मिश्रित कारण हैं—सरकारी टैक्स, राजकीय सहायता या संरक्षण, और पूँजीपतियों का एकाधिकार। संक्षेप मे कह सकते हैं कि राज्य और व्यक्तिगत पूँजी के कारण मज़दूरी की दरें भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए हम कहते हैं कि जब वर्तमान अन्यायो के समर्थन की आवश्यकता हुई, तभी मज़दूरी-संबंधी सारे सिद्धान्त रचे गये, और इसी कारण हमें उन सिद्धान्तों को नही मानना चाहिए।

वे यह भी कहेंगे कि समष्टिवादियों की मज़दूरी-प्रणाली अधिक उन्नत प्रणाली है। वे कहते हैं कि "आजकल राज्य के एक मन्त्री का एक दिन का वेतन मजदूर के एक वर्ष के वेतन से अधिक है तो क्या इससे यह अच्छा नहीं है कि कुछ विशेष कारीगर साधारण मज़दूर से दो या तीन गुना अधिक वेतन पाएँ ? समानता की दिशा में यह भी कितनी वडी प्रगति है!"

हम तो इस प्रगति को अधोगति समझते हैं। नये समाज मे पेचीदा और सादे श्रम का भेद करना अनुचित है। इसका तात्पर्य यह होगा कि जिस घातक बात को हम आजकल मजबूरन् मानते हैं, परन्तु समझते अन्यायपूर्ण हैं, उसी बात को हम क्रान्ति में सिद्धान्त मानने लगेंगे और उसी को प्रचलित कर देंगे। यह तो वही बात हुई, जो सन् १७८९ में फ्रान्स मे हुई थी। ४ अगस्त को फ्रान्स की व्यवस्थापक सभा ने जागीरदारी हक़ मिटा दिये और ८ अगस्त को फिर वही हक़ प्रमाणित कर दिये, और यह विधान बनाया कि किसानो को जागीरदारों की क्षति-पूर्ति की रक़म देनी पडेगी। इतना ही नहीं, क्रान्ति ने उन रक़मों की रक्षा का भार भी ले लिया। रूस की सरकार ने भी ऐसा ही किया था। उसने दासो की मुक्ति के समय घोषणा की थी कि कुछ भूमि, जो पहले हलवाहों की समझी जाती थी वह आगे भूमिपतियों की समझी जायगी।

अथवा एक अधिक प्रसिद्ध उदाहरण लेना चाहिए। १८७१ की क्रान्ति के अवसर पर पेरिस मे जो पंचायत (कम्यून) क़ायम हुई थी उसने यह तय किया था कि कौन्सिल के सदस्यों को रोजाना १२॥ शिलिंग वेतन मिलेगा और शहर की रक्षा के लिए लड़ने वाले मामूली व्यक्ति को रोज़ाना १। शिलिंग वेतन मिलेगा। उस समय यह निर्णय महान् प्रजातान्त्रिक समानता का कार्य समझा गया। वास्तव में पंचायत ने अधिकारी और सैनिक, शासन सरकार और शासित जनता की पुरानी असमानता का ही समर्थन किया था। स्वार्थ-साधक प्रतिनिधियों की शासन-सभा द्वारा किया हुआ निर्णय भले ही प्रशंसनीय मालूम पड़े, परन्तु पंचायत अपने ही सिद्धान्तो को कार्य-रूप में न ला सकी और उसने उनको मिट्टी में मिला दिया।

समाज के वर्तमान संगठन में राज्य-मन्त्री को हर साल ४००० पौंड मिलता है और श्रमकर्ता को ४० पौण्ड या इससे भी कम पर सन्तोष करना पड़ता है। कारख़ाने के फोरमैन को साधारण काम करने वाले से दुगुना या तिगुना मिलता है। मजदूरों मे भी ३ पेंस (३ आने) से ८ शिलिंग (५॥ रुपया) रोजाना तक की मज़दूरी की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। हम मन्त्री के ऊँचे वेतन के विरोधी है, और उतने ही विरोधी हम ८ शिलिंग और ३ पेंस के भेद के भी हैं। हमारा कथन तो यह है कि "शिक्षा द्वारा प्राप्त विशेषाधिकारो का भी नाश हो, और जन्मगत विशेषाधिकारो का भी नाश हो!" इन विशेषाधिकारों ने हमे विद्रोही बना दिया है। इसलिए तो हम अराजक साम्यवादी बने है।

राज्यसत्ता के हामी वर्तमान समाज मे ही हम जब इन विशेषाधिकारो के विरुद्ध विद्रोह करते है, तो जो समाज समानता को घोषित करके बनेगा, क्या उसमें हम उनको बरदाश्त कर लेंगे?

यही कारण है कि समष्टिवादी, यह जान कर कि क्रान्ति की भावना से पावन हुए समाज मे मजदूरी की भिन्न-भिन्न दरें कायम रखना असम्भव है, कहते है कि सबको बराबर-बराबर मज़दूरी मिलेगी, परन्तु यहाँ भी उन्हे नई कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। और जिस प्रकार दूसरे

समष्टिवादियो का भिन्न-भिन्न मजदूरी का सिद्धान्त अव्यवहार्य सिद्ध होता है, उसी प्रकार यह समान-मजदूरी का उसूल भी ख़याली पुलाव साबित होता है।

जो समाज समस्त सामाजिक सम्पत्ति पर कब्ज़ा कर लेगा, उस सम्पत्ति पर सब के समान हक़ की साहसपूर्ण घोषणा कर देगा—इसका ध्यान नहीं रक्खेगा कि उस सम्पत्ति की उत्पत्ति मे किसका कितना-कितना भाग रहा है—उस समाज को मज़बूरन् सब प्रकार की मज़दूरी-प्रणाली छोडनी पडेगी। न वह सिक्के का चलन जारी रक्खेगा, न 'लेबर-नोट' का।

४

समष्टिवादी कहते हैं कि "जितना करे, उतना भरे।" दूसरे शब्दो मे कह सकते है कि समाज की सेवाओ मे जिसका जितना भाग है, उसको उतना ही मिले।

वे चाहते हैं कि ज्योही साम्यवादी क्रान्ति हो और उत्पत्ति के साधन सार्वजनिक सम्पत्ति बन जॉय, त्योंही इस सिद्धान्त को काम मे लाया जाय। परन्तु हमारा विचार है कि यदि साम्यवादी क्रान्ति ने दुर्भाग्य से इस सिद्धान्त को माना, तो उसका अवश्य नाश हो जायगा! पिछली शताब्दियों से समाज का प्रश्न बगैर हल हुआ-सा पडा है। वह आगे भी वैसा ही पडा रहेगा।

हमारे आधुनिक समाज मे आदमी जितना अधिक काम करता है, उतना ही कम वेतन पाता है। ऐसे समाज मे तो उक्त सिद्धान्त न्यायोचित-सा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव मे वह अन्याय को चिरस्थायी बनानेवाला है। उक्त सिद्धान्त का सहारा लेकर ही मज़दूरी-प्रथा का प्रारम्भ हुआ था, और उसका अन्त हुआ घोर असमानताओ और समाज के सारे वर्तमान घृणित दोषों में। जिस क्षण से काम का मूल्य सिक्को मे या मज़दूरी के किसी रूप मे गिना जाने लगा, जिस दिन से यह माना गया कि आदमी जितना वेतन प्राप्त कर सकेगा उतना ही उसको मिलेगा, अधिक कुछ नही मिलेगा, उसी दिन राज्य की सहायता

पानेवाले पूँजीपति समाज का सारा इतिहास मानो लिखा जा चुका था। वह इतिहास इस सिद्धान्त मे बीजरूप से मौजूद था।

तब फिर क्या हमारे लिए यह उचित है कि हम उसी स्थान पर फिर पहुंच जायँ, जहाँ से हम चले थे, और विकास की उन सारी घटनाओ को फिर दुहराये? ये सिद्धान्तवादी तो ऐसा ही चाहते है; परन्तु यह है असम्भव। हमारा मत है कि क्रान्ति साम्यवादी क्रान्ति ही होनी चाहिए। यदि वह ऐसी न होगी, तो रक्तपात के बाद वह नष्ट हो जायँगी. और उसके लिए फिर नये सिरे से प्रयत्न करना पडेगा।

समाज के प्रति जो सेवाये की जाती है चाहे वे कारख़ानो और खेतो मे किये गये श्रम के रूप मे हो, चाहे मानसिक सेवाये हो, उनका मूल्य रुपयो मे नही गिना जा सकता। उत्पत्ति के रूप मे मूल्य की गणना का कोई ठीक नाप नही हो सकता (जिसको श्रम से विनिमय-मूल्य कहा जाता है), और न उसका व्यवहार-मूल्य हो सकता है। यदि दो व्यक्ति वर्षों तक समाज के लिए रोज़ पॉच घंटे भिन्न-भिन्न काम करते है, जो दोनो की अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार है, तो हम कह सकते है कि सब मिलाकर दोनो का श्रम प्रायः बराबर है। परन्तु हम उनके काम के टुकडे नही कर सकते, और न यह कह सकते है कि एक व्यक्ति के अमुक दिन घंटे या मिनट के काम का मूल्य दूसरे व्यक्ति के अमुक दिन, घंटे या मिनट के काम के बराबर है।

मोटे हिसाब से हम यह कह सकते है कि समाज मे जिस व्यक्ति ने अपने आराम के वक्त मे से रोज़ दस घटे निकाल कर काम किया है, उसने उस व्यक्ति से बहुत ज्यादा काम किया है, जिसने अपने आराम के वक्त मे से काम के लिए दिन मे पांच घंटे ही दिये है. या कुछ भी नहीं दिया। परन्तु हम उसके दो घंटे के काम को लेकर यह नही कह सकते कि उसके दो घटे का काम दूसरे व्यक्ति के एक घटे के काम के मूल्य के बराबर है, और उसी हिसाब से उसको वेतन भी मिलना चाहिए। इस प्रकार तो हम इस बात को भुला देंगे कि उद्योग-धन्धो मे खेती मे, और वर्तमान समाज के सारे जीवन मे ही आज गहन पारस्परिक

सम्बन्ध स्थापित हो गये है। इस प्रकार के कथन से हम इस बात को भी भुला देगे कि बहुत अंश तक व्यक्ति का काम सम्पूर्ण समाज के भूत और वर्तमान श्रम का फल है। इसका तात्पर्य तो यह होगा कि हम अपने को पत्थर के युग मे रहनेवाले समझते हैं; लेकिन हम तो रह रहे है लोहे के युग मे !

यदि आप किसी आधुनिक कोयले की खान मे जायँगे तो आप एक ऐसी बडी भारी मशीन देखेंगे, जो एक पिजरे को ऊपर उठाती या नीचे गिराती है। एक व्यक्ति उस मशीन को चलाता रहता है। उसके हाथ मे एक लीवर होता है, जिससे मशीन की गति रुक या पलट सकती है। जब वह लीवर को नीचे सरका देता है, तो उसी क्षण पिंजरा दूसरी ओर चला जाता है। वह बडी तीव्र गति से पिजरे को गहरी खान के भीतर पहुँचाता या ऊपर उठाता है। एक इंडीकेटर (Indicator) से उसे मालूम होता रहता है कि प्रत्येक सेकण्ड मे पिजरा खान मे किस जगह पहुँचा है। उसकी निगाह सदा उसी इंडीकेटर पर रहती है, और ज्योही उसका कॉटा एक स्थान पर पहुँच जाता है त्योही वह उसी क्षण पिजरे की गति को रोक देता है। पिंजरा ठीक स्थान पर रुक जाता है। न एक गज ऊपर, न एक गज़ नीचे। इसके बाद ज्योही कोयले वाले कोयले के ठेलो को खाली कर देते हैं त्योही वह लीवर को दूसरी ओर घुमा देता है, और पिजरा ऊपर चढ़ जाता है।

रोज़ लगातार आठ-आठ या दस-दस घटे वह इसी ढग से इंडीकेटर पर ध्यान रखता है। अगर उसका ध्यान एक क्षण भी ढीला पड जाय, तो पिंजरा गियर (Gear) से टकरा जाय, उसके पहिये टूट जायँ, रस्सियाँ भी तडाक से टूट जायँ, आदमी दब कर मर जायँ, और खान का सारा काम बन्द हो जाय। यदि लीवर चलाने मे हर वक्त वह तीन सैकण्ड की भी देर लगा दे, तो हमारी आधुनिक सुसज्जित खानों में कोयले की उत्पत्ति प्रतिदिन बीस से लेकर पचास टन तक कम हो जाय।

तब बतलाइए, खान-खुदाई के उद्योग मे क्या पिजरे की मशीन को चलानेवाला व्यक्ति सबसे अधिक आवश्यक है ? या वह लडका ज्यादा

आवश्यक है जो नीचे से पिंजरा उठाने का उसे संकेत करता है? अथवा कि वह खनिक ज्यादा आवश्यक है, जो खान की पैंदी मे काम करता है और जिसकी जान जाने का प्रत्येक क्षण भय रहता है तथा जो किसी न किसी दिन भीतर की गैस के आग से भभक उठने से मर जायगा? या कि वह इंजीनियर ज्यादा जरूरी है, जो कोयले की सतह का हिसाब लगाता है? यदि उसका अनुमान गलत हो जाय तो कोयले की तह तो एक तरफ रह जाय और खनिक चट्टान पर कुदाल चलाने लगे? अथवा कि खान का मालिक ज्यादा जरूरी है, जिसने उसमे अपनी पूँजी लगाई है और विशेषज्ञों की राय की उपेक्षा करके भी यह सोचा कि वहाँ बढिया कोयला निकलेगा?

खान के काम मे जितने भी आदमी लगे है, वे सब अपनी-अपनी शक्ति, सामर्थ्य, ज्ञान, बुद्धि और कौशल के अनुसार कोयला निकालने मे भाग लेते है। हम कह सकते है कि सब को हक है कि वे जीवित रहे, सब को हक है कि वे अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, और जीवनोपयोगी वस्तुओं के सब को मिल जाने के बाद अपनी-अपनी रुचियो की भी पूर्ति कर सके। परन्तु प्रत्येक के काम का मूल्य हम निर्धारित नही कर सकते।

लेकिन जरा आगे बढ़ने पर सवाल तो यह होता है कि जो कोयला उन्होंने निकाला है, क्या वह केवल उनका ही परिश्रम है? क्या उसमे उन लोगो का श्रम सम्मिलित नहीं है, जिन्होने खानो तक रेले बनाई है और जिन्होने रेलवे स्टेशनो से सब दिशाओं की ओर जाने वाली सडके बनाई है? क्या उसमे उनका श्रम नहीं है, जिन्होने खेतो को जोत-बो कर अन्न उत्पन्न किया, जिन्होने लोहा निकाला, जिन्होने जगल से काटकर लकडी प्राप्त की, जिन्होने उस कोयले को काम मे लाने वाली मशीनें बनाई, जिन्होने धीरे-धीरे सारे खानो के उद्योग को विकसित किया, अथवा जिन्होने इसी प्रकार के और काम किये?

इन लोगो मे से प्रत्येक के काम को बिलकुल पृथक् करना नितान्त असम्भव है। प्रत्येक के काम के परिणाम से उसके काम को नापना बहुत

ग़लत है, और सारे काम के विभाग करना और काम के टुकडो को श्रम के घंटो से नापना भी बहुत ग़लत है। हॉ, यह बात सही रहती है कि आवश्यकताएं कामो से ज्यादा ज़रूरी हैं, और सब मनुष्यो को जीवित रहने का हक़ सबसे पहले स्वीकार किया जाना चाहिए। इसके बाद जिन्होने उत्पत्ति मे भाग लिया है, उनका सुख से रहने का हक माना जाना चाहिए।

मनुष्य के सारे कार्यों मे से किसी दूसरी शाख को लीजिए। जीवन के सब प्रकार के विकासों को ही लीजिए। हममें से कौन ऐसा है, जो यह दावा कर सके कि मेरे काम का वेतन मुझको औरो से अधिक मिलना चाहिए ? क्या वह डाक्टर अधिक वेतन का दावा कर सकता है जिसने रोग की परीक्षा की; क्या वह परिचारिका ज्यादा वेतन का दावा कर सकती है जिसने रोगी की सेवा-शुश्रूसा करके उसे अच्छा किया ? क्या वह व्यक्ति ज्यादा वेतन पाने का हक़ रखता है, जिसने पहले-पहल स्टीमएंजिन का आविष्कार किया था, या वह लडका ज्यादा वेतन पाने का हक रखता है, जो पिस्टन मे भाप जाने के लिए वाल्व का मुँह खोलने वाली रस्सी को पकडते-पकडते एक दिन थक गया था, और जिसने अनजाने मे मशीन के लीवर से उस रस्सी को बांध दिया था और जिसे यह भी पता न था कि उसने आटोमैटिक वाल्व का आविष्कार कर लिया है, जो वर्तमान मशीनरी का एक आवश्यक अंग है ?

क्या एंजिन का आविष्कारक अधिक वेतन पाने का हक़ रखता है ? या न्यूकेसल शहर का वह मज़दूर, जिसने यह तजवीज़ निकाली थी कि पत्थर लचक नहीं सकता, और रेल की पटरी के नीचे उसके लगे रहने से रेलगाडी पटरी से उतर जाती है, इसलिए उसकी जगह लकडी के स्लीपर लगने चाहिएँ। (पहले रेल्वे की पटरी पत्थर के ऊपर जमाई जाती थी।) क्या एंजिन विभाग का इंजीनियर अधिक वेतन पाने का हक रख सकता है, या वह सिगनल वाला अपना अधिक हक़ बता सकता है, जो गाडियों को रोकता या जाने देता है ? अथवा क्या वह आदमी अधिक वेतन का हक़दार है, जो रेल को एक लाइन से दूसरी लाइन पर बदलता है?

यूरोप और अमेरिका के बीच समुद्र मे जो तार लगे हैं वे किस के श्रम का फल हैं ? क्या वे उस बिजली के इंजीनियर का कार्य है, जिसने वैज्ञानिको के विरोध करते रहने पर भी कहा था कि तार से संवाद अवश्य जा सकेगे ? अथवा क्या वह विद्वान् प्राकृतिक-भूगोलवेत्ता मॉरी का कार्य है, जिसने यह सलाह दी थी कि मोटे तार न लगाकर हाथ मे पकडने की बेतो के समान पतले तार लगाने चाहिऐ ? अथवा वह उन स्वयंसेवको का कार्य है, जो न जाने कहाँ-कहाँ से आये थे, और डेक पर दिन-दिन और रात-रात ध्यान से प्रत्येक गज तार को देखते जाते थे, और उन कीलों को निकालते जाते थे, जो स्टीमशिप कम्पनियों के हिस्सेदारो ने तार को बेकार करने के लिए उसके ऊपरी आवरण मे मूर्खता से लगवा दी थी ?

इससे भी बडे क्षेत्र में, जीवन के सच्चे क्षेत्र मे—जिस मे अनेको आनन्द अनेकों कष्ट, और अनेको दुर्घटनायें आती हैं—हम स्मरण कर सकते हैं कि किसी-किसी व्यक्ति ने हमारी इतनी बडी सेवा की है कि यदि उस का मूल्य सिक्को मे कहा जाय तो हमे क्रोध आ जायगा। सम्भव है कि वह सेवा यही हो कि किसी ने हम से कुछ शब्द कहे, केवल कुछ ही शब्द किसी महत्वपूर्ण अवसर पर कहे। या सम्भव है किसी ने महीनो और वर्षो लगन के साथ हमारी सेवा की हो। तो क्या हम इन 'अतुलनीय' सेवाओं को 'लेवर नोटो' द्वारा तौलेंगे ?

तुम 'अपने-अपने काम' की बात करते हो। परन्तु प्रत्येक मनुष्य को जितना वेतन सिक्कों, 'चेकों' आदि के रूप मे मिलता है उसकी अपेक्षा वह असंख्य गुना अधिक प्रदान करता है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य-जाति दो पीढ़ियो से अधिक जीवित न रह सकती। यदि माताये बालको की खबरगीरी करने मे अपने जीवन अर्पण न किया करे और इसी प्रकार पुरुष भी निरन्तर, बिना बराबर मूल्य का बदला माँगे और जब उन्हे पारितोषिक की प्रत्याशा भी न हो, अपना दान देना जारी न रक्खे, तो मनुष्य-जाति शीघ्र ही मिट जाय।

हमे हिसाब लगाने की बडी आदत पड गई है। हमारे अन्दर यह बात घुस गई है कि हम लेने के लिए ही देते हैं। जिस प्रकार जमा

और नामे के आधार पर व्यापारिक कंपनी होती है, उसी प्रकार हमने समाज को भी वैसा ही बनाने का लक्ष्य बना लिया है। यही कारण है मध्यमवर्गी समाज का दिन-दिन ह्रास होता जा रहा है। इसी कारण तो हम एक ऐसी अँधेरी गली मे आघुसे है, जहाँ से निकलना तबतक संभव नही है कि जबतक हम पुरानी संस्थाओ को ढूँढ-ढूँढ कर नष्ट न कर दें।

समष्टिवादी लोग स्वयं इस बात को जानते भी है। वे थोडे अस्पष्ट प्रकार से समझते हैं कि यदि समाज 'जितना करे, उतना भरे' का सिद्धांत पूर्णरूप से व्यवहार मे लाये तो वह टिक नही सकता। वे यह ज्ञान रखते है कि मनुष्य की आवश्यकताये—व्यक्ति की जीवनोपयोगी वस्तुये (हम शौक की वस्तुओ की बात नही कहते) सदा उसके काम के अनुपात से ही नही हुआ करतीं। इसलिए डिपेप का यह कथन है कि "इस पूर्ण व्यक्तिवादी सिद्धांत मे इतना साम्यवादी सुधार करना होगा कि बालकों और युवको के (पालन, पोषण, भोजन और निवास के प्रबन्ध-सहित) शिक्षण की व्यवस्था करनी पडेगी, कमजोर और रोगियो की सेवा-सहायता के लिए सामाजिक संगठन करना पडेगा, और श्रम-कर्त्ताओ के लिए विश्रान्ति-गृह की व्यवस्था करनी पडेगी, अथवा इसी प्रकार के और अनेक कार्य करने पड़ेगे।" वे जानते है कि चालीस वर्षके आदमी की—जिसके तीन बच्चे है—आवश्यकतायें बीस वर्ष के अकेले युवा मनुष्य से अधिक होती है। वे यह जानते है कि जो स्त्री बच्चे को दूध पिलाती है और उसके पास बिना सोये रातें बिताती है वह उतना काम नही कर सकती, जितना कि एक ऐसा आदमी जो आराम से रात भर सोया हो। शायद वे यह भी मानते है कि ऐसे स्त्री-पुरुष, जो संभवतः समाज के लिए बहुत अधिक श्रम करते-करते ही जीर्ण हो गये है, उतना काम करने मे असमर्थ है, जितना कि वे लोग जो आराम से अपना समय बिता चुके है और राज्याधिकारियो के ऊँचे पदो पर काम करके और 'लेबर-नोट' पा कर जेबें भरते है।

अतः वे अपने सिद्धान्त मे सुधार करने को उत्सुक है। वे कहते हैं कि "समाज अपने बालको की रक्षा और पोषण अवश्य करेगा—वृद्धो

और कमज़ोरो को सहायता अवश्य देगा। 'जितना करे, उतना भरे' के सिद्धान्त मे सुधार करके समाज मनुष्य की आवश्यकताओ का यथेष्ठ ध्यान रक्खेगा।"

पर, इसमे दान—धर्मिक दान—का विचार है, और इस बार इस दान का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जायगा। उनका विचार है कि अनाथो के आश्रमो मे सुधार किया जाय और बुढ़ापे और बीमारी के लिए बीमा करा दिये जाएँ। यही उनके सिद्धान्त का सुधार है। परन्तु 'घाव लगा कर दवा करने' की बात को उन्होने अभी छोडा नही है।

इन बडे अर्थशास्त्रियो ने साम्यवाद को अस्वीकार किया, 'जिसकी जितनी ज़रूरत है, उसको उतना मिले,' इस सिद्धान्त की खिल्ली उडाई और फिर इन्हे पता लगा कि वे एक बात भूल गये है। वे इस बात को भूल गये कि उत्पादको अर्थात् श्रमकर्त्ताओ की आवश्यकताये भी हुआ करती है। यह बात अब इन्होने स्वीकार करली है। इनका मत है कि राज्य ही इसका अनुमान लगायगा। यह राज्य का ही काम होगा कि यह जॉच करे कि किसी व्यक्ति की आवश्यकताये उसके काम के हिसाब से कही अधिक तो नही है।

दान भी राज्य हो बॉट देगा। उसके बाद अगला कदम होगा इग्लैण्ड का-सा ग़रीबो का कानून और परिश्रम-गृह।

भेद थोडा-सा ही है। क्योंकि जिस वर्तमान समाज-व्यवस्था के विरुद्ध हम विद्रोह कर रहे है उसे भी तो अपने व्यक्तिवादी सिद्धान्तो मे परिवर्तन करना है। उसे भी साम्यवादी दिशा मे कुछ रिआयते दान के नाम से करनी ही पडी है।

वर्तमान समाज मे भी लोग अपनी दूकानों को लूट से बचाने के लिए मुट्ठी भर चने बॉटा करते है। वर्तमान समाज भी तो छूत के रोगों की बढती को रोकने के लिए अस्पताल बनवाता है, जो प्राय. बहुत बुरे होते है। हॉ, कोई-कोई अच्छे भी है। वर्तमान समाज भी श्रम के घंटों के अनुसार मज़दूरी देने के बाद उन ग़रीबो के बालकों को आश्रय देता है,

जिनका जीवन वह नष्ट कर चुका होता है। वह उनकी आवश्यकतायें समझ कर थोड़ा-बहुत दान कर दिया करता है।

हम अन्यत्र कह चुके है कि दरिद्रता ही धन एकत्र होने का प्रारंभिक कारण था। दरिद्रता के अस्तित्व ने ही पहले पूँजीपति को पैदा किया था, क्योंकि 'मुनाफा' या 'अतिरिक्त मूल्य' तभी इकट्ठा किया जा सकता था, जब उसके पहले कुछ ऐसे निर्धन लोगों का अस्तित्व होता जो—यदि वे पेट पालने के लिए मज़दूरी न करते, तो—भूखे ही मर जाते। दरिद्रता ने ही पूंजीपतियों को बनाया। मध्ययुग मे दरिद्रों की संख्या के इतनी तेज़ी से बढने का कारण यह था कि राज्यों की स्थापना के बाद परस्पर आक्रमण और युद्ध होते रहे और पूर्वीय देशों का अपहरण करने के कारण यूरोप में धन बढ़ गया था। पहले देहात और नगरो के समाजो में जिन संबन्धों और बन्धनों से मनुष्य परस्पर बंधे हुए थे, इन दोनो कारणों से वे बन्धन टूट गये। इन्हीं दो कारणो से पहले के जातीय जीवन की एकता के व्यवहार को छोड कर उन्होंने मजदूरी-प्रथा का सिद्धान्त घोषित किया, जो दूसरों का अपहरण करने वालो को इतना प्रिय है।

जिस साम्यवादी क्रान्ति का नाम भूखों, पीडितो और दुखियों को इतना प्रिय है, वह क्या ऐसे ही सिद्धान्त को जन्म देगी?

ऐसा कभी नहीं हो सकता। जिस दिन ग़रीबों के प्रहार से पुरानी संस्थाये भूमिसात हो जायँगी, उस दिन सब तरफ़ से यही चिल्लाहट आयगी, "रोटी, घर और विश्राम का इतजाम सबके लिए होना चाहिए।" इस चिल्लाहट पर ध्यान दिया जायगा। लोग उस समय कहेंगे—"जीवन-आनन्द और स्वतन्त्रता की प्यास हमे सदा से लगी हुई है! अब हम इस पिपासा को संतुष्ट करेंगे। जब हम इस सुख को प्राप्त कर लेंगे, तब मध्यम वर्ग के शासन के बचे-खुचे स्मारकों को भी नष्ट करने में लग जायँगे। जिस नैतिकता का जन्म केवल बनिये की बही मे हुआ है, जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्माण 'जमा और नामे' के आधार पर हुआ है, जो 'मेरी और तेरी' संस्थाये हैं—उन्हे हम नष्ट करने मे लग जायँगे। प्राउढन के कथनानुसार 'नाश करके ही हम रचना करेंगे।' और हमारी

रचना साम्यवाद और अराजकवाद के नाम से होगी।

: १४ :

उपभोग और उत्पत्ति

१

सत्तावादी लोगो का मानव-समाज और उसके राजनैतिक संगठन की ओर जो दृष्टिकोण है, हमारा दृष्टिकोण उस से भिन्न है। हम राज्य के वर्णन से प्रारम्भ करके व्यक्ति के वर्णन तक नही पहुँचते। हम तो पहले स्वाधीन व्यक्ति से प्रारम्भ करते हैं और फिर स्वतन्त्र समाज तक पहुँचते हैं। हम पहले उत्पत्ति, विनिमय, राज्य-करो और राज्य का विवेचन नही करते। उससे पहले हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि व्यक्तियों की आवश्यकताये क्या हैं, उन आवश्यकताओं की पूर्ति के उपाय क्या हैं, इत्यादि।

साधारण दृष्टि से यह भेद मामूली प्रतीत होता है, परन्तु गहरा उतरने पर तो सरकारी राजनैतिक अर्थशास्त्र के वर्तमान सारे सिद्धान्त ही उलट जाते हैं।

यदि आप किसी अर्थशास्त्री के ग्रन्थ को उठा कर खोलें, तो आप देखेंगे कि वह उत्पत्ति से प्रारम्भ करता है—अर्थात् पहले वह यह विवरण देता है कि धन की उत्पत्ति के लिए आजकल क्या साधन काम मे आरहे हैं, और श्रम-विभाग, कारखाने, तत्सम्बन्धी मशीनरी और पूंजी के सञ्चय का भी विवरण देता है। एडम स्मिथ से लगाकर मार्क्स तक सारे अर्थ-शास्त्री इसी प्रकार चले है। वे अपनी पुस्तको के अन्तिम भागो मे ही उपभोग (Consumption) का वर्णन करते हैं, अर्थात् व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ति के जो उपाय या साधन हमारे वर्तमान समाज में आ रहे है, उनका विवेचन करते हैं। उस विवेचन में भी वे इतना ही बताते हैं कि धन के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धा करने वाले लोगों के बीच धन का वितरण या विभाजन जिस प्रकार हो रहा है।

शायद आप समझते हो कि यह क्रम युक्तियुक्त है। आवश्यकताओं की पूर्ति होने के पहले आपके पास वे चीज़े होनी चाहिएं, जिनसे आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। परन्तु कोई भी वस्तु उत्पन्न करने के पहले क्या यह ज़रूरी नही है कि आप उसकी आवश्यकता का अनुभव करें? जब मनुष्य सर्व-प्रथम शिकार करने लगा, पशु पालने लगा, भूमि जोतने लगा औज़ार बनाने लगा और बाद मे मशीनरी का आविष्कार करने लगा, तो क्या उसको इन सब कामो के लिए प्रेरित करने वाली शक्ति की आवश्यकता नहीं थी? क्या आवश्यकताओं का अध्ययन किये बिना उत्पत्ति कर डालना चाहिए? इसलिए इतना तो कहना ही पड़ेगा कि यही क्रम युक्तियुक्त है कि पहले आवश्यकताओं का विचार करना चाहिए और फिर यह विवेचन करना चाहिए कि उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पत्ति का प्रबन्ध इस समय कैसा है और भविष्य मे कैसा होना चाहिए?

हम इसी क्रम से विवेचन करना चाहते है।

परन्तु ज्योंही हम इस दृष्टिकोण से राजनैतिक अर्थशास्त्र का अवलोकन करते है त्योंही उसका स्वरूप बिलकुल बदल जाता है। तब वह वर्तमान अवस्था का केवल एक विवरण या वर्णन नहीं रह जाता; बल्कि वह एक विज्ञान बन जाता है। इस विज्ञान की परिभाषा हम इस प्रकार दे सकते हैं—"मनुष्य-जाति की आवश्यकताओं का और मानव-शक्ति के न्यूनतम अपव्यय से उन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनो का अध्ययन।" उसका सच्चा नाम तो होना चाहिए समाज का जीवन-शास्त्र (Physiology of Society)। वह उसी प्रकार का शास्त्र है जिस प्रकार का वनस्पतियों और प्राणियो का प्राणि-शास्त्र है, जिसमे वनस्पतियो और प्राणियो की आवश्यकताओं का और अधिक-से-अधिक लाभदायक मार्गों से उन आवश्यकताओं की पूर्ति का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्रीय (Sociological) विज्ञानो में मनुष्य-समाजो के अर्थ-शास्त्र का वही स्थान है, जो जीवन-शास्त्रीय (Biological) विज्ञानो मे पौधो और प्राणियों के प्राणि-शास्त्र का है।

हमारे विवेचन का क्रम इस प्रकार है। संसार के समस्त मनुष्य समाज-रूप मे संगठित हुए हैं। इन सबको स्वास्थ्यकर मकानो में रहने की आवश्यकता प्रतीत होती है। जंगली झोपडी से उन्हें सन्तोष नहीं होता; वे अधिक सुखदायी आश्रय चाहते है। अब सवाल यह है कि मनुष्य को वर्तमान उत्पादन-शक्ति को ही प्रमाण मानते हुए क्या प्रत्येक मनुष्य को अपना-अपना मकान मिलना सम्भव है, या नहीं? साथ ही यह भी कि कौन-सा कारण उसके मकान मिलने मे बाधक हो रहा है?

ज्योंही हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं, त्योही हमे मालूम होता है कि यूरोप के प्रत्येक परिवार को बहुत अच्छी तरह से एक-एक सुख सुविधा-युक्त घर मिल सकता है। वह घर वैसा ही होगा, जैसे इंग्लैंड, बेल्जियम या पुलमैन शहर मे बने हुए हैं, अथवा उतने ही कमरे मिल सकते हैं। कुछ दिनो के श्रम से ही एक छोटा-सा सुन्दर हवादार और बिजलीदार घर बन कर तैयार हो सकता है।

परन्तु नव्वे प्रतिशत यूरोपवासियो के पास कभी भी स्वास्थ्यकर घर नही रहे हैं; क्योंकि प्रत्येक युग मे साधारण लोगों को तो अपने शासकों की आवश्यकता-पूर्ति के लिए दिनरात परिश्रम करना पडा है, और उनके पास न इतना समय था, न इतना धन कि वे अपनी इच्छानुसार मकान बनाते या बनवा सकते। और जबतक वर्तमान परिस्थिति रहेगी तबतक उनके पास पर्याप्त मकान नही हो सकते। उनको झोंपडियों या झोंपडियों के ही समान घरों मे रहना पडेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट दिखाई देता है कि हमारा विवेचन-क्रम अर्थ-शास्त्रियो के विवेचन-क्रम से बिलकुल उलटा है। वे उत्पत्ति के नियमों को बहुत महत्व देते हैं। वे कहते है नये बनने वाले मकानो की संख्या बहुत ही कम है, और उनसे सब की मांग पूरी नही हो सकती; इसलिए नव्वे प्रतिशत यूरोप-वासियो को झोंपडियों में ही रहना पडेगा।

अब भोजन के प्रश्न पर विचार करें। अर्थ-शास्त्री लोग तो पहले श्रम-विभाग से होनेवाले लाभों को गिनाते है, फिर वे कहते हैं कि

श्रम-विभाग के सिद्धान्त के अनुसार यह आवश्यक है कि कुछ लोग कृषि का काम करें, और कुछ लोग उद्योग-धंधों का। वे बतलाते है कि खेती करने वाले लोग इतनी उत्पत्ति करते है, कारख़ानों से इतनी उत्पत्ति होती है, विनिमय (Exchange) इस प्रकार चलता है। फिर वे बिक्री, लाभ, शुद्ध मुनाफ़ा या अतिरिक्त मूल्य, मज़दूरियाँ या वेतन। टैक्स बैंकिंग आदि का विश्लेषण करते हैं।

परन्तु उनके विवेचन को यहाँ तक पढ़ लेने पर भी हमे कोई नई बात मालूम नहीं हुई। फिर हम उन से यह पूछते है कि "जब प्रत्येक परिवार हर साल इतना काफ़ी अन्न उत्पन्न करता है कि दस, बीस या सौ आदमियो को भी खिलाया जा सके, तो क्या कारण है कि करोडो मनुष्य भूखे रहते हैं?" इसके उत्तर मे वे उसी प्रकार अपने मन्त्र फिर पढ़ देते हैं—श्रम का विभाग, वेतन, शुद्ध लाभ, पूंजी आदि। और अन्त मे फिर यही परिणाम निकालते हैं कि उत्पत्ति इतनी नही होती कि सबकी आवश्यकताये पूर्ण हो सकें। यह परिणाम सही हो सकता है, परन्तु इसमे हमारी समस्या हल नहीं होती। "क्या मनुष्य अपने श्रम से अपनी आवश्यकता के लायक अन्न उत्पन्न कर सकता है, या नही कर सकता? यदि नही कर सकता, तो इस मे क्या-क्या बाधाये है?"

यूरोप के निवासी पैंतीस करोड है। उन्हें इतना अन्न, इतना मांस, शराब, दूध, अण्डे और मक्खन साल भर मे चाहिए। उन्हे इतने मकान चाहिएँ और इतना कपडा चाहिए, उनकी कम-से-कम आवश्यकताये इतनी है। क्या वे इतनी उत्पत्ति कर सकते है? इतनी उत्पत्ति कर सकने के बाद भी क्या उनके पास कला-विज्ञान और विनोद के लिए अवकाश बच सकेगा? अर्थात् जीवन के लिए नितान्त आवश्यक पदार्थों की श्रेणी मे न आने वाली वस्तुओ तथा आवश्यकताओं के लिए उनके पास अवकाश बच सकेगा या नही? यदि ऐसा हो सकता है, तो इसमे रुकावटें क्या है? इन बाधाओ को हटाने के लिए लोगो को क्या करना चाहिए? क्या इसमे सफल होने के लिए समय की प्रतीक्षा करनी होगी?

यदि प्रतीक्षा करने की आवश्यकता है, तो करे। परन्तु हमे उत्पत्ति का उद्देश्य नही भूल जाना चाहिए। उत्पत्ति का उद्देश्य है—सबकी आवश्यकताओ की पूर्ति करना।

यदि मनुष्य की सबसे बडी आवश्यकतायें आज अपूर्ण रहती हैं, तो हमें अपनी उत्पादक-शक्ति बढ़ाने के लिए क्या करना चाहिए? परन्तु आवश्यकताओ के इस प्रकार अपूर्ण रहने का क्या और कोई कारण नही है? सम्भव है कि मनुष्य की आवश्यकताओ को देख कर उत्पत्ति न की जाती हो, सम्भव है वह बिलकुल उल्टी दिशा मे भटक गई हो, और उसका प्रबन्ध दोषपूर्ण हो,—क्या ऐसा नही है? हम सिद्ध कर सकते हैं कि है ठीक ऐसा ही। इसलिए अब हमें यह विचार करना चाहिए कि उत्पत्ति का प्रबन्ध फिर से किस प्रकार किया जाय, ताकि वास्तव में सबकी आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके।

हमे तो-इस प्रश्न पर विवेचन करने का यही ढंग ठीक मालूम होता है। यही एक ऐसा ढंग है, जिससे राजनैतिक अर्थ-शास्त्र एक विज्ञान—सामाजिक प्राणिशास्त्रीय विज्ञान—बन सकता है।

जबतक विज्ञान उत्पत्ति का विवेचन उसी प्रकार करता रहेगा जिस प्रकार वह वर्तमान समय में सभ्य जातियो, भारतीय ग्रामों या जंगली लोगों मे हो रही है, तबतक तो जैसा विवेचन अर्थशास्त्री आजकल करते हैं वैसा ही हो सकता है। प्राणि-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र के वर्णनात्मक अध्याय जिस प्रकार के हुआ करते है, यह विवेचन भी उसी प्रकार का एक वर्णनात्मक अध्याय हो सकता है। परन्तु यदि यह अध्याय इस प्रकार से लिखा जाय कि उससे इस बात पर भी प्रकाश पड़े कि मनुष्य की आवश्यकता-पूर्ति के लिए शक्ति का मितव्यय कैसे हो सकता है, तो यह अध्याय अधिक उपयुक्त होगा और उसका वर्णन करना भी अधिक मूल्यवान होगा। वह हमे साफ-साफ यह दिखलायगा कि वर्तमान प्रणाली से मनुष्य की शक्ति का कितना भयंकर अपव्यय हो रहा है। वह यह भी सिद्ध करेगा कि जबतक यह प्रणाली रहेगी तबतक मनुष्य-जाति की आवश्यकतायें कभी पूर्ण नहीं होगी।

हम समझते हैं कि उस समय दृष्टिकोण बिलकुल ही बदल जायगा। तब हमारा ध्यान उस कर्घे तक ही पहुँच कर न रह जायगा, जो इतने-इतने गज़ कपडा बुनता है, न उस मशीन तक ही, जो लोहे की चद्दर मे छेद करती है; और न उस तिजोरी तक ही पहुँचकर रह जायगा, जिसमें कम्पनियो के हिस्सो का मुनाफा भरा जाता है; परन्तु हमारा ध्यान उस मनुष्य पर भी जायगा, जो उत्पत्ति करता है, पर उसकी उत्पत्ति से प्रायः दूसरे ही मौज उडाते हैं और वह वंचित रह जाता है। हमे यह भी समझ लेना चाहिए कि दृष्टिकोण ग़लत होने से, तो जो मूल्य और विनिमय के "नियम" कहलाते हैं, वे आजकल घटित होनेवाली घटनाओं की बडी गलत व्याख्या हैं। और जब उत्पत्ति की व्यवस्था इस प्रकार कर दी जायगी कि उससे समाज की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी, तब सारी बातें बिलकुल बदल जायँगी।

२

यदि आप हमारे दृष्टिकोण से देखने लगे तो राजनैतिक अर्थशास्त्र के सारे सिद्धान्तो की सूरत ही बदल जायगी।

उदाहरणार्थ अति-उत्पत्ति (Overproduction) को लीजिए। यह शब्द हमारे कानों मे रोज गूँजता रहता है। जितने अर्थशास्त्री, अर्थशास्त्र परिषदो के सदस्य, या अर्थशास्त्रीय डिग्रियो के उम्मेदवार हैं वे सब, दलीलें दे-दे कर यही सिद्ध करते है कि अति-उत्पत्ति के कारण ही संसार मे व्यापारिक संकट-काल आया करते हैं—अर्थात् इस कारण कि किसी समय आवश्यकता से अधिक रुई, कपडे, खाद्य-सामग्री या घडियो की उत्पत्ति हो जाती है, हम सभी ने उन पूँजीपतियों की लूट के विरुद्ध ज़ोर की आवाज़ उठाई है। हम ने कहा है कि वे जान-बूझ कर इतना माल उत्पन्न करने पर तुले हुए हैं कि जितना शायद खप नही सकता।

परन्तु ध्यानपूर्वक जाँच करने से मालूम होगा कि ये सारे तर्क ठीक नही हैं। इस्तैमाल मे आनेवाली चीज़ो मे से वास्तव में क्या एक भी ऐसी चीज़ है, जो आवश्यकता से अधिक उत्पन्न होती है? कई देश बहुत-सा

माल बाहर भेजते हैं। उनमें से एक-एक चीज़ पर विचार कीजिए। आपको मालूम हो जायगा कि प्राय. सारी चीजे निर्यात करनेवाले देशो के निवासियों के लिये ही काफी उत्पन्न नहीं होतीं।

जो गेहूँ रूस का किसान दूसरे देशो को भेजता है, वह रूस-निवासियो की आवश्यकता से अधिक नहीं है। यूरोपियन रूस मे गेहूँ और राई (Rye)—एक किस्म का काला अनाज—जो बडी प्रचुरता से होते हैं, वहाँ के निवासियो के लिए केवल पर्याप्त ही होते हैं। यह तो साधारण नियम-सा है कि जब किसान टैक्स और लगान चुकाने के लिए अपना गेहूँ या राई बेचता है, तो उसके पास से उसकी आवश्यकता के लायक गेहूँ भी कम हो जाता है।

इंग्लैण्ड दुनिया के चारो खूँट पर अपना कोयला भेजता है, पर वह कोयला उसकी निज की आवश्यकता के अतिरिक्त नहीं होता। देश के घरू उपयोग के लिये तो प्रति व्यक्ति साल भर मे केवल तीन-चौथाई टन ही कोयला बच पाता है। लाखो इंग्लैण्ड-वासियों को शीतकाल में आग भी नही मिल पाती, या केवल इतनी-सी मिलती है कि उससे थोडी सी शाक ही पका सकें। इंग्लैण्ड तो दुनिया मे सबसे बडा निर्यात करने वाला देश है, परन्तु वहाँ केवल कपडा ही एक ऐसी चीज है, जो सर्वसाधारण के उपयोग की है, और इसकी उत्पत्ति शायद आवश्यकता से अधिक होती है। परन्तु जब हम यह देखते हैं कि इंग्लैण्ड के संयुक्त राज्य की एक-तिहाई जनता फटे कपडे पहनती है, और उन्हें ही नियामत समझती है, तो हम सोचते है कि जो कपडा बाहर जाता है क्या वह जनता की सच्ची आवश्यकताओ के लिए यथेष्ठ नहीं होता ?

आजकल जो माल बाहर भेजा जाता है, साधारणत. वह देश की आवश्यकता से अधिक नहीं होता। संभव है, प्रारंभ मे ऐसा रहा हो। नंगे पांव वाले चर्मकार की कहानी पहले कारीगरों के विषय से कही जाती थी। वह आज के राष्ट्रो के विषय में भी उतनी ही सच्ची ठहरती है। जो वस्तुये आवश्यकता की होती है, उन्हें हम बाहर भेज देते है, और हमारे ऐसा करने का कारण यह है कि श्रमिक लोगो मे यह शक्ति नहीं

है कि पूंजीपति का किराया और साहूकार का ब्याज देने के बाद वे अपने वेतन से अपनी ही उत्पन्न की हुई चीज़ो को ख़रीद सके।

सिर्फ़ इतना ही नही होता कि हमारी नई उत्पन्न होनेवाली सुखेच्छाये बिना पूर्ति के रह जाती है, परन्तु प्राय. जीवन की भौतिक आवश्यकताओ की—चीज़ो की भी कमी रहती है। अतः 'अतिरिक्त उत्पत्ति' का अस्तित्व ही नही है। कम-से-कम उसका अस्तित्व उस भाव मे तो नही है, जिस भाव मे राजनैतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तवादी उसे प्रयुक्त करते हैं।

दूसरी बात लीजिए। सारे अर्थशास्त्री कहते है कि यह एक सिद्ध नियम है कि "मनुष्य जितना अपने उपयोग मे लाता है, उससे अधिक उत्पन्न करता है।" अपनी कमाई मे से ख़र्च करने के बाद उसके पास अतिरिक्त भी बचता है। मसलन् कृषको का एक परिवार इतना उत्पन्न करता है, जो कई परिवारो के खाने के योग्य होता है—इत्यादि।

हमारी दृष्टि से तो इसको बार-बार दोहराने का कोई अर्थ नही है। यदि इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक पीढ़ी आगे आनेवाली पीढियो के लिए कुछ-न-कुछ छोड जाती है, तब तो यह सही हो सकता है। उदाहरणार्थ एक किसान एक पेड लगाता है। वह पेड शायद तीस, चालीस या सौ वर्ष तक खडा रहेगा, और उसके फल उसके पौत्र भी खायँगे। अथवा वह कुछ बीघे नई ज़मीन साफ करता है। हम कहते है कि आगामी पीढ़ियो की जायदाद में इतनी वृद्धि हुई। सडके, पुले, नहरे, मकान और फरनीचर—यह ऐसा धन है, जो आगामी पीढ़ियो का उत्तराधिकार होगा।

परन्तु अर्थशास्त्रियो का यह तात्पर्य नही है। वे कहते है कि किसान के लिए खाने को जितने अन्न की आवश्यकता होती है, उससे अधिक उत्पन्न करता है। पर यही बात उन्हे इस प्रकार कहनी चाहिए—किसान से उत्पत्ति का बडा भाग राज्य अपने टैक्स के रूप मे, पादरी अपने धर्म-दशमांश के रूप मे, और भूमिपति लगान के रूप मे ले लेता है। किसान-वर्ग पहले जितना उत्पन्न करता था, उतना सब अपने उपयोग मे ले आता था, सिर्फ आकस्मिक ख़र्चों या पेड लगाने, सडक बनाने आदि

के लिए कुछ बचाता था। पर अब उस वर्ग का यह हाल हो गया है कि उसे मजबूरन बडी दरिद्रता मे मुश्किल से गुज़ारा करते हुए रहना पडता है। और उसकी उत्पत्ति का बचा हुआ भाग राज्य, ज़मींदार, पादरी और ब्याज वाले ले लेते है।

इसलिए हम इस बात को इस प्रकार कहना अधिक उचित समझते है कि—खेतो और कारखानो पर काम करने वाले मज़दूर आदि लोग जितना उत्पन्न करते है उससे कम अपने उपभोग मे लाते है। क्योकि उन्हे मज़बूरन अपनी मेहनत की उत्पत्ति का अधिकांश बेच देना पडता है, और केवल थोडे से अंश से ही सन्तुष्ट रहना पडता है।

हमे यह भी देख लेना चाहिए कि यदि राजनैतिक अर्थ-शास्त्र मे हम व्यक्ति की आवश्यकताओ से प्रारम्भ करते है, तो ठीक साम्यवाद (Communism) पर ही पहुँचते है और यही एक ऐसा संगठन है, जिसके द्वारा हम अत्यन्त पूर्ण और मितव्ययी मार्ग से सब की आवश्यकताओ को पूरा कर सकते है। दूसरी ओर यदि हम अपने प्रचलित ढंग के अनुसार उत्पत्ति से आरम्भ करते है, लाभ और अतिरिक्त मूल्य को अपना लक्ष्य बनाते है, और यह नही विचारते कि आवश्यकताओ के अनुसार हमारी उत्पत्ति होती है या नही, अनिवार्य रूप से हम पूंजीवाद पर, या अधिक-से-अधिक समष्टिवाद पर पहुँचते है। दोनो ही वर्तमान वेतन-प्रथा के दो भिन्न-भिन्न रूप है।

वस्तुत. जब हम व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओ का विचार करते है और उन साधनो का विचार करते है, जिनका मनुष्य ने अपनी उन्नति की विविध दशाओ मे उन-उन आवश्यकताओ को पूरी करने के लिए प्रयोग किया तो तत्काल हमे यह ज़रूरत महसूस होती है कि हम अपने कार्यों को विधिवत् बनाये, और आज-कल की तरह चाहे-जो-कुछ उत्पत्ति न करते रहे। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जो धन उपभोग मे नही आ चुकता, और पीढी-दर-पीढी उत्तराधिकार के रूप मे जाता है, उस पर थोडे लोगों का कब्ज़ा कर लेना सब के हितो के अनुकूल नही है। और यह भी सत्य मालूम होता है कि इन तरीको के कारण समाज

के तीन-चौथाई भाग की आवश्यकतायें पूरी नहीं हो पाती। अतः वर्तमान समय मे मनुष्य-शक्ति का अपव्यय व्यर्थ बातो मे हो रहा है, वह भी बुरा है।

इसके अलावा हमे यह भी पता लगता है कि वस्तुओ का सबसे अच्छा उपयोग यही है कि उनसे सबसे पहले उन आवश्यकताओ की पूर्ति की जाय, जो सब से ज्यादा जरूरी हैं। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि जिसे वस्तु का 'व्यवहार-मूल्य' (Value in use) कहा जाता है वह कोरी सनक या कल्पना के आधार पर नही है, परन्तु वह सच्ची आवश्यकताओ की पूर्ति के आधार पर है।

साम्यवाद का अर्थ है, समष्टि-रूप से उपभोग, उत्पत्ति और विनिमय की दृष्टि के अनुकूल एक संगठन। और जब हम वर्तमान अवस्था पर उपर्युक्त ढंग से विचार करते है तब स्वाभाविक रूप से समाजवाद के परिणाम पर पहुँचते है। हमारी सम्मति मे यही एकमात्र वैज्ञानिक संगठन है।

जो समाज सबकी आवश्यकताओ को पूरा करना चाहेगा, और इस लक्ष्य मे सफल होने के लिए उत्पत्ति का ठीक-ठीक प्रबन्ध करना जानेगा, उसको उद्योगो के कई मिथ्या विश्वासो को भी निकाल देना पडेगा। इन मिथ्या विश्वासो में सबसे पहला श्रम-विभाग का सिद्धान्त है, जिसका प्रचार अर्थशास्त्री प्रायः किया करते है। हम इस पर अगले परिच्छेद मे विचार करेगे।

: १५ :

श्रम-विभाग

१

राजनीतिक अर्थशास्त्र समाज की बातो का, जिस प्रकार कि वे घटित हुआ करती हैं उसी प्रकार, वर्णन मात्र कर देता है, और इस भाँति बलवान वर्ग के हितार्थ उनका समर्थन कर देता है। इसलिए उसकी

सम्मति उद्योग-धन्धो मे श्रम-विभाग के पक्ष मे है। श्रम-विभाग पूंजीपतियो के लिए लाभदायक है, अतएव इसे एक सिद्धान्त का रूप दे दिया गया है।

वर्तमान अर्थशास्त्र के जन्मदाता एडम स्मिथ ने गांव के एक लुहार का उदाहरण दिया है। यदि लुहार को कीले बनाने का अभ्यास नहीं है तो वह बडी मेहनत से दिन भर मे मुश्किल से दो सौ या तीन सौ कीले बना पायगा, आंखे भी अच्छी न होगी। परन्तु यदि उस लुहार ने जन्म भर कीले ही बनाई हो तो वह एक दिन मे दो हज़ार कीले बना देगा। इससे एडम स्मिथ ने यह परिणाम निकाला है—"श्रम का विभाग करो, विशेषीकरण (Specialisation) करो, विशेषीकरण बढाते जाओ। हमारे पास ऐसे-ऐसे लुहार होने चाहिएँ जिन्हे कीलो के सिरे या नोके ही बनाना आता हो। इस प्रकार हम उत्पत्ति को बहुत अधिक बढा सकेंगे। हमारी सम्पत्ति बढ जायगी।"

परन्तु उसने इस बात को भुला दिया कि जीवनभर कीलों के सिरे बनाते-बनाते बेचारा लुहार घबरा जायगा और उसे अपने कार्य मे कोई दिलचस्पी न रहेगी। उसने इस बात को भी भुला दिया कि जब लुहार केवल इतना-सा ही काम जानता होगा, तो वह कारख़ानेदार की दया का बिलकुल मोहताज हो जायगा। वह बारह महीनो मे चार महीने बेकार रहेगा, और जब उसकी जगह कई नौसिखिये काम करने को मिलने लगेंगे तब उसकी मज़दूरी बहुत कम हो जायगी। इन सब बातो पर विचार किये बिना ही एडम स्मिथ ने बडी प्रसन्नता से घोषणा की कि "श्रम-विभाग की जय हो! इसी सोते की खान से राष्ट्र सम्पत्तिशाली बन जायगा!" और उसकी इस आवाज़ मे सब लोगो ने उसका साथ दिया।

बाद मे सिसमाण्डी या जे० बी० सेय जैसे आदमियो ने इस बात को समझा कि श्रम-विभाग से राष्ट्र की धन-वृद्धि तो बिलकुल नहीं होती। हाँ, धनिको के धन की वृद्धि अवश्य होती है। और वह मज़दूर, जो जीवन भर पिन का अठारहवाँ भाग ही बनाता रहता है, बुद्धिहीन होकर दरिद्रता में डूब जाता है। इसका उत्तर राजनैतिक अर्थशास्त्रियो ने क्या

दिया ? कुछ भी नही । उन्होने इस बात को नही विचारा कि जब श्रमिक बुद्धिहीन हो जायगा और आविष्कार का हौसला खो बैठेगा, तो यह कैसे सम्भव होगा कि तरह-तरह के नये-नये धंधे राष्ट्र की उत्पत्ति को बढ़ाने के लिए निकल सके ? इसी प्रश्न पर अब हम विचार करेगे ।

फिर भी स्थायी और पैतृक श्रम-विभाग के इस सिद्धान्त का यदि सिर्फ विद्वान अर्थशास्त्री लोग ही प्रचार करते, तो हम उनके कार्य मे बाधा नही डालते । परन्तु विज्ञान के दिग्गजो द्वारा फैलाये हुए ये सिद्धान्त साधारण जनता के दिमागो मे भी घुस जाते है और उनके मस्तिष्क को विकृत कर देते हैं । जब मध्यम-वर्ग के सारे लोग और श्रमिक लोग भी बार-बार श्रम-विभाग, मुनाफा, ब्याज, लेन-देन आदि की चर्चा इस प्रकार सुनते हैं, मानो ये स्वयंसिद्ध बाते हैं, तब तो वे भी अर्थ-शास्त्रियों की भाँति तर्क करने लगते हैं । वे भी इन झूठे देवताओं की पूजा करने लगते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकाँश साम्यवादी और वे लोग भी जिन्होंने अर्थ-शास्त्रीय विज्ञान की ग़लतियों को निर्भयतापूर्वक प्रकट किया है, श्रम-विभाग का समर्थन करने लगते हैं । उनसे पूछिए कि क्राँति-युग मे श्रम का कैसा प्रबन्ध करना चाहिए तो वे कहेंगे कि श्रम-विभाग को तो कायम रखना पडेगा । अर्थात् क्रान्ति से पहले यदि आप पिन की नोक तेज करने का काम करते थे तो क्रान्ति के बाद भी आप को वही काम करना पडेगा । इसमें तो संदेह नहीं कि आपको पाँच घंटे से अधिक काम करना न पडेगा, परन्तु आपको जीवन भर पिन की नोक ही तेज़ करनी पडेगी । और दूसरे लोग ऐसी मशीनों के डिज़ाइन ही सोचा करेगे जिनसे आप जीवन मे अरबों पिनें तेज़ कर सकेंगे । इसके अतिरिक्त, दूसरे लोग साहित्य, विज्ञान, कला आदि की शाखाओ के विशेषज्ञ बना करेंगे । आप तो इसीलिए पैदा हुए हैं कि पिनों को तेज़ करते रहे, और पास्टयर इसीलिए पैदा हुआ था कि वह एंथ्रेक्स (विषैला पुराना फोडा) के टीके का आविष्कार करता रहे । जब क्रान्ति हो जायगी तब भी आप अपना वही धन्धा करते रहेंगे । यह सिद्धान्त बडा भयंकर है, समाज के

लिए अत्यन्त हानिकारक है, मनुष्य को पशु बना देने वाला है, और इससे अबतक नाना-विध हानियाँ हो चुकी हैं। अब हम इसके विविध स्वरूपो पर विचार करेंगे।

हमको मालूम है कि श्रम-विभाग के बहुत से बुरे परिणाम हुए हैं। एक दुष्परिणाम तो यह है कि समाज दो वर्गों मे विभक्त हो जाता है। एक वर्ग तो उत्पत्ति करनेवाले श्रमिकों का होता है। वे लोग अपनी उत्पत्ति मे से बहुत थोडी का स्वयं उपभोग करते है और केवल शारीरिक श्रम का काम करने के कारण उन्हे मस्तिष्क से काम लेने की ज़रूरत नही पडती। वे काम भी बुरा करते हैं, क्योकि उनका मस्तिष्क निष्क्रिय रहता है। दूसरा वर्ग है उन लोगो का, जो केवल उत्पन्न माल का उपभोग करते रहते हैं, जो स्वयं बहुत थोडा उत्पन्न करते हैं, या कुछ भी उत्पन्न नहीं करते। उन्हे दूसरो के लिए भला-बुरा सोचने का विशेषाधिकार प्राप्त है। ये लोग सोच-विचार भी बुरा करते हैं, क्योंकि शारीरिक श्रम करने वालों से उनका परिचय नही होता। एक दुष्परिणाम यह भी है कि खेती का काम करनेवाले श्रमिको को मशीन का कुछ भी ज्ञान नही होता, और मशीनरी के श्रमिक खेती के बारे मे कुछ नहीं जानते। वर्तमान कारख़ाने यह चाहते हैं कि एक लडका तो मशीन को ही चलाता रहे, वह उस मशीन को न समझ सके, और न उसे समझने की आवश्यकता है। इसके अलावा एक फोरमैन काम करनेवाला रहे। वह उस लडके पर जुर्माना करे, यदि उसका ध्यान ज़रा भी मशीन से हट जाय। औद्योगिक यन्त्रों से खेती का आदर्श यह है कि खेत मे काम करनेवाला मज़दूर तो बिलकुल न रहे, बल्कि उसके स्थान पर एक ऐसा आदमी कायम हो जाय जो स्टीमहल भी चला ले और अनाज निकालने (Threshing) की मशीन भी चला ले। श्रम-विभाग का अर्थ यह है कि आदमियों पर जीवन भर के लिए ख़ास-ख़ास कामों की छाप या मुहर लगा दी जाए। कुछ आदमी कारखाने में रस्सी बटने के लिए निश्चित हो जायं, कुछ आदमी फ़ोरमैन के काम के लिए निश्चित हो जायँ, कुछ आदमी खान के किसी विशेष भाग में कोयले की टोकरियों को उठाने के लिए निश्चित हो जायँ, परन्तु

उनमे से किसी को भी सम्पूर्ण मशीन, सम्पूर्ण व्यवसाय या सम्पूर्ण खान का कुछ भी ज्ञान न हो सके। इसका फल यह होता है कि श्रम का प्रेम और आविष्कार की योग्यता मनुष्य मे से नष्ट हो जाती है। वर्तमान उद्योग-धन्धो के प्रारंभ मे श्रम के इसी प्रेम और आविष्कार की इसी योग्यता ने तो मशीनरी को जन्म दिया था, जिस पर हम सब इतना अभिमान करते है।

अर्थ-शास्त्रियों ने व्यक्तियों के विषय में जिस बात को कार्य मे परिणत किया, उसी बात को वे राष्ट्रों के विषय में भी करना चाहते थे। वे चाहते थे कि मनुष्य-जाति का इस प्रकार विभाग किया जाय कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी-अपनी विशेषता रखता हुआ, एक अलग-अलग कारखाना बन जाय। उन्होंने कहा था कि रूस अन्न उत्पन्न करने के लिए ही बना है। इग्लैंण्ड सूत तैयार करने के ही योग्य बनाया गया है और स्वीजरलैण्ड इसीलिए बनाया गया है कि वह नर्से और बालको की अभिभाविकायें तैयार करे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक नगर का भी विशेषीकरण किया गया। प्रत्येक नगर की पृथक्-पृथक् विशेषता बनाई गई। लियोन्स (फ्रान्स) नगर का काम रेशम बुनना, आवर्ने नगर का काम बेल के फीते बनाना और पेरिस का काम यह बनाया गया कि वह शौक की चीजें बनाये। अर्थ-शास्त्री कहते थे कि इस प्रकार उत्पत्ति और खपत का बडा भारी क्षेत्र खुल जायगा और इस भांति मनुष्य-जाति के लिए असीम सम्पत्ति का युग आनेवाला है।

परन्तु ज्योंही यन्त्रों और उद्योगों का ज्ञान बाहर फैला त्योंही ये सारी आशायें नष्ट हो गई। जबतक इंगलैण्ड बड़े पैमाने पर सूती कपडा और धातुओं का सामान तैयार करने वाला अकेला देश रहा, और जबतक पेरिस नगर अकेला शौक की सुन्दर-सुन्दर कलामय चीज़ें बनानेवाला रहा, तबतक तो बात ठीक रही। तबतक अर्थ-शास्त्री श्रम-विभाग के सिद्धान्त का प्रचार करते रहे और उनका किसी ने खंडन नहीं किया।

परन्तु सारे सभ्य राष्ट्रों मे धीरे-धीरे नई विचार-धारा पहुँच गई और वे सब अपनी-अपनी आवश्यकता के उद्योग-धंधों को अपनाने लगे। जो माल पहले दूसरे देशों से आता था या अपने उपनिवेशों से आता था (उपनिवेश भी तो अपने-अपने मातृ-देश से अपने को स्वतन्त्र करने

लगे), उस माल को उन देशों ने स्वयं उत्पन्न करना हितकर समझा। वैज्ञानिक अन्वेषणों के कारण उत्पत्ति के तरीके सार्वभौम हो गये। जो चीज घर में बन सकती थी उसके लिए विदेश को भारी क़ीमत देना व्यर्थ समझा गया। अब तो हम देख रहे है कि श्रम-विभाग का जो सिद्धान्त पहले बड़ा दृढ़ समझा जाता था वह इस औद्योगिक क्रान्ति के कारण पूर्णतः खंडित हो गया है।

: १६ :

उद्योगों का निष्केन्द्रीकरण*

१

नेपोलियन के युद्धों के बाद ब्रिटेन ने फ्रान्स के उन मुख्य-मुख्य उद्योग-धन्धों को प्रायः नष्ट कर दिया था जो वहाँ उससे पहले क़ायम थे। वह समुद्र का भी स्वामी बन गया था और यूरोप में उसका कोई बड़ा प्रतिद्वन्द्वी न रह गया था। उसने इस स्थिति से लाभ उठाया और उद्योगों पर एकाधिकार जमा लिया। जिस माल को केवल वही बना सकता था उसका मनमाना मूल्य रक्खा। पड़ौसी देशो से खूब धन इकट्ठा किया और अत्यन्त समृद्धिशाली बन गया।

परन्तु अठारहवी शताब्दी की मध्यम-वर्गीय क्रान्ति ने फ्रान्स में कृषकों की दासता को मिटा दिया और दरिद्रों का एक वर्ग उत्पन्न कर दिया। इस कारण यद्यपि कुछ समय के लिए वहाँ के उद्योग-धन्धे मन्दे पड़ गये, तथापि फ्रान्स फिर उठा और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे उसे इंग्लैण्ड के बने हुए माल को मँगाने की ज़रूरत न रही। आज वह

*ये विचार अधिक विस्तार से 'Fields, Factories and Workshops' मे मिलेंगे। यह पुस्तक मण्डल से शीघ्र ही प्रकाशित होगी।

भी निर्यात-व्यापार करने वाला र ष्ट्र बन गया है। वह छः करोड पौण्ड से भी अधिक का तैयार माल बाहर भेजता है और इसमें से दो-तिहाई माल कपडा होता है। निर्यात-सम्बन्धी कार्य या विदेशी व्यापार से गुजारा करने वाले फ्रान्सवासियो की संख्या तीस लाख है।

अत. फ्रांस इंग्लैण्ड का माल लेने वाला देश नही रहा। उसने भी विदेशी उद्योग-धन्धो की कुछ शाखाओ पर अपना एकाधिकार जमा लिया। वह स्वयं रेशमी वस्त्र, पहनने के तैयार कपडे आदि माल बाहर भेजने लगा और उसने बहुत मुनाफा कमाया। परन्तु जिस प्रकार इंग्लैण्ड के सूती माल का एकाधिकार आजकल नष्ट होता जा रहा है, उसी प्रकार फ्रांस क भी यह एकाधिकार सदा के लिए नष्ट होता जा रहा है।

उद्योग-धन्धे पूर्व की ओर बढते हुए जर्मनी में पहुँच गये। पचास साल पहले जर्मनी इंग्लैण्ड और फ्रांस से ऊँचे दर्जे का तैयार माल मॅगाया करता था। अब नही मॅगाता। पिछले पचास वर्षो मे, और विशेषकर फ्रांस-जर्मन युद्ध के काल मे जर्मनी ने अपने उद्योग-धन्धो का पुनः पूर्ण संगठन कर लिया है। नये कारखानो में बढिया-से-बढिया मशीनरी लगी है। मैंचेस्टर और लियोन्स के सूती और रेशमी माल का नया-से-नया नमूना जर्मनी के कारखानो में बनने लगा है। मैचेस्टर और लियोन्स के कारीगरों को आधुनिक यन्त्रों के निर्माण करने मे दो-तीन पीढियाँ लगी; परन्तु जर्मनी ने उन यन्त्रो को पूर्ण विकसित अवस्था में ले लिया। उद्योग-धन्धों की आवश्यकता के अनुकूल औद्योगिक और यान्त्रिक शिक्षा के स्कूल खुल गये, और वहाँ से ऐसे-ऐसे होशियार काम करने वाले निकलते हैं कि जो हाथ और दिमाग़ दोनों मे कारखानो मे काम करते हैं। जिस अवस्था को मैचेस्टर और लियोन्स के उद्योग-धन्धे पचास वर्ष तक अन्धकार में काम करते हुए, प्रयत्न और प्रयोग करते हुए, पहुँचे थे उस अवस्था से तो जर्मनी के उद्योग-धन्धे अपना प्रारम्भ करते हैं!

चूँकि जर्मनी अपने देश मे ही बहुत अच्छा माल तैयार करने लगा है, इसलिए फ्रांस और इंग्लैण्ड से आनेवाला माल हर साल कम होता जा रहा है। वह तैयार माल मे उनका मुक़ाबिला एशिया और अफरीका में

ही नहीं करता; बल्कि पेरिस और लन्दन मे भी करता है। फ्रान्स के अदूरदर्शी लोग भले ही इसका कारण फ्रेंकफोर्ट की संधि बतलाते रहे और इंग्लैण्ड के कारखानेदार जर्मनी की प्रतिद्वन्द्विता का कारण भले ही रेल-किराये का थोडा अन्तर बतलाते रहे, वे भले ही प्रश्नो के छोटे-छोटे पहलुओं को ही देखते रहें और बडी-बडी ऐतिहासिक बातों को छोडते रहे; परन्तु यह तो निश्चित ही है कि जो मुख्य-मुख्य उद्योग-धन्धे पहले इंग्लैण्ड और फ्रांस के हाथो मे थे, वे अब पूर्व की ओर जर्मनी में बढ़ गये हैं। जर्मनी कार्य-शक्ति से भरा हुआ एक नया देश था, वहाँ के मध्यम-वर्ग के लोग बुद्धिमान थे, और वे भी विदेश से व्यापार करके धनी बनना चाहते थे।

इधर जर्मनी फ्रांस और इङ्गलैंड की औद्योगिक अधीनता से मुक्त हो गया। वह अपना कपडा आप बनाने लगा, उसने अपनी मशीनें आप खडी करली, और वह वास्तव में सब प्रकार का माल बनाने लगा। उधर मुख्य-मुख्य उद्योग-धन्धे रूस मे भी उत्पन्न हो गये। रूस के उद्योग-धन्धों का विस्तार नया-नया होने के कारण बडा शिक्षाप्रद है।

१८६१ में जब रूस मे कृषक दासता का अन्त हुआ था, तब वहाँ प्राय. एक भी कारखाना नही था। मशीनें, रेलें, रेलवे-एंजिन, बढिया कपडा और वस्त्र-सम्बन्धी सामान आदि जो-कुछ आवश्यक होता था सब पश्चिमी यूरोप से आया करता था। पर उसके बीस साल बाद ही रूस में ८५,००० कारखाने कायम हो गये और रूस के तैयार माल का मूल्य चौगुना हो गया।

पुरानी मशीनरी को हटा कर नई लगा दी गई। अब रूस में प्रायः सारा फौलाद, तीन-चौथाई साधारण लोहा, दो-तिहाई कोयला, सारे रेलवे-एंजिन, रेल की गाडियाँ एवं पटरियाँ और प्राय: सारे जहाज वहीं तैयार हो जाते है।

अर्थशास्त्रियो ने तो लिखा था कि रूस देश बनाया ही इसलिए गया है कि वह केवल खेती करता रहे, परन्तु वह शीघ्र ही एक औद्योगिक देश बन गया। वह इङ्गलैण्ड से प्राय. कुछ भी माल नही मँगाता, और

जर्मनी से भी बहुत थोड़ा मँगाता है।

अर्थशास्त्री इन बातो का कारण आयात-निर्यात कर बताते हैं। फिर भी रूस मे बना हुआ सूती माल उसी क़ीमत पर बिकता है, जिस क़ीमत पर लन्दन में। पूँजी की न कोई मातृभूमि है, न कोई धर्म अथवा जाति। जर्मनी और इङ्गलैण्ड के पूँजीपतियो ने अपने-अपने यहाँ के इञ्जीनियरों और फोरमैनों की सहायता से रूस और पोलैण्ड में भी कारख़ाने क़ायम कर दिये, और वहाँ तैयार होनेवाला माल इंग्लैण्ड के बढ़िया-से-बढ़िया माल की टक्कर लेने लगा। यदि भविष्य में आयात-निर्यात-कर बन्द कर दिये जायं, तो उससे उद्योग-धन्धों को लाभ ही होगा। हाल ही मे ब्रिटेन के कारख़ानेदारों ने एक और ऐसा काम किया है, जिससे पश्चिम से आने-वाले सूती और ऊनी माल को और भी आघात पहुँचा। उन्होंने दक्षिण और मध्य रूस मे बेडफोर्ड की बढ़िया-से-बढ़िया मशीनरी लगा कर बड़े-बड़े ऊन के कारख़ाने क़ायम कर दिये। अब रूस को इंग्लैण्ड, फ्रॉस और आस्ट्रिया से सिर्फ बहुत बढ़िया कपड़ा या ऊनी माल मंगाने की ज़रूरत रहती है। अन्य माल उसी देश में निज के कारख़ानों और घरेलू धन्धों द्वारा तैयार हो जाता है।

प्रधान-प्रधान उद्योग-धंधे न केवल पूर्व दिशा की ओर ही अग्रसर हुए हैं, प्रत्युत वे दक्षिण के प्रायद्वीपो में भी बढ़ रहे है। १८८४ में ट्यूरिन (इटली) मे प्रदर्शनी हुई थी और उसी में इटली के तैयार माल की उन्नति स्पष्ट प्रकट होती थी। फ्रांस और इटली के मध्यमवर्गों में जो पारस्परिक द्वेष है उसका कारण भी औद्योगिक प्रतिद्वन्द्विता ही है। स्पेन भी औद्योगिक देश बनता जा रहा है। पूर्व में बोहेमिया एकदम बड़े महत्व का औद्योगिक केन्द्र बन गया है, जिसमे उन्नत मशीनरी और श्रेष्ठ वैज्ञानिक तरीको से काम होता है।

मुख्य-मुख्य उद्योग-धन्धो की उन्नति के विषय मे हम हंगरी का भी उदाहरण दे सकते हैं। परन्तु हम ब्रेज़ील का ही उदाहरण क्यों न लें? अर्थशास्त्रियो ने तो कह दिया था कि ब्रेज़ील को प्रकृति ने बनाया ही इसलिए है कि वह रुई उत्पन्न करे, उस कच्ची रुई को विदेशो मे निर्यात

करे, और बदले में यूरोप से तैयार कपडा मँगाया करे। वस्तुतः चालीस वर्ष पहले ब्रेज़ील मे सिर्फ नौ टूटे-फूटे कपडे के कारखाने थे, जिनमें ३८५ तकुए चला करते थे। आज उस देश मे १६० रुई की मिलें है, जिनमे १५,००,००० तकुए और ५०,००० कर्घे लगे हुए है तथा जिनके द्वारा ५० करोड गज़ कपडा प्रति वर्ष तैयार किया जाता है।

मेक्सिको भी यूरोप से कपडा नही मँगाता और अपने देश मे ही सफलतापूर्वक सारा सूती कपडा बना लेता है। यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका) ने तो यूरोप की सरपरस्ती को बिलकुल हटा दिया और अपनी औद्योगिक शक्तियो को बहुत अधिक विकसित और उन्नत बना लिया है।

परन्तु राष्ट्रीय उद्योगो के विशेषीकरण (specialization) के सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण भारतवर्ष का है।

विशेषीकरण का सिद्धान्त हम सबको ज्ञात है। यूरोप के बडे-बडे राष्ट्रों को उपनिवेशों की आवश्यकता हुआ करती है। उपनिवेश मातृदेश को—रुई, ऊन, खाद्य-पदार्थ, मसाले आदि—कच्चा माल भेजते है और मातृदेश उनको तैयार माल भेजने के बहाने अपना रद्दी माल, रद्दी मशीनें, रद्दी लोहा, और अपने उपयोग मे न आ सकने वाला सब सामान भेज देता है। इस माल का खर्चा तो कुछ भी नहीं, या बहुत ही कम पडता है; फिर भी उसके ऊंचे दाम वसूल हो जाते हैं।

यही वह सिद्धान्त था—और यही बात बहुत समय तक व्यवहार में आती रही। लन्दन और मैन्चेस्टर में तो बडी-बडी सम्पत्ति इकट्ठी होने लगी और भारतवर्ष का दिन-प्रतिदिन नाश होने लगा। लन्दन के भारतीय अजायबघर में वह अश्रुतपूर्व धन देखा जा सकता है, जिसे अंग्रेज व्यापारियों ने कलकत्ता और बम्बई में इकट्ठा किया था।

परन्तु अन्य अंग्रेज व्यापारियों और पूंजीपतियों ने यह सीधी-सी बात सोची कि दो या ढाई करोड पाउण्ड का माल दूर से मंगाने के बजाय भारतवासियों के लूटने का यही तरीका अच्छा होगा कि भारत मे ही सूती कपडा तैयार किया जाय।

प्रारम्भ मे इस प्रकार के अनेक प्रयोग असफल सिद्ध हुए। भारतीय बुनकर, जो अपने धन्धो मे कला-कुशल और विशेपज्ञ थे, कारख़ानो के जीवन के आदी न बन सके। लिवरपूल से भेजी हुई मशीनरी ख़राब थी। आबहवा का भी उचित ध्यान रखने की जरूरत थी। भारतवर्ष की नई परिस्थितियो पर अब तो अधिकार हो चुका है, परन्तु प्रारम्भ मे व्यापारियो को नई परिस्थिति के अनुकूल अपने को बनाने मे समय लगा। अब भारतवर्ष इंग्लैण्ड का काफी मज़बूत प्रतिद्वन्द्वी हो गया है।

भारत मे अब २०० से ज्यादा सूती कपडे की मिले है। उन मे २,३० ००० मजदूर काम करते है। ६०,००,००० तकुए और ८०,००० करघे है। ४० जूट की मिले है, जिनमे ४,००,००० तकुए हैं।* भारत हर साल चीन, डच पूर्वीय द्वीपो और अफ्रीका को लगभग अस्सी लाख पाउण्ड का वैसा ही सफेद सूती माल भेजता है, जैसा कि इंग्लैण्ड का विशेप प्रकार का माल होता था। इधर तो इंग्लैण्ड के मज़दूर प्राय. बेकार और मोहताज रहते है, और उधर भारत की स्त्रियाँ छः पेन्स (छ. आने) की रोजाना मजदूरी पर कपडा बुनती है और वह कपडा सुदूरपूर्व के देशो को भेजा जाता है। इंग्लैण्ड के दूरदर्शी कारख़ानेदार यह समझने लग गये है, कि अब वह दिन दूर नही है जब कि विदेशो के निर्यात के लिए कपडा बुननेवाले कारख़ानो के मजदूरो के लिए कोई काम शेष नही रहेगा। इसके अलावा, ऐसा भी प्रतीत होने लगा है कि अब भारत इंग्लैण्ड मे एक टन भी लोहा न मँगायगा। भारतवर्ष के कोयले और कच्चे लोहे को व्यवहारोपयोगी बनाने में प्रारम्भ मे जो कठिनाइयाँ थी वे अब हट गई है, और इंग्लैण्ड का मुकाबिला करनेवाले लोहा ढालने के कारख़ाने भारतीय समुद्र-तट पर खडे हो गये है।

उपनिवेश भी तैयार माल बनाने मे अपने मातृदेश का मुकाबिला

---

*ये समस्त अक यूरोपीय महासमर से पूर्व, सन् १९१०-११ के है। इसके पश्चात् उद्योग धन्धो ने आश्चर्यजनक उन्नति और विस्तार किया है। —अनुवादक।

कर रहे है—बीसवी सदी के अर्थशास्त्र पर केवल इसी बात का प्रभाव रहेगा।

भारतवर्ष भी तैयार माल क्यों न बनाये ? बाधा क्या हो सकती है ? यदि इसके लिए पूँजी की आवश्यकता का प्रश्न हो तो पूँजी तो ऐसी वस्तु है जो प्रत्येक ऐसे स्थान पर पहुँच सकती है, जहाँ के आदमी इतने गरीब हो कि उनको लूट कर अपना स्वार्थ-साधन किया जा सके। यदि ज्ञान एवं जानकारी का प्रश्न हो, तो ज्ञान तो राष्ट्रीय सीमाओं को लाँघ कर हर जगह पहुँच जाता है। यदि यन्त्रों और उद्योगों के जानकार श्रमिकों का प्रश्न हो, तो आज वह भी नही है। आजकल इंग्लैण्ड के कपडे के कारखानो मे अठारह-अठारह वर्ष से भी कम आयु के जो लाखो लडके-लडकियाँ काम कर रहे है भारत के श्रमिक उनसे कुछ कम नही हैं।

२

राष्ट्र के प्रधान-प्रधान उद्योग-धन्धो पर दृष्टिपात करने के बाद हमे कुछ विशेष शाखाओं पर भी निगाह डालनी चाहिए।

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे रेशमी माल प्रधानतः फ्रॉस में ही तैयार होता था। लियोन्स नगर रेशम के व्यवसाय की मंडी थी। पहले तो पक्का माल तैयार करने लिए कच्चा रेशम दक्षिण फ्रान्स से ही इकट्ठा किया जाता था। फिर थोडा-थोडा इटली, स्पेन, आस्ट्रिया काकेशस और जापान से भी मँगाया जाने लगा। १८७५ मे लियोन्स और उसके समीप के स्थान मे पचास लाख किलो (Kilos) कच्चे रेशम का कपडा तैयार किया गया था और उसमे से फ्रान्स का कच्चा रेशम सिर्फ चार लाख किलो था। परन्तु जैसे लियोन्स बाहर से मँगा-मँगा कर रेशम के कपडे बुन सकता था. वैसे ही स्वीजरलैण्ड. जर्मनी, रूस भी तो बुन सकते थे। फलत ज्यूरिच नगर के आस-पास के ग्रामो मे रेशम की बुनाई का काम होने लगा। बाले (Bale) नगर रेशम-व्यवसाय का बडा केन्द्र बन गया। काकेशियन सरकार ने जार्जियावासियो को उन्नत प्रणाली से रेशम के कीडे पालने और काकेशियावासियो को रेशम-बुनाई का

काम सिखाने के लिए मार्सेलीज़ से कुछ स्त्रियो और लियोन्स के कुछ कारीगरो को बुलाया और अपने यहाँ रक्खा। आस्ट्रिया ने भी ऐसा ही किया। इसके बाद जर्मनी ने भी लियोन्स के कारीगरों की सहायता से बड़े बडे रेशम के कारख़ाने खडे कर लिये। यूनाइटेड स्टेट्स ने भी पेटर्सन में अपने कारख़ाने बना लिये।

आज रेशम के व्यवसाय पर सिर्फ फ्रान्स का एकाधिकार नही रह गया है। अब रेशमी माल जर्मनी मे, आस्ट्रिया मे, यूनाइटेड स्टेट्स में और इंग्लैण्ड में बनता है, और अनुमान है कि फ्रान्स में जितना रेशमी कपडा खपता है उसमे से एक-तिहाई माल बाहर से आता है। शीतकाल में काकेशिया के किसान इतनी कम मजदूरी पर रेशमी रूमाल बुनकर तैयार कर देते हैं कि यदि लियोन्स के बुनकरों को वह मज़दूरी मिले तो वे भूखों मर जायँ! इटली और जर्मनी फ्रान्स को अपना रेशमी माल निर्यात करते है। लियोन्स सन् १८७० और १८७४ में ४६ करोड फ्रैन्क का रेशमी कपडा बाहर भेजता था, पर अब उससे आधा ही माल निर्यात करता है। वस्तुतः वह समय आ रहा है जब लियोन्स केवल उच्च श्रेणी का माल ही जर्मनी, रूस और जापान को, नये-नये नमूनों की भाँति, भेजने लगेगा।

यही अवस्था सब उद्योग-धन्धों की है। बेल्जियम के हाथ में कपडे के उद्योग का एकाधिकार नही रहा। कपडा जर्मनी में, रूस मे, आस्ट्रिया में और यूनाइटेड स्टेट्स में बनने लगा है। स्वीजरलैण्ड और फ्रेन्चज्यूरा के पास घडियो के उद्योग का एकाधिकार नही रहा। घडियाँ सब जगह बनने लग गई हैं। रूस मे आनेवाली शुद्ध शक्कर स्काटलैण्ड की विशेषता न रही; अब तो रूस की शुद्ध शक्कर उलटा इंग्लैण्ड मँगाता है। इटली के पास न तो कोयला है न लोहा, फिर भी वह अपने युद्ध के जहाज, और अपने स्टीमर जहाज़ो के एंजिन स्वयं निर्माण कर लेता है। रासायनिक वस्तुओं का उद्योग इंग्लैण्ड के एकाधिकार में नही रहा। गंधक का तेजाब और सोडा यूराल प्रदेश मे भी बनने लगा है। विंटरगृह के बने हुए स्टीम-एंजिन सब जगह प्रसिद्ध हो गये हैं। स्वीजरलैण्ड के

पास भी आजकल न तो कोयला है न लोहा, और न कोई ऐसा बन्दरगाह जिससे ये चीज़ें बाहर से मँगाई जा सकें। केवल उसके पास यन्त्रो और उद्योगो सम्बन्धी अच्छे-अच्छे शिक्षालय है, फिर भी वह इंग्लैण्ड से भी अच्छी और सस्ती मशीनरी बनाता है। इस प्रकार विनिमय (Exchange) के सिद्धान्त की समाप्ति हो जाती है।

और बातो की तरह व्यापार की प्रकृति भी निष्केन्द्रीकरण की ओर है।

सब राष्ट्र इसी बात को हितकर समझते है कि वे खेती के साथ-साथ सब प्रकार के कारख़ाने भी चलायें। जिस विशेषीकरण की अर्थ-शास्त्री लोग इतनी तारीफ किया करते थे, उससे बहुत से पूँजीपति धनाढ्य तो अवश्य हुए; परन्तु अब वह व्यर्थ है। प्रत्युत प्रत्येक प्रदेश और प्रत्येक राष्ट्र का लाभ इसी मे है कि वह अपना-अपना गेंहू, अपने अपने फल-फूल स्वय ही उत्पन्न करे और स्वयं अपने उपयोग का अधिकाश औद्योगिक माल तैयार कर लिया करे। यदि परस्पर सहयोग से उत्पत्ति को खूब बढ़ाना है, तो यह परिवर्तन करना ही पडेगा। इसी से मनुष्य-जाति की प्रगति होगी। विशेषीकरण तो अब प्रगति का बाधक हो गया है।

कारख़ानो के समीप रहकर ही कृषि अपनी उन्नति कर सकती है। जहाँ एक भी कारखाना खडा होता है वहाँ असंख्य प्रकार के विविध कारखाने उस के पास अवश्य खडे हो जाते हैं। अपने-अपने आविष्कारो से परस्पर सहायता और उत्तेजना देते हुए वे अपनी-अपनी उत्पत्ति को बढाते हैं।

३

वास्तव मे यह बहुत बडी मूर्खता है कि गेहूँ तो बाहर भेज दिया जाय और पिसा हुआ आटा बाहर से मँगाया जाय, ऊन तो बाहर भेजी जाय और उसका बुना हुआ कपडा मँगाया जाय। लोहा बाहर निर्यात किया जाय और लोहे की बनी मशीनरी मँगाई जाय। इस माल के लाने

ले जाने में समय और धन का नाश तो होता ही है, परन्तु और भी हानियाँ होती है। यदि देश के उद्योग-धन्धे उन्नत अवस्था मे न होगे तो उस की कृषि भी पिछडी हुई अवस्था मे रहेगी। यदि देश मे लोहे का तैयार माल बनाने के बडे-बडे कारखाने न होंगे, तो उसके अन्य सारे उद्योग-धन्धे अवनत अवस्था मे रहेगे ही। यदि तरह-तरह के उद्योग-धंधो मे देश की उद्योग और यन्त्र-सम्बन्धी योग्यता काम मे न लाई जायगी, तो वह योग्यता अवनत अवस्था मे ही पडी रहेगी।

आजकल सब प्रकार की उत्पत्ति का परस्पर एक-दूसरे से संबंध है। यदि मशीनरी न हो, यदि बडे-बडे आबपाशी के साधन न हो, यदि रेलें न हो और यदि खाद बनाने के कारखाने न हों, तो आजकल कृषि हो ही नही सकती। इस मशीनरी, इन रेलो, इन आबपाशी के एञ्जिनो आदि को स्थानीय परिस्थिति मे व्यवहारोपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि लोगों की आविष्कार-प्रवृत्ति और यन्त्रो सबन्धी कुशलता कुछ बढ़ाई जाय। परन्तु यदि फावडे और हल से ही लोग खेती करते रहेगे, तो उनकी आविष्कार की प्रवृत्ति और यान्त्रिक कुशलता सुषुप्त अवस्था मे ही पडी रहेगी।

यदि खेती अच्छी तरह से करनी है और जमीन से बहुत अच्छी फसलें प्राप्त करनी हैं, तो यह आवश्यक है कि खेतो के पास ही साधारण कारख़ाने, ढलाई के कारख़ाने और औद्योगिक फैक्टरियां खडी की जायं। अनेक प्रकार के धन्धों और तत्सम्बन्धी अनेक प्रकार की कुशलताओ के होने की बड़ी जरूरत है। उन सब धन्धो और कुशलताओं का लक्ष्य एक ही होना चाहिए। इन से ही वास्तविक प्रगति हो सकती है।

अब कल्पना कीजिए कि एक नगर या एक प्रदेश के—चाहे छोटा हो चाहे बडा—निवासी साम्यवादी क्रान्ति की तरफ पहली बार बढ रहे है।

कुछ लोग कहते हैं कि कोई भी परिवर्तन न होगा। खाने, कारख़ाने आदि व्यक्तिगत स्वामियो के हाथों से ले लिए जायेंगे और राष्ट्रीय या

पंचायती घोषित कर दिए जायंगे। प्रत्येक आदमी अपना-अपना काम पूर्ववत् करने लगेगा, और क्रान्ति सफल हो जायगी।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि यदि किसी बडे शहर में क्रान्ति हो जाय और श्रमिको के कब्जे में कारखाने, मकानात और बैंक आ जाय, तो इतने से ही वर्तमान उत्पत्ति बिलकुल बदल जायगी।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बन्द हो जायगा। बाहर से आने वाली भोजन-सामग्री भी बन्द हो जायगी। खाने-पीने और व्यवहार की चीजो का क्रय-विक्रय बन्द हो जायगा। उस अवस्था मे मजबूरन क्रान्ति करने वाले नगर या प्रदेश को अपनी जरूरत की चीजों की पूर्ति खुद करनी पडेगी और उत्पत्ति का प्रबन्ध करना पडेगा। यदि वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति स्वय न करेगा और न उत्पत्ति का पुनर्संगठन करेगा, तो उसका नाश अवश्य हो जायगा। यदि वह कर लेगा, तो उससे देश का आर्थिक जीवन बिलकुल ही बदल जायगा।

बाहर से आने वाली भोजन-सामग्री कम हो जायगी, खपत बढ़ जायगी। जो दस लाख नगरवासी विदेशी निर्यात के धन्धो में लगे थे वे बेकार हो जायंगे। बाहर से आने वाला विविध माल नियमित रूप से यथास्थान न आ पायगा, और शौक की चीजो का व्यवसाय कुछ समय के लिए रुक जायगा। इस अवस्था मे क्रान्ति के छः महीने बाद नगरवासी खाने को कहाँ से लायंगे?

हमारा ख़याल है कि जब पंचायती भंडारो की भोजन-सामग्री समाप्त हो जायगी, तब जनता खेती करके अन्न उत्पन्न करने का विचार करेगी। जब लोग समझ लेगे कि अपने शहर और उसकी हद के भीतर जितनी भूमि है, उसपर खेती करना, और खेती के साथ औद्योगिक उत्पत्ति करना आवश्यक है, उन्हें शौक की चीजों के धन्धे छोडने पडेंगे और रोटी की परम आवश्यकता की ओर ध्यान देना पडेगा।

शहरो के बहुसंख्यक निवासियो को खेती करनी पडेगी। वे उस तरह खेती न करेंगे जिस तरह आजकल के किसान करते है। ये बेचारे तो काम करते-करते जीर्ण हो जाते हैं, और मुश्किल से सालभर पेट भरने लायक़

अन्न पैदा कर पाते हैं, परन्तु वे उन नियमों से खेती करेंगे जिनसे थोड़े स्थान में घनी खेती होती है। जिन तरीक़ों को फल-फूल उत्पन्न करनेवाले कृषि-विशेषज्ञ अपने बाग़ में काम लाते हैं, उन्हीं तरीक़ों को वे लोग विस्तार से सारी कृषि पर काम लायंगे, और मनुष्य की ईजाद की हुई बढ़िया-से-बढ़िया मशीनरी से काम लेंगे। तथापि वे दबे हुए देहाती किसानों की तरह खेती न करेंगे। जिस व्यक्ति ने पेरिस में जवाहरात का धन्धा किया है वह कैसे उस ढंग को पसन्द कर सकता है? वे तो उससे भी अच्छे नियमों पर कृषि का संगठन करेंगे, और यह संगठन भविष्य में नहीं, बल्कि क्रान्ति के शत्रुओं से कहीं पराजित न हो जायँ इस भय से, तत्काल क्रांति के संग्राम के समय में ही करना पडेगा।

कृषि का काम बुद्धियुक्त ढङ्ग पर चलाना पडेगा। जिस तरह सौ वर्ष पहले केम्प डि मार्स में संघ के प्रीति-भोज (Feast of the Federation) के लिए लोगों ने काम किया था, उसी तरह लोग एक आनंददायक कार्य के लिए अपनी-अपनी टोलियाँ बनायँगे। वे वर्तमान समय के सारे अनुभवों का लाभ उठाते हुए प्रसन्नता से काम करेंगे। वह काम आनंद का काम होगा और इतना न किया जायगा कि अति हो जाय। उसकी योजना विज्ञान के अनुकूल होगी। मनुष्य औज़ारों को स्वयं ईजाद करेगा, और उनमें उन्नति करेगा। उसे सदा इस बात का अनुभव होता रहेगा कि वह समाज का एक उपयोगी व्यक्ति है।

वे लोग केवल गेहूं और जौ ही उत्पन्न न करेंगे। वे उन चीज़ों को भी उत्पन्न करेंगे जिनको वे पहले बाहर के प्रदेशों से मँगाते थे। जो ज़िले क्रांति का साथ न देंगे, वे भी क्राँतिकारियों के लिए 'बाहर के प्रदेश' हो सकते हैं। १७९३ और १८७१ की क्रांतियों में पेरिस के दरवाज़े के बाहर का प्रदेश भी पेरिस के साथ न था। वही उसका 'बाहर का प्रदेश' बन गया था। वार्साई के षडयंत्रकारियों ने जर्मनी की फौजें फ्रांस से बुलाकर जिस तरह लोगों को भूखों मारा था उसी तरह, अथवा उस से भी अधिक, ट्रोयज़ के गल्ले के सट्टेबाज़ों ने १७९३ और १७९४ में पेरिस के प्रजातंत्रवादियों को भूखों मारा था। क्रांति करनेवाले

नगर को इन 'विदेशवासियों' के बिना ही काम चलाना पड़ेगा। और काम चलाया भी जा सकता है। महाद्वीप के घेरे के समय, जब शक्कर की कमी पाई गई थी, तब फ्रांस ने चुकंदर की जड की शक्कर निकाली थी। पेरिसवासियों को जब बाहर से शोरा मिलना बंद हो गया, तो उन्होंने अपने तहखानो मे से शोरा निकाला। तब फिर आजकल जब कि विज्ञान का इतना विस्तार हो गया है, क्या हम लोग अपने पूर्वजों से पीछे रहेंगे ?

क्रांति का अर्थ प्रचलित राजनैतिक पद्धति का केवल परिवर्तन हो जाना ही नहीं है, उससे कुछ अधिक है। क्रांति से मनुष्य की बुद्धिमत्ता जाग्रत हो जाती है, आविष्कार की प्रवृत्ति दसगुनी और सौगुनी बढ जाती है। उस के द्वारा नये विज्ञान का अरुणोदय होता है। उसके द्वारा लापलेस, लेमार्क लेवालशे जैसे मनुष्यो के विज्ञान का प्रभात होता है। जितना परिवर्तन मनुष्यों की संस्थाओ मे होता है, उतना ही और उससे भी अधिक परिवर्तन मनुष्यो के मन और बुद्धि मे होता है।

आश्चर्य है कि, फिर भी, कुछ अर्थशास्त्री लोग यह कहते है कि 'क्रांति हो जाने' के बाद लोग पूर्ववत् कारख़ानों मे काम करने लगेंगे। वे समझते है कि क्रान्ति करना ऐसा ही है, जैसा जङ्गल की सैर के बाद घर को लौट आना। पहले-पहले तो जब मध्यमवर्गीय संपत्ति पर कब्ज़ा किया जायगा तभी कारखाने, जहाज़ी अड्डे और फैक्टरियो के सारे आर्थिक जीवन को पूर्णत. नये तरीके से सङ्गठित करना ज़रूरी हो जायगा।

क्रांति अवश्य इस प्रकार से काम करेगी। यदि पैरिस साम्यवादी क्रांति के समय, एक या दो वर्ष. मध्यमवर्गीय शासन के समर्थक लोगों द्वारा दुनिया से अलग कर दिया जाय, तो वहाँ जो लाखो विद्या-बुद्धि वाले लोग होंगे वे बाहर की सहायता लिये बिना ही सूर्य. वायु और पृथ्वी की शक्तियों से ही काम चलाकर बता देंगे। मनुष्य का मस्तिष्क कितने आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है वह सब करके बता देंगे।

हम देख सकेंगे कि परस्पर सहयोग देते हुए और क्रांति की भावना से भरे हुए वहाँ के लोग विविध व्यवसायो को खडे कर लेंगे। उन

व्यवसायों से लाखों विद्या-बुद्धि-युक्त मनुष्यों के लिए भोजन, वस्त्र, मकानात का पूर्ण प्रबन्ध हो जायगा और शौक तथा विलास की सामग्री भी प्राप्त हो सकेगी।

हमें बहुत से किस्से-कहानियों के द्वारा इस बात को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। हमें इसका पूरा निश्चय है। इस विषय के अनेक प्रयोग किये जा चुके हैं और वे व्यावहारिक माने जाने लगे है। यदि क्रांति के प्रयत्न सफल हो, लोगो की आत्माओ मे क्रांति की भावना हो और जनता मे अपनी स्वाभाविक प्रेरणा हो, तो अबतक के जितने प्रयोग सफल हो चुके हैं, उन से ही उपर्युक्त बाते कार्यान्वित की जा सकती हैं।

: १७ :

कृषि

१

राजनैतिक अर्थशास्त्र के समस्त निष्कर्ष एकमात्र इस मिथ्या सिद्धांत पर स्थित हैं कि मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित होकर ही अपनी उत्पादन शक्ति को बढाता है। लोग इस सिद्धांत को राजनैतिक अर्थशास्त्र का एक दोष बताते है।

वस्तुत: यह दोषारोपण बिलकुल सत्य है। जब-जब ऐसा युग आया जिसमे मनुष्यों के हृदय मे सबके कल्याण की भावना प्रबल रही और जिसमे स्वार्थ-साधन का विचार न्यूनतम रक्खा गया, तब-तब ही महान् औद्योगिक अन्वेषण और महान् औद्योगिक प्रगति हुई। विज्ञान के बडे-बडे अन्वेषको और आविष्कारकों के हृदय मे सबसे प्रधान लक्ष्य यही था कि मनुष्यजाति अधिक स्वतन्त्र हो। यदि वाट, स्टीफ़नसन, जेकर्ड आदि आविष्कारको को इस का आभासमात्र मिल जाता कि जिस काम के लिए वे रात-रात जागते हैं उसके कारण भविष्य मे श्रमजीवियो की बड़ी दुर्दशा हो जायगी, तो निश्चय ही उन्होंने अपने डिज़ाइन जला

दिये होते और नमूने तोड-फोड दिये होते।

राजनैतिक अर्थशास्त्र का और भी एक मूल सिद्धांत है और वह भी इतना ही झूठा है। सारे अर्थशास्त्री अप्रकटरूप से यह मानते है कि किसी-किसी उद्योग मे अति उत्पत्ति हो जाती है, फिर भी वे कहते हैं कि समाज की उत्पत्ति कभी इतनी काफी नही हो सकती कि सबकी आवश्यकताये पूरी हो सके। और, इसलिए, ऐसा समय कभी नही आ सकता जब मज़दूरी या वेतन पाने के लिए किसी-न-किसी को दूसरे की मेहनत न करनी पडे। अर्थशास्त्रियो के सारे उसूल और 'नियम' इस सिद्धात पर निर्भर हैं।

परन्तु यह निश्चय है कि जिस दिन कोई सभ्य समाज इस बात की तलाश करेगा कि सबकी आवश्यकताये क्या क्या है और हमारे पास उनकी पूर्ति के साधन कितने है उसी दिन उसे मालूम हो जायगा कि यदि उसे यह ज्ञान हो कि सच्ची आवश्यकताओं की पूर्त्ति के साधनो को किस तरह काम मे लाया जाय तो सबकी आवश्यकताओ की पूर्त्ति अवश्य हो सकती है। कृषि-संबंधी आवश्यकताये और औद्योगिक आवश्यकताये दोनो की पूर्त्ति, भली प्रकार से, वर्तमान साधनो के द्वारा ही हो सकती हैं।

सबकी औद्योगिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति हो सकती है, इस बात का विरोध तो कोई कर ही नहीं सकता। जिन तरीको से आजकल कोयला और कच्चा लोहा निकाला जाता है, फौलाद प्राप्त करके उसकी चीजे बनाई जाती है, बडे पैमाने पर कपडा आदि माल तैयार किया जाता है, उसका सब अध्ययन करके यह कहा जा सकता है कि अब भी वर्त्तमान उत्पत्ति को चारगुना या इससे भी अधिक बढा सकते है। परन्तु इन तरीको का प्रयोग आजकल के काम के घंटो को कम करने में किया जाना चाहिए।

पर हम तो इससे एकदम और आगे बढते है। हमारा कथन है कि कृषि की भी ठीक यही अवस्था है। जिस तरह उद्योग-धन्धो वाले अपनी उत्पत्ति को, चौगुना ही नही, दसगुना बढा सकते है उसी तरह कृषि

करने वाले भी आज अपनी उत्पत्ति को, चौगुना ही नहीं, दसगुना बढ़ा सकते है। ज्योंही उन्हे ऐसा करने की आवश्यकता प्रतीत हो, ज्योंही पूँजीवादी सङ्गठन के स्थान पर साम्यवादी सङ्गठन स्थापित हो जाय, त्यों ही वे ऐसा करके दिखा भी सकते हैं।

जब कभी कृषि का नाम आता है, हमारे सामने एक ऐसे किसान का चित्र आ खडा होता है जो कमर झुकाए हुए हल चला रहा है, अण्ट-शण्ट तरीको से खराब बीज खेत मे बो रहा है और ऋतु के भरोसे यह प्रतीक्षा करता हुआ बैठा रहता है कि देखे कितना उत्पन्न होता है और कितना नही। खेती का नाम आते ही एक ऐसे परिवार का चित्र सामने आजाता है जो सुबह से लेकर शाम तक कठोर श्रम करता है और जिसे बडी मुश्किल से मामूली बिस्तर और सूखी रोटी ही प्राप्त हो पाती है।

जो कृषक-समुदाय इस दयनीय अवस्था को प्राप्त हो गया है उसके लिए समाज यदि अधिक-से-अधिक कुछ करना चाहता है तो यही कि उनका टैक्स या लगान कुछ कम कर दिया जाय। परन्तु बडे-से-बड़े समाज-सुधारक की कल्पना मे भी यह बात नही आती कि किसान भी किसी दिन अपनी कमर सीधी करके आराम का वक्त पा सकता है और वह भी रोज़ कुछ घटे काम करके, अपने परिवार के पोषण के लिए ही नहीं, बल्कि कम-से-कम सौ अन्य मनुष्यो के पोषण के लायक भी अन्न उत्पन्न कर सकता है। साम्यवादी लोग भी जब भविष्य की अधिक-से-अधिक सुन्दर कल्पना करते हैं, तो वे अमेरिका की विस्तृत खेती से आगे नही जा पाते। पर वास्तव मे वह तो कृषिकला की बाल्यावस्था ही है।

परन्तु विचारशील किसान के विचार अधिक विस्तृत है। उसकी कल्पनायें अधिक बडे पैमाने की है। वह कहता है कि एक परिवार के लायक फल और शाक एक एकड से भी कम भूमि मे उत्पन्न हो सकता है। जितनी जगह मे पहले एक पशु के लायक घास उत्पन्न होती थी उसमें अब पच्चीस पशुओ के लायक हो सकती है। उसका विचार है कि कृषि की मिट्टी ही अलग तैयार की जाय, ऋतु और जल-वायु के विपरीत

भी फसल पैदा की जाय और छोटे-छोटे पौधों के आस-पास की वायु और ज़मीन दोनो मे नकली गरमी पहुँचाई जाय। विचारशील किसान का अनुमान है कि जितनी उत्पत्ति पहले पचास एकड भूमि मे होती थी उतनी उत्पत्ति वह एक एकड से ही कर सकता है। और उसके लिए भी अतिपरिश्रम करने की जरूरत न होगी, बल्कि काम के घण्टे भी कम कर दिये जायंगे। प्रसन्नता और आनन्द के साथ जितना समय दिया जा सकता है यदि केवल उतना ही समय खेती के काम के लिए दिया जाय, तो सब के खाने लायक पैदा किया जा सकता है।

कृषि-कला का रुख़ आजकल इसी तरफ है।

कृषि के रसायन सम्बन्धी सिद्धान्त को बनाने वाला लीबिग और अन्य वैज्ञानिक लोग तो केवल सिद्धान्तो मे फँसे रहे और ग़लत रास्ते पर जा पहुँचे, परन्तु अपढ किसानो ने समृद्ध के नये-नये द्वार खोल दिये। पेरिस, ट्रोयज़, रुएन नगरो और इङ्गलैण्ड और स्काटलैण्ड देशों के बाग़वानो ने, फ्लैडर्स और लोम्बार्डों के खेतिहरो ने, जर्सी, गर्न्सी के किसानो ने, और सिली द्वीपो के फार्मवालो ने कृषि-सम्बन्धी ऐसे-ऐसे आश्चर्यजनक काम कर दिखाये है कि सहसा उन पर विश्वास नहीं होता। इन्हे देख कर भविष्य मे कृषि की उत्पत्ति के बहुत अधिक बढ जाने की आशा होती है।

अबतक एक किसान परिवार को ज़मीन की उपज से ही अपना मामूली गुजारा करने के लिए सत्रह से बीस एकड तक ज़मीन की जरूरत हुआ करती थी, परन्तु यदि घनी खेती के उपायों को काम मे लाया जाय तो एक परिवार की आवश्यकता-पूर्ति और शौक और विलास तक की पूर्ति के लिए कितनी ज़मीन की कम-से-कम ज़रूरत होगी, यह तो कहा ही नही जा सकता।

आज तो कृषि-सम्बन्धी विज्ञान के तरीके बहुत उन्नत हो चुके हैं, परन्तु आज से बीस साल पहले ही यह कहा जा सकता था कि ग्रेट ब्रिटेन मे ही इतनी उत्पत्ति हो सकती है कि उससे तीन करोड जनता अच्छी

तरह निर्वाह कर सकती है और बाहर से कुछ मगाना न पडे। पर अब तो हाल में ही फ्रॉस मे, जर्मनी मे और इङ्गलैण्ड मे कृषि-विज्ञान ने बहुत उन्नति करली है, और अनुमान है कि कृषि की उत्पादन-शक्ति बहुत बढ गई है। कई जगह हलकी जमीनो पर भी उत्पत्ति बहुत हुई है और यदि उस प्रकार से उत्पत्ति की जाय तो ग्रेट ब्रिटेन की भूमि पर इतना अन्न उत्पन्न हो सकता है कि वह पॉच या छ. करोड से भी अधिक मनुष्यो के लिए काफी होगा।

कम-से-कम इतना तो हम प्रमाणित ही मानते हैं कि यदि पेरिस और सीन एवम् सीन-एट-ओइज् के दोनों प्रदेश मिलकर अपना स्वावलम्बी साम्यवादी पञ्चायती सङ्गठन बनाना चाहे और वहॉ सब आदमी शारीरिक श्रम करें तो वे सफलतापूर्वक ऐसा कर सकते हैं। चाहे सारी दुनिया उनको भोजन-सामग्री देने से इन्कार कर दे, फिर भी वे अपनी आवश्यकता का सारा अन्न, मांस और शाक ही नहीं, बल्कि सब के लिए ऐसे फल आदि वस्तुये भी काफी परिमाण मे उत्पन्न कर सकते है जो आज शाक की वस्तुये समझी जाती हैं।

इसके साथ ही हमारा यह भी दावा है कि जितना श्रम इनकी भोजन-सामग्री के लिए आवर्ने और रूस में अन्न पैदा करने पर, थोडा बहुत सब जगह शाक पैदा करने पर और दक्षिण मे फलो को उत्पन्न करने पर विस्तृत कृषि-पद्धति से होता है, उस अवस्था मे इससे बहुत कम श्रम में काम चल जायगा।

हम किसी प्रकार के विनिमय को बन्द करना नही चाहते। न हम यह चाहते है कि प्रत्येक देश मे जो वस्तु साधारणतः उत्पन्न नही हो सकती उसे वहॉ कृत्रिम उपायो से ही उत्पन्न किया जाय। परन्तु हम इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि विनिमय के उसूल को जिस तरह से लोग आज मानते हैं उसमे भारी और अद्‌भुत अतिशयोक्ति है। विनिमय प्रायः निरर्थक और हानिकारक भी होता है। इसके अतिरिक्त हमारा तो कहना यह है कि लोगों ने कभी इस बात पर विचार ही नहीं किया कि दक्षिण के अंगूर पैदा करने वालों और रूस और हंगरी के अनाज

पैदा करनेवालो को कितना अधिक श्रम करना पडता है। यह श्रम बहुत कम हो जाय, यदि विस्तृत कृषि की वर्त्तमान पद्धति को छोड कर घनी खेती की पद्धति को अपनाया जाय।

२

जिन उदाहरणों के आधार पर हमारा कथन है, उन सब को यहाँ उद्धृत करना असंभव है। जो पाठक इस विषय में अधिक जानना चाहते हो वे मेरी दूसरी पुस्तक " Fields, factories, and workshops" को पढले। जो पाठक इस विषय में रुचि रखते है उनसे हमारी सिफारिश है कि वे उन कई अच्छी-अच्छी पुस्तको को जो फ्रॉस आदि देशों से निकली हैं, पढले। बल्कि शहरों के रहने वालों को तो अभी तक इस सम्बन्ध मे ज़रा भी वास्तविक ज्ञान नही कि कृषि ने अबतक कितनी उन्नति करली है। उन्हे हमारी सलाह है कि वे शहरो के आसपास के फल-फूल तथा शाक के बाग जाकर देखे। वे बागवालो से जाकर सिर्फ़ जिज्ञासा करें और स्वयं निरीक्षण करे तो उन्हें मालूम होगा कि दुनिया बदल गई है। तब वे अनुमान कर सकेंगे कि बीसवी शताब्दी के यूरोप की खेती कितनी बढ सकती है। यदि हमे यह रहस्य मालूम हो जाय कि जो कुछ हमारी आवश्यकताए है वे सब ज़मीन से पूरी की जा सकती हैं तब तो साम्यवादी क्रॉति को बहुत बडा बल मिल जायगा।

कुछ ऐसी बातों का यहाँ उल्लेख किया जाता है जिनसे पाठकों को विदित होगा कि हमारा कथन किसी प्रकार भी अतिशयोक्तिपूर्ण नही है, पर उसके पहले हम कुछ सूचनाये दे देना चाहते है।

यह तो सबको ज्ञात है कि यूरोप की खेती की अवस्था आजकल बहुत बुरी है। किसान को अगर भूमिपति नहीं लूटता तो उसको लूटने वाला राज्य मौजूद है। किसान पर अगर राज्य ने कर कम कर रक्खा है, तो किसी कर्जा देने वाले ने उसे अपना गुलाम बना रक्खा है। शीघ्र ही उसकी ज़मीन किसी पूंजीपति कम्पनी के कब्जे में चली जाती है और वह केवल लगान देनेवाला कृपक रह जाता है। भूमिपति. राज्य और

साहूकार सब लगान, टैक्स और ब्याज के रूप मे उसे लूटते रहते है। उस पर लगनेवाली रक़म प्रत्येक देश मे भिन्न-भिन्न है, परन्तु उसकी सारी उत्पत्ति के चौथाई हिस्से से तो कही भी कम नही है और बहुधा आधे हिस्से तक पहुँच जाती है। फ्रान्स और इटली मे तो कल तक किसान अपनी कुल उत्पत्ति मे से ४४ प्रतिशत हिस्सा राज्य को दिया करता था।

इतना ही नही, भूस्वामी और राज्य का हिस्सा सदा बढ़ता ही जाता है। ज्योही किसान अपने परिश्रम, आविष्कार या उत्साह से अपनी उत्पत्ति कुछ बढ़ा लेता है त्योही उसे भूस्वामी, राज्य और साहूकार को अपनी आमदनी का उतना ही अधिक हिस्सा देना पडता है। यदि उस की फ़सल प्रति एकड दुगुनी या तिगुनी पैदा होने लगे, तो लगान भी दुगुना या तिगुना हो जायगा। राज्य के कर भी दुगुने या तिगुने हो जायँगे और यदि क़ीमते भी बढ़ जायँ तो राज्य अपना कर और भी बढ़ा देगा। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि किसान सब जगह रोज़ बारह से लेकर सोलह घंटे तक काम करता है। ये तीनो लुटेरे उससे उसकी सारी बचत को लूट लेते हैं। जिस बचत के पैसे से वह अपन खेती मे कुछ उन्नति करता, वह इस प्रकार सारी-की-सारी लूट ली जाती है। इसी कारण कृषि इतने धीरे-धीरे प्रगति कर रही है।

जब कभी इन तीनो महा-प्रभुओ के बीच कोई झगडा हो जाता है, तो किसी अपवाद-स्वरूप परिस्थिति मे या किसी भूले-भटके प्रदेश मे ही किसान कभी-कभी कुछ उन्नति कर लेता है। आमदनी का जितना हिस्सा वह कारख़ानेदार को तैयार माल के लिए दिया करता है उसका तो हमने ज़िक्र ही नही किया। मशीन, फावडा और रासायनिक खाद लागत से तिगुनी या चौगुनी क़ीमत पर उसको बेचा जाता है। इसके अतिरिक्त बीच वाले लोग तो खेती की उपज मे से बड़ा हिस्सा पाते ही हैं।

इसी कारण इस आविष्कार और उन्नति के युग मे, खेती मे समय-समय पर और छोटे-छोटे क्षेत्रो मे ही कुछ सुधार हुआ।

जिस प्रकार बडे-बडे रेगिस्तानों मे कहीं-कहीं तराई का सुन्दर प्रदेश हुआ करता है, सौभाग्य से उसी प्रकार कुछ ऐसे चेत्र बच गए हैं जिन्हें लुटेरों ने कुछ समय के लिए छोड दिया था। ऐसे ही कुछ चेत्रो में घनी खेती से मनुष्य-जाति ने आश्चर्यजनक कार्य कर दिखलाए है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

अमेरिका के मैदानो मे साधारणत प्रति एकड २४४ से लेकर ४८० सेर* तक गेहूँ की उपज होती है, और कभी-कभी सूखा पड जाने से यह भी कम हो जाती है। परन्तु उसी प्रदेश मे ५०० आदमी आठ महीने काम करके, ५०,००० मनुष्यो के लिए साल भर का अन्न उत्पन्न कर लेते हैं। पिछले तीन वर्षों में जो उन्नति हो चुकी है उसके कारण एक मनुष्य के वर्ष भर (३०० दिन) के श्रम से इतना गेहूँ पैदा होता है कि उसका आटा शिकागो शहर के २५० आदमियो के वार्षिक भोजन के लिए काफी होता है। शारीरिक श्रम की बहुत बचत करके यह परिणाम प्राप्त किया गया है। उन बडे-बडे मैदानों मे हल चलाना, फसल काटना और अनाज निकालना सारा काम प्राय सैनिक ढग से होता है। व्यर्थ का इधर-उधर घूमना नहीं होता और न समय ही नष्ट किया जाता है। सारा कवायद की भाँति नियमपूर्वक होता है।

यह पद्धति बडे पैमाने पर विस्तृत-कृषि की है। प्रकृति के द्वारा भूमि का उपयोग तो किया जाता है, पर भूमि को सुधारने की कोशिश नहीं की जाती। जमीन में से भरपूर उपज लेने के बाद वे उसे वैसा ही छोड देते है। फिर किसी दूसरी नई ज़मीन की तलाश करते हैं और उस ज़मीन से भी अधिक-से-अधिक उपज लेकर उसे जीर्ण कर देते है। परन्तु "घनी" खेती की भी पद्धति है। वह आजकल मशीनरी से की जाती है। और उसका प्रचार और भी बढेगा। घनी खेती का यह उद्देश्य है कि थोडी जमीन को अच्छी तरह कमाया जाय, खूब खाद डाली जाय, उसको

---

* मूल पुस्तक में बुशल मे हिसाब दिया है। हमने ३२ सेर का बुशल मानकर सेरो मे हिसाब दिया है।

सुधारा जाय, काम को अधिक केन्द्रीभूत किया जाय, और उसमे से अधिक से-अधिक उत्पत्ति प्राप्त की जाय। दक्षिण फ्रान्स मे और पश्चिमी अमेरिका के उपजाऊ मैदानो मे खेती करने वाले लोग विस्तृत-कृषि की पद्धति से फ़ी एकड ३५२ से लेकर ४८० सेर तक की औसत उपज कर लेते है। परन्तु उत्तर फ्रान्स मे घनी खेती के द्वारा नियमपूर्वक फ़ी एकड ११४८ सेर, १७६६ सेर, और कभी-कभी १६२० सेर तक, उपज कर लेते हैं। और हर साल इस पद्धति का प्रचार अधिकाधिक बढ़ रहा है। इस प्रकार एक मनुष्य की वार्षिक आवश्यकता की वस्तुएं चौथाई एकड से भी कम ज़मीन मे उत्पन्न हो जाती है।

खेती जितनी ही अधिक घनी की जायगी काम का समय भी उतना ही कम लगेगा। खेती मे जो प्रारम्भिक काम होता है, ज़मीन सुखाने और कंकड-पत्थर निकालने आदि भूमि-सुधारने का जो काम होता है, वह मनुष्य नही करता। वह मशीन से हो जाता है और न उसे हर बार करने की ज़रूरत होती है। ऐसे कार्य से फ़सल दूनी हो जाती है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि यदि ज़मीन मे व्यर्थ घास-फूस न उगने दिया जाय, तो खाद दिए बिना भी साधारण ज़मीन हर साल अच्छी फ़सल देती है। हर्टफ़ोर्डशायर मे राथमस्टेड नामक स्थान पर लगातार चालीस वर्ष तक इसी तरह फसले की गई है।

परन्तु कृषि के विषय मे हमे कोई अतिशयोक्तिपूर्ण कहानी लिखने की आवश्यकता नही है। हम इतना ही मान लेते हैं कि प्रति एकड १४०८ सेर की उत्पत्ति हो सकती है। इसके लिए बहुत बढ़िया ज़मीन की भी ज़रूरत नही है, केवल बुद्धि-पूर्वक कृषि करने की आवश्यकता है। इसीसे अद्भुत परिणाम निकलते है।

सीन और सीन-एट-ऑइज़ के दोनो प्रदेशो में ३६ लाख निवासी रहते है। उन्हे साल-भरके खाने के लिए ७०४० सेर से कुछ कम अनाज की आवश्यकता होती है। तो उतनी फ़सल प्राप्त करने के लिए उन्हे ४,६४,२०० एकड ज़मीन मे खेती करने की ज़रूत होगी। और इनके पास की कुल भूमि तो १५,०७,२०० एकड है। वे फावडो से तो खेती

करेंगे नहीं। उसमे समय बहुत लगेगा—प्रत्येक एकड पर ५-५ घंटे के १६ दिनों के श्रम की आवश्यकता होगी। यह अच्छा होगा कि सदा के लिए एक ही बार भूमि सुधार ली जाय। गीली भूमि पानी निकाल कर सुखा ली जाय, ऊंची-नीची भूमि समान कर ली जाय। और कंकड-पत्थर निकाल दिये जायें। ज़मीन की इस तैयारी के काम मे यदि पॉच-पॉच घंटे के ५० लाख दिन भी लेगे तो भी लगा देने चाहिएँ। प्रत्येक एकड़ पर औसत १० श्रम-दिवस का होगा।

स्टीम-डिगर मशीन से ज़मीन जोती जायगी, और उसमे प्रत्येक एकड पर १ दिन लगेगा। फिर दुहरा-हल चलाया जायगा और उसमे प्रति एकड १ दिन और लगेगा। अण्ट-शण्ट तरीके से बीज न बोकर भाप से बोया जायगा और इधर-उधर फेकने के बजाय सीधो कतारो मे डाला जायगा। यदि ठीक हालत मे काम किया जाय तो प्रति-एकड पॉच-पॉच घण्टे के १० दिन भी न लगेगे। परन्तु तीन-चार वर्ष अच्छी तरह जुताई के लिए यदि १०० लाख दिन लगा दिये जायँगे, तो नतीजा यह होगा कि आगे इससे आधे समय काम करने से ही प्रति एकड १४०८ सेर से लेकर १७६० सेर तक उपज हो जाया करेगी।

इस प्रकार ३६ लाख जनता को भोजन प्राप्त करने के लिए १५० लाख श्रम दिन लगेगे। और यह काम भी ऐसा होगा कि उसके लिए न तो बहुत भारी मेहनत करने की ज़रूरत होगी और न इस बात की जरूरत होगी कि उन आदमियो ने पहले खेती का काम किया है। जो लोग खेती के जानकार होगे, वे काम बता देगे और बॉट देगे। शहर के रहने वाले स्त्री और पुरुष तो कुछ घटे मे ही मशीने चलाना सीख जायँगे और खेती के काम मे भाग लेने लगेगे।

हम जानते है कि पेरिस जैसे शहर मे, ऊंचे वर्गों के बेकारो को छोड कर, केवल विविध व्यवसायो के श्रमजीवी प्रायः सदा १,००,००० की संख्या मे बेकार बैठे रहते हैं। और इतने आदमी, जिनकी शक्ति वर्तमान समाज-सगठन में व्यर्थ नष्ट होती रहती है, बुद्धि-पूर्वक खेती करके दोनों प्रदेशों के ३६ लाख निवासियों के खाने का सारा अन्न

उत्पन्न कर सकते हैं।

हम फिर कहते हैं कि यह केवल स्वप्न की बात नहीं है, बल्कि हमने तो अभी वास्तविक घनी खेती का जिक्र ही नहीं किया है। मिस्टर हैलेट ने तीन वर्ष प्रयोग करके देखा है कि एक गेहूं के दाने से ५००० या ६००० और कभी-कभी दस हजार दाने तक भी पैदा हो जाते हैं। इस हिसाब से पॉच व्यक्तियो के एक परिवार के लिए १२० वर्गगज भूमि मे खाने लायक गेहूं पैदा हो सकता है। परन्तु इस बात को हमने कभी नहीं लिया है। हमने तो केवल वही उदाहरण दिये हैं जो फ्रान्स, इंग्लैण्ड, बेल्जियम आदि देशो के बहुसंख्यक किसान अभी तक कर चुके हैं। बडे पैमाने पर जो अभी तक नतीजा हासिल किया जा चुका है, उसके अनुभव और ज्ञान के द्वारा आगे खेती की जा सकती है।

परन्तु यदि क्रान्ति न होगी तो इस प्रकार की खेती न कल की जा सकती है, न परसो। क्योकि इससे भूमि-पतियो और पूजी-पतियो का स्वार्थ नही है। और जिन किसानो का इसमे लाभ है उनके पास न इतना ज्ञान है, न इतना धन है, और न इतना समय ही है कि वे इस ओर प्रयत्न करे।

आज का समाज इस अवस्था तक नही पहुँचा है। परन्तु जब पेरिसवासी अराजक पंचायत की घोषणा कर देंगे तब वे शौकीनो के खेल-खिलौने बनाते न रहेगे (ये तो अब वीएना, वारसा और बर्लिन मे भी बनने लगे हैं) और न भूखो मरने की ही अवस्था को बुला लेंगे, पर अपने-आप आवश्यकता से प्रेरित हो कर इस ढंग से कृषि करने लगेंगे।

इसके अलावा, मशीनरी की सहायता से खेती करने का काम शीघ्र ही सब से अधिक आकर्षक और सबसे अधिक आनन्द-प्रद धन्धा बन जायगा।

लोग कहेंगे कि "अब ज़ेवरो और गुडियो के से रग-विरगे कपडों की ज़रूरत नही है। अब समय आगया है कि श्रमिक लोग अपनी शक्ति कृषि मे लगाएँ और शहर के कारखानो मे जिस उत्साह को, प्रकृति और जीवन के जिस आनन्द को, वे खो चुके हैं उसकी प्राप्ति का पुनः

प्रयत्न करे।

मध्य-काल मे स्वीज़रलैण्ड-वासियो ने सरदारो और राजाओ की शक्ति को उलट दिया था। पर इसका कारण यह नही था कि उनके पास तोपे थी। बल्कि उनके पास पहाड़ी चरागाहे और भूमियाँ थी। आधुनिक कृषि की सहायता से कोई भी क्रान्ति करने वाला नगर सारी मध्यमवर्गी शक्तियों से अपने को स्वतन्त्र कर सकता है।

३

यह तो हम देख चुके है कि किस प्रकार पेरिस के आसपास के दोनों प्रदेशो के ३६ लाख निवासी केवल अपनी एक-तिहाई ज़मीन को जोतकर यथेष्ट अन्न प्राप्त कर सकते है। अब यह देखना चाहिए कि पशुओं का भी कोई प्रबन्ध हो सकता है या नही।

इंग्लैण्ड वाले मास अधिक खाते है। वहाँ बड़ी उम्र के लोगो का औसत हरसाल फी आदमी २२० पौण्ड से कुछ कम पडता है। यदि यह मान ले कि सब लोग बैल का ही मास खाते है तो इतना मांस एक बैल का एक-तिहाई हिस्सा हुआ। ५ व्यक्तियो के लिए, जिसमे बच्चे भी सम्मिलित है, हर साल एक बैल आजकल भी काफी होता है। ३६ लाख निवासियो के लिए लगभग ७ लाख पशु साल भर मे लगेगे।

आजकल जहाँ चरागाहों की पद्धति है वहाँ ६,६०,००० पशुओं के पेट भरने के लिए कम-से-कम ५० लाख एकड जमीन चाहिए। इससे प्रत्येक पशु पर ८ एकड का औसत पडता है। परन्तु घास वाले मैदानों में, जहाँ फव्वारों से थोडा-थोडा पानी छिडका जाता है (जैसा कि हाल में ही फ्रान्स के दक्षिण-पश्चिम भाग में हजारो एकड भूमि पर किया गया है) वहाँ १२॥ लाख एकड जमीन ही काफी होती है। परन्तु यदि घनी खेती की जाय और पशुओं की चरी के लिए चुकन्दर की जड काम में लाई जाय तो उससे भी चौथाई जमीन, अर्थात केवल ३,१०,००० एकड ज़मीन काफी होगी। फिर भी यदि हम मकई उगाएँ और अरब-वासियो की तरह उसे ताजी दबा कर पशुओं के लिए रख छोडें तो

हमे चारे के लिए केवल २,१७,५०० एकड ज़मीन ही चाहिए।

मिलन, (इटली) शहर के आस-पास शहर की गन्दी मोरियो का पानी खेतो मे दिया जाता है, और वहाँ २२,००० एकड पर चरी उगाई जाती है। उसमे फी एकड २ या ३ पशुओं के लायक चरी का औसत पडता है। कुछ अच्छे-अच्छे खेतो मे तो औसतन १० एकड मे १७७ टन * तक सूखा चारा हुआ है, जो ३६ दूध देने वाली गायो को साल भर के लिए काफ़ी होता है। चरागाहो की पद्धति से एक पशु के लिए लगभग ६ एकड जमीन चाहिए और नई पद्धति से ६ गाय या बैलो के लिए केवल २॥ एकड चाहिए। आधुनिक कृषि से जो नतीजे हासिल हुए उनमें इतना अन्तर है।

गर्नसी प्रदेश में कुल ६,८८४ एकड ज़मीन काम मे आती है, जिसमे से आधी ४,६६५ एकड जमीन मे अनाज और शाक पैदा किये जाते हैं। केवल ५१८६ एकड जमीन बीड के लिए पडी रहती है। इस ५१८६ एकड ज़मीन पर १,४८० घोडे,७,२६० मवेशी, ६०० भेडे और ४,२०० सूअर चराये जाते हैं, और भेड या सूअर समेत प्रत्येक दो एकड पर ३ पशुओं से अधिक का औसत पडता है। कहना न होगा कि वहाँ समुद्री घास और रासायनिक खाद से ज़मीन को उत्पादक बनाया जाता है।

हम अपने ३६ लाख निवासियों के उदाहरण पर वापस आते है। हम जानते है कि पशुओ के चराने की भूमि ५० लाख एकड से घट कर १,६७,००० एकड हो गई है। परन्तु हमे इतनी थोडी भूमि का आँकडा नही पकडना चाहिए। साधारण घनी खेती मे जितनी ज़मीन चाहिए वही आँकडा हम लेते हैं। कुछ सींगवाले पशुओ के स्थान पर छोटे मवेशी आजायँगे और उनके लिए भी ज़मीन की जरूरत होगी। इसलिए पशु-पालन के लिए ज्यादा से ज़्यादा ३,६५,००० एकड भूमि माननी चाहिए, अथवा, आप चाहे तो, मनुष्यो के लिए अन्न-उत्पत्ति से बची हुई १०,१३,००० एकड मे से पशुपालन के लिए ४,६४,००० एकड भूमि

*एक टन बराबर है लगभग २८ मन।

मान सकते है।

हिसाब लगाने मे हम उदारता से काम लेते है और मान लेते है कि इस भूमि को उत्पादक बनाने के लिए ५० लाख श्रम-दिवस लगेगे। इसलिए साल भर मे २ करोड दिनो का श्रम लगेगा। इसमे से आधा श्रम तो जमीन के स्थायी सुधार में लगेगा। इतने श्रम से हमारे अन्न और मॉस की व्यवस्था हो जायगी। इसमे वह अतिरिक्त मॉस नही गिना गया है जो शिकार की चिडियो, मुर्गे-मुर्गियो, सूअरो और ख़रगोशो का प्राप्त हो सकेगा। इसके अलावा जितने मॉस का हिसाब हमने लगाया है वह भी अधिक ही लिया है। इंग्लैण्ड के लोगो को तो फल और शाक कम मिलते हैं, इसलिए वे मॉस अधिक खाते हैं। परन्तु जिस जनता को बढिया फल और शाक मिलेगे वह मॉस कम ही खर्च करेगी। तो ५-५ घण्टे के २ करोड श्रम-दिनो मे से प्रत्येक निवासी को कितना समय पडेगा? वस्तुत बहुत थोडा पडेगा। ३६ लाख की जन-संख्या मे कम-से-कम १२,००,००० बडी उम्र के पुरुष और १२,००,००० बडी उम्र की स्त्रियॉ होंगी जो काम कर सकेगी। तो सारी जनता को अन्न और मॉस प्राप्त करने के लिए फी आदमी १७ अर्ध-दिनो के श्रम की आवश्यकता होगी। दूध की प्राप्ति के लिए ३० लाख, या चाहे तो ६० लाख, श्रम-दिवस और बढा दीजिए। इस प्रकार कुल मिला कर ५—५ घण्टे के २५ श्रम-दिवस हुए। तीन मुख्य-मुख्य वस्तुये,—रोटी, मांस और दूध—प्राप्त करने के लिए इतना-सा श्रम तो मैदान मे व्यायाम करने के समान आनन्द-दायक मालूम होगा। मकान के सवाल के बाद इन्ही तीन वस्तुओं का सवाल महत्वपूर्ण है, जिसके लिए नव्वे प्रतिशत जनता दिन-रात चिन्तित रहती है।

हम फिर दुहराते है कि यह बात कोई सुन्दर स्वप्न के समान नही है। जो बात बडे पैमाने पर की जा चुकी है और की जा रही है, उसी को हम कहते है। कृषि का इस प्रकार से प्रबन्ध कल ही करके बताया जा सकता है, यदि सम्पत्ति-सम्बन्धी कानून और जनता का अज्ञान हमारे मार्ग मे बाधक न हो।

जिस दिन पेरिस यह समझ जायगा कि वर्तमान समय की पार्लमेंट की सारी बहसों से भोजन का यह सवाल अधिक महत्वपूर्ण है और इस में अधिक सार्वजनिक हित है, उसी दिन क्रान्ति सफल हो जायगी। पेरिस दोनों प्रदेशों पर कब्जा कर लेगा और उनकी जमीनों को जोत डालेगा। इसके बाद जिन श्रम-जीवियों ने अपना एक-तिहाई जीवन बुरी रोटी और अपर्याप्त भोजन के लिए मजदूरी करने में ही बिता दिया है वे स्वयं अपना भोजन उत्पन्न करने लगेंगे। वे अपनी ही सीमा में और अपने ही किले की दीवारों के भीतर (यदि किले उस समय भी रहे) कुछ घंटे की स्वास्थ्यकर और आकर्षक मेहनत कर के अपने लिए भोजन स्वयं उत्पन्न करने लगेंगे।

अब हम फलों और शाकों का प्रश्न लेते हैं। पेरिस के बाहर, विज्ञानशालाओं से कुछ ही मील दूर, जो फल-फूलों के बाग चतुर बागबानों ने लगा रक्खे हैं, उन्हीं की ओर हम जाते हैं।

उदाहरण के लिए एक मोस्ये पोन्स है। उन्होंने बागबानी पर एक पुस्तक लिखी है। यह सज्जन भूमि से जो कुछ उत्पन्न करते हैं, उसको छिपा कर नहीं रखते। बराबर सब बातें प्रकाशित करते रहते हैं।

मोस्ये पोन्स और विशेषत. उनके मजदूर, बड़ी मेहनत से काम करते हैं। लगभग ३ एकड (२.७ एकड) भूमि के टुकडे पर खेती करने में ८ आदमी लगते हैं। वे दिन में १२ घंटे और १५ घंटे तक, अर्थात् आवश्यकता से तिगुने समय तक काम करते हैं। २४ आदमी उनके लिए अधिक न होंगे। इसका कारण मो० पोन्स शायद यह बतायेंगे कि उन्हें अपने २.७ एकड ज़मीन का लगान १०० पौण्ड देना पडता है। खाद ख़रीदने में उन्हें १०० पौण्ड और लग जाते हैं। इसलिए वह भी मजदूरों का पूरा उपयोग लेते हैं। निःसन्देह वह यह कहेंगे, "जब मुझे दूसरे लूटते हैं, तो मैं भी दूसरों को लूटता हूं।" उनके उस कारबार में भी १२०० पौण्ड का ख़र्चा हुआ है, जिसमें से आधा तो मशीनों पर लग गया और उद्योग-पतियों के घर में गया। वस्तुतः यह २.७ एकड भूमि का कारबार अधिक-से-अधिक ३,००० श्रम दिवसों

की मेहनत का फल कहा जा सकता है।

अब यह देखना चाहिए कि वह क्या-क्या पैदा करते हैं। उस ज़मीन मे वह लगभग १० टन गाजरें, लगभग १० टन प्याज, मूली और छोटी शाक, ५००० दर्जन अच्छे फल, १,५४, ००० सलाद(विलायती पालक) पैदा करते है। संक्षेप मे २.७ एकड या १२० × १०६ गज भूमि मे वह १२३ टन शाक और फल उत्पन्न करते है। एक एकड का औसत ४४ टन से अधिक का होता है।

परन्तु साल भर मे एक आदमी शाक और फल ६६० पौण्ड से अधिक नही खाता। २.५ एकड का एक बाग़ ३५० बडी उम्र के आदमियो को फल और शाक अच्छी तरह दे सकेगा। अत: २४ आदमी २.७ एकड भूमि पर ५ घंटे रोज काम करके साल भर मे इतना शाक और फल उत्पन्न कर देंगे कि वह ३५० बडी उम्र के आदमियो को, अर्थात् कम-से-कम ५०० व्यक्तियो के लिए, काफ़ी होगा।

हम इसको दूसरी तरह समझाते है। हालाँकि मो० पोन्स से भी अधिक उत्पत्ति दूसरे लोग अब करके दिखला चुके है, पर उनकी पद्धति से ही खेती करने पर यह परिणाम निकलता है कि यदि ३५० बडी उम्र के स्त्री-पुरुष प्रत्येक १०० घंटे से कुछ अधिक (१०३ घंटे) समय हर साल दे दिया करे तो ५०० आदमियों के लिए यथेष्ट फल और शाक उत्पन्न हो सकता है।

ऐसी उत्पत्ति बहुत असाधारण नहीं है। ऐसी उत्पत्ति तो पेरिस मे ही २,२२० एकड भूमि पर ५,००० बाग़वानो द्वारा की जाती है। सिर्फ इसका नतीजा यह है कि इन बाग़वानो को ३२ पौण्ड फी एकड का लगान चुकाने के लिए अत्यन्त कठिन परिश्रम करना पडता है।

परन्तु ये बाते सत्य है। और जो कोई चाहे वह परीक्षण करके भी उन्हे देख सकता है। इसलिए पेरिस के दोनो प्रदेशों की जो ५,१६,००० एकड भूमि बची थी, उसमे से १७,२०० एकड भूमि ही ३६ लाख जनता के लिए भरपूर शाक और फल दे सकती है।

अब देखना है कि शाक और फलो की इस उत्पत्ति मे कितना श्रम

लगेगा। यदि हम बाग़वानों के श्रम के परिणाम से हिसाब लगायें, तब तो इस काम मे ५-५ घंटे के ५ करोड श्रम-दिवस लगेंगे जो बडी उम्र के पुरुषों पर औसतन ५० दिन हुआ। परन्तु जिस पद्धति से जर्सी और गर्न्सी मे कृषि होती है उससे तो श्रम और भी कम लगेगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि पेरिस के बागवाले ऋतु से कुछ पहले फल उत्पन्न करते हैं और इस कारण उन्हे श्रम अधिक करना पडता है। उन्हे भूमि का लगान अधिक देना पडता है। इस कारण उनकी कीमते भी तेज़ होती हैं। यदि फल और शाक अपने-अपने साधारण मौसम पर ही पैदा किये जाये और जल्दी पैदा न किये, तो श्रम कम लगेगा। इसके अतिरिक्त पेरिस के बाग़वालो के पास अपने बाग़ो की उन्नति पर खर्चा करने के साधन भी नही है और उन्हें काच, लकडी, लोहे और कोयले के दाम भी बढ़े-चढे देने पडते हैं। वे खादो से नकली गरमी पहुँचाते है, हालाँकि गरम घरो (Hot-houses) द्वारा बहुत कम ख़र्च से यह गरमी पहुँचाई जा सकती है।

४

इतनी आश्चर्यजनक फसलें प्राप्त करने के लिए बाग़वालो को मशीन बन जाना पडता है और अपने जीवन के आनन्दो को त्यागना पडता है। परन्तु इन परिश्रमी लोगों ने मनुष्य-जाति की बडी सेवा की है। इन्होंने यह बता दिया है कि मिट्टी बनाई जा सकती है। वे खाद की पुरानी उष्णभूमियो (Hot beds) से मिट्टी को बनाते हैं। छोटे-छोटे पौधो और मौसम से पहले पैदा किये जाने वाले फलो को गरमी पहुँचाने मे जो उष्णभूमियाँ काम मे आ चुकती है, उन्ही से यह मिट्टी बनाई जाती है। यह बनावटी मिट्टी इतनी अधिक बनाते है कि उसमे से कुछ हिस्सा उन्हे हर साल बेचना पडता है, अन्यथा उनके बाग़ की सतह हर साल एक इंच ऊँची उठ जाय। बाग़वानो के विषय मे अपने 'कृषि-कोष' में एक लेख लिखते हुए बारल महाशय ने इसकी उपयोगिता बताई है।

वे बाग़वान इतनी अच्छी तरह से यह मिट्टी बनाते हैं कि आजकल इकरारनामो में वे यह शर्त रखते हैं कि जब अपनी ज़मीन छोड़ेंगे तब अपनी मिट्टी उठाकर ले जायँगे। रिकार्डो ने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो मे लिखा है कि भूमिकर या लगान एक ऐसा साधन हैं जिससे भूमि के प्राकृतिक लाभ सर्वत्र समान कर दिए जाते हैं, परन्तु बाग़ के फरनीचर तथा कांच के फ्रेमो के साथ-साथ जब मिट्टी भी गाडियो में लाद कर ले जाई जाती है—तो उसकी बात ग़लत सिद्ध हो जाती है। व्यावहारिक बाग़वान का आदर्श वाक्य है—"जैसा किसान, वैसी ज़मीन।"

परन्तु पेरिस और रूस के बाग़वानो की अपेक्षा गर्न्सी या इंग्लैण्ड के बागवान एक-तिहाई श्रम करके ही उतनी उपज कर लेते है। गर्न्सी और इंग्लैण्ड के बाग़वान कृषि में उद्योग-धन्धो की सहायता लिया करते हैं। वे बनावटी मिट्टी तो बनाते ही हैं, पर हरे घर (Green houses) की सहायता से कृत्रिम ऋतुएं भी बना लेते हैं।

पचास वर्ष पहले तो केवल धनाढ्य लोगो के यहाँ हरा घर होता था। वे अपने आनन्द के लिए विदेशो से और भिन्न-भिन्न जल-वायुओं के प्रदेशो से पौधे लाकर उसमे लगाते थे। उन पौधों के वास्ते हरा घर काम मे लाया जाता था। परन्तु आजकल तो हरे घरों का उपयोग सभी करने लगे है। गर्न्सी और जर्सी में तो बडा भारी उद्योग ही खडा होगया है। वहाँ सैकडों एकड भूमि पर काच की छत बना दी गई है। और हरे घरो की तो गिनती हो नहीं हो सकती। प्रायः प्रत्येक फार्म के बाग़ में छोटे-छोटे हरे घर हैं। लन्दन के समीप वर्थिंग में भी कई एकड ज़मीन पर हरे घर बन गये है (सन् १६१२ मे १०३ एकड हरे घर थे)। इगलैण्ड और स्काटलैण्ड के दूसरे स्थानो में भी बहुत से हैं।

हरे घर सब प्रकार के बनते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जिनकी दीवारें सफेद ग्रेनाइट पत्थर की हैं। परन्तु कुछ तो केवल छप्पर की तरह से तख्तो और कांच के फ्रेमो के ही खडे किए गए हैं। पूंजीपति और बीच वालों का मुनाफा अदा करके भी आजकल एक वर्ग-गज कांच की छत का खर्चा ३॥ शिलिंग से कम ही बैठता है। अधिकांश हरे घरों मे वर्ष

मे तीन या चार मास गर्मी पहुँचाई जाती है। परन्तु जिन हरे घरो मे गर्मी नही पहुंचाई जाती उनमे भी अच्छी उत्पत्ति होती है। हॉ, अंगूर और गरम देशो की चीजे तो पैदा नही हो सकती, परन्तु आलू, गाजर, मटर, टमाटर आदि खूब होते है।

इस पद्धति से मनुष्य ऋतुओ की बाधा से भी बच जाता है और उष्णभूमि बनाने के भारी काम से भी बच जाता है। उसको खाद भी बहुत कम खरीदनी पडती है और श्रम भी कम लगता है, जिससे काफी बचत हो जाती है। जितनी चीज़ पहले एकड़ो भूमि पर पैदा हुआ करती थी वह अब थोड़ी सी जगह मे ही हो जाती है, और फी एकड़ केवल तीन आदमी करते है, जिनको हफ्ते मे ६० घंटे से कम ही काम करना पड़ता है।

कृषि-विज्ञान की इन आधुनिक सफलताओ का परिणाम यह है कि यदि प्रत्येक नगर के बड़ी उम्र के आधे भी स्त्री-पुरुष, बे मौसम फल और शाक की प्राप्ति के लिए प्रत्येक ५० अर्धदिन भी दे दिया करे तो शहर के सब लोगो को हर मौसम मे सब प्रकार के फल और शाक प्रचुर परिमाण मे मिल सकते है।

परन्तु एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। आजकल के हरे घर कांच की छत लगे हुए शाक-पात के बाग़ ही बनते जा रहे है। इस काम के लिए केवल तख्तो और कांचो की बनी हुई छते ही काफी होती है। उनमें गरमी देने की ज़रूरत नहीं है। आजकल ऐसी छतो से ही अकथनीय उत्पत्ति हो रही है। उदाहरणार्थ, पहली फसल मे, जो अप्रैल के अन्त तक तैयार हो जाती है, एक एकड़ मे ५०० बुशल (५०० मन) आलू हो जाते है। इसके बाद गरमी की ऋतु मे कांच की छत से बहुत गरमी पहुँचती है, और दूसरी और तीसरी फसल भी की जाती है।

मैंने अपनी पुस्तक "Fields, Factories and workshops" मे इस विषय की बहुत बाते दी है। यहॉ इतना ही कहना काफ़ी है कि जर्सी में एक शिक्षित बाग़वान और ३४ आदमी १३ एकड़ ज़मीन पर

खेती करते है, और वह ज़मीन काच को छत से ढकी हुई है। उस ज़मीन मे वे १४३ टन फल और बे-मौसम शाक पैदा करते है और इस असाधारण कृषि मे उनका १,००० टन से भी कम कोयला खर्च होता है।

गर्न्सी मे तो यह खेती आजकल बहुत बडे पैमाने पर की जाती है। बहुत से जहाज़ तो गर्न्सी और लन्दन के बीच हरे घरों की पैदावार को बाहर लेजाने के लिए ही चलते रहते हैं।

साधारण खेती मे आजकल ५०० बुशल (४०० मन) आलू पैदा करने के लिए हमे ४ एकड ज़मीन जोतनी पडती है। ४ एकड ज़मीन को जोतने, आलू बोने—नीदने आदि मे कितना श्रम पडता है? परन्तु काच की छत बनाने मे यद्यपि पहले-पहले प्रति वर्ग गज़ आधे दिन का श्रम लगाना पडेगा, पर बाद में मामूली वार्षिक श्रम का आधा, या शायद चौथाई, श्रम लगा कर ही हम उतनी उत्पत्ति कर सकते हैं।

ये सत्य बातें है, और इन परिणामो की जॉच हरएक कर सकता है। परन्तु इन बातो से एक शिक्षा यह भी मिलती है कि यदि मनुष्य बुद्धिपूर्वक भूमि का उपयोग करे तो भविष्य में और भी अधिक उत्पत्ति कर सकता है।

५

ऊपर तो हमने केवल उन बातो का उल्लेख किया है जो अनुभव से सिद्ध की जा चुकी है। खेतो पर घनी कृषि होना, घास की बीडो में पानी दिया जाना, गरम घर और काच की छतोयुक्त शाक तथा फलो के बाग—ये तो ऐसी बाते है जो आजकल हो रही है। इसके अतिरिक्त, लोगों की प्रवृत्ति खेती के इन तरीको को सर्वसाधारण में फैला देने की ओर है, क्योकि इनके द्वारा, कम श्रम मे और अधिक निश्चितता के साथ, पैदावार बहुत ज़्यादा बढ जाती है।

गर्न्सी के काच के छप्परो का अध्ययन करने के बाद तो हम कह

सकते हैं कि खुले मैदान मे चौगुनी ज़मीन जोतने, बोने और नींदने की अपेक्षा अप्रैल मे काच के छप्पर के नीचे आलू उत्पन्न करना कही अधिक सुविधाजनक है। उसमे कुल मिलाकर बहुत कम श्रम करना पडता है । किसी उन्नत औज़ार या मशीन को लेने में यद्यपि प्रारम्भिक व्यय तो होता है, परन्तु काम मे बडी बचत हो जाती है।

काच की छत के द्वारा साधारण शाक कितने उत्पन्न होते हैं, इसके पूरे अंक प्राप्त नही हुए हैं। यह खेती हाल मे ही की जाने लगी है और थोडे-थोडे क्षेत्रों पर ही की गई है । परन्तु पचास वर्ष से मौसम से अंगूर पैदा करने के जो प्रयोग हुए हैं, उनके अङ्क हमे प्राप्त है । वे बडे निर्णयात्मक हैं।

इंग्लैण्ड के उत्तर प्रदेश मे, स्काटलैण्ड की सीमा पर कोयले की क़ीमत प्रति टन केवल ३ शिलिंग होती है। वहाँ बहुत पहले ही लोग गरम घरों के द्वारा अंगूर उगाने लग गये थे। ये अंगूर जनवरी मे पक जाते थे और बाग़वाला इनको २० शिलिंग फ़ी पाउण्ड बेचता था, और फ्रान्स के सम्राट नेपोलियन तृतीय के खाने के लिए पुन बिककर ४० शिलिग फी पाउण्ड की दर से आते थे । आज वही बाग़वाला उन अंगूरों को २॥ शिलिग फ़ी पाउण्ड के भाव से बेचता है। कृषि-विषयक एक सामयिक पत्र मे उस बागवाले ने यह बात स्वयं लिखी है। अंगूरों का भाव इसलिए गिर गया है कि अब तो लन्दन और पेरिस मे जनवरी के महीने मे ही, अनेको टन अंगूर आ जाते हैं।

साधारणत. फल तो दक्षिण से उत्तर को भेजे जाते हैं, परन्तु कोयले की सस्ताई और कृषि की कुशलता के कारण अब तो अंगूर उत्तर से दक्षिण को भेजे जाने लगे हैं। वे इतने सस्ते पडते हैं कि मई मे इंग्लैण्ड और जर्सी के अंगूरो को बाग़वाले १$\frac{2}{3}$ शिलिंग फ़ी पाउण्ड की दर से बेचते है। फिर भी जिस तरह तीस वर्ष पहले ४० शिलिंग का भाव कम उत्पत्ति के कारण रहता था, उसी प्रकार आजकल भी १$\frac{2}{3}$ शिलिंग का भाव कम उत्पत्ति के कारण ही रक्खा जाता है।

मार्च मे बेल्जियम के अंगूरो का भाव ६ पेंस से लेकर ८ पेंस तक

का रहता है और अक्तूबर मे लन्दन के अंगूर, जो कि काच के नीचे कुछ गरमी देकर उत्पन्न किये जाते हैं, उससे भी बहुत सस्ते बिकते है । फिर भी वास्तव में यह मूल्य दो तिहाई अधिक होता है, क्योकि भूमि के भारी लगान के रूप मे और यन्त्रों को लगाने और गर्मी पहुँचाने के खर्चे के रूप में कारखानेदार और बीचवाले लोग बागवाले को खूब लूटते है। इस प्रकार हम कह सकते है कि लन्दन जैसे ठण्डे प्रदेश मे भी, जहाँ कोहरा पड़ता रहता है, सितम्बर-अक्तूबर में स्वादिष्ट अंगूरो पर लागत व्यय 'प्रायः कुछ भी नहीं' पडता। शहर के बाहर हम एक बंगले मे रहते थे। वहाँ हमने एक टूटा-फूटा-सा काच का छप्पर ६ फीट १० इंच × ६ फीट ६ इंच लगा लिया था। नौ वर्ष तक उसमें, हर अक्तूबर महीने मे, लगभग ५० पाउण्ड बढ़िया अंगूर आते रहे। अंगूर की लता हेम्बर्ग के किस्म की थी और वह भी छ. साल की पुरानी थी। वह छप्पर भी इतना ख़राब था कि उसमें से बरसात का पानी टपकता था। रात में उसके अन्दर उतनी ही ठण्डक हो जाती थी जितनी बाहर खुली हवा में। उसमे नकली गरमी नही पहुंचाई जाती थी। उसमे नकली गरमी पहुँचाना उतना ही असम्भव था जितना खुली सडक में गरमी पहुँचाना। साल मे एक बार उस अंगूर की लता को छाँट दिया जाता था, जिसमे आधा घंटा समय लगता था, और छप्पर से बाहर लाल मिट्टी मे, जहाँ उसका धड उगा हुआ था, उसपर थोडी खाद डाल दी जाती थी। बस इतनी ही मेहनत उस अगूरलता पर की जाती थी।

परन्तु राइन नदी या लेमन झील के किनारे अगूरो की उत्पत्ति मे बहुत मेहनत की जाती है। पहाडी के ढाल पर पत्थर-पर-पत्थर जमा कर चबूतरे बनाये जाते हैं और दो-दो सौ तीन-तीन सौ फीट की ऊँचाई पर खाद और मिट्टी ले जाई जाती है। इसको देखते हुए हम इस परिणाम पर पहुंचते है कि स्वीजरलैण्ड मे या राइन के किनारे अंगूर पैदा करने में बहुत अधिक श्रम होता है और लन्दन के समीप काच के छप्परों के नीचे अंगूर पैदा करने मे बहुत कम श्रम पडता है।

लोगो को यह बात उलटी-सी मालूम पडेगी। साधारणतः यह विश्वास

किया जाता है कि दक्षिण-यूरोप के गरम प्रदेश मे तो अंगूर अपने आप पैदा हो जाते है और बाग़वालो का कुछ भी खर्चा नही लगता । परन्तु बाग़वाले और बाग़वानी-कला के विशेषज्ञ हमारा खंडन नहीं करते वे हमारी राय का समर्थन ही करते है। एक सज्जन ने, जो व्यावहारिक बाग़वान थे और बाग़वानी-कला के एक पत्र के सम्पादक भी थे, 'नाइन्टीन्थ सेन्चुअरी' नामक पत्रिका में लिखा था कि "इंग्लैएड की सबसे अधिक लाभदायक कृषि अंगूरो की है।" अंगूरो के भाव से ही यह बात स्वतः प्रकट हो जाती है।

साम्यवादी भाषा में इन सत्य बातों को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि कोई स्त्री या पुरुष अपने आराम के वक्त मे से हर साल २० घण्टे भी काच के छप्पर से ढके हुए दो या तीन अंगूर के पेडो पर खर्च कर दे, तो यूरोप की हर प्रकार की आबहवा मे इतने अंगूर हो सकते हैं कि उनके परिवार और मित्रो के खूब खाने लायक हो जाये। न केवल अंगूर, किन्तु सब प्रकार के फल इसी प्रकार थोडे श्रम से पैदा किये जा सकते है। और यह श्रम भी बडा आनन्ददायक होगा।

यदि साम्यवादी ग्राम-पंचायत बडे पैमाने पर घनी खेती के तरीकों को काम मे लायगी, तो देशी और विदेशी सब प्रकार के शाक और सब प्रकार के फल, वर्ष मे प्रति निवासी केवल १० घण्टे श्रम करके ही प्राप्त हो सकेंगे।

हमारी ऊपर कही हुई बातो की जॉच करना भी बहुत सरल है। कल्पना कीजिए कि १०० एकड वर्थिंग की जैसी ज़मीन पर कुछ बाग़ बनाये गए और प्रत्येक बाग़ मे छोटे-छोटे अंकुरो और पौधो की रक्षा के लिए काच-घर भी बने। इसके अतिरिक्त, और भी ५० एकड भूमि पर काच-घर बने। इस १५० एकड भूमि का सारा प्रबन्ध व्यावहारिक अनुभव रखने वाले फ्रांस के बागवालो, और गर्न्सी और वर्थिंग के हरे-घरो को बाग़वानो के हाथ मे दिया गया।

जर्सी की औसत से, जहॉ कि काचदार १ एकड ज़मीन पर ३ आदमी लगते है और सालभर में ८,६०० घंटों का श्रम लगता है, इस १५०

एकड़ ज़मीन के लिए लगभग १३,००,००० घंटों के श्रम की आवश्यकता होगी। इस काम पर पचास कुशल बाग़वान रोज पांच घंटे काम करते रहें। शेष साधारण आदमी ही काम कर सकते हैं। वे शीघ्र ही फावड़ा चलाना और पौधों की सम्भाल करना सीख जायँगे। इतने श्रम से ही ४०,००० या ५०, ००० व्यक्तियों की आवश्यकता के और शौक के सब तरह के फल और शाक उत्पन्न हो जायँगे। मान लीजिये कि इस जनसंख्या में १३, ५०० बड़ी उम्र के स्त्री-पुरुष शाक के बागों मे काम करने को तैयार हैं। तो प्रत्येक को साल भर मे समय-समय पर कुल मिला कर १०० घंटे देने पड़ेंगे। इस प्रकार जो समय अपने मित्रों और बालकों के साथ सुन्दर-सुन्दर बाग़ो मे व्यतीत होगा, वह तो मनोरंजन का ही समय होगा। आज-कल तो जब गृहिणी को पूँजीपतियो और भूमिपतियो की जेबो में जाने वाले एक-एक पैसे का खयाल रखना पड़ता है, तो कुटुम्ब के खाने के लिए फल मिल ही नहीं पाते और शाक भी कंजूसी से खर्च किया जाता है। परन्तु हमारी बताई हुई पद्धति से सब को भरपेट फल मिल सकते हैं और शाक का भी बाहुल्य हो सकता है। उसके लिए कितना श्रम करना पड़ेगा, यह सब हिसाब ऊपर दिया ही गया है।

कमी केवल इतनी है कि अभी मनुष्य-जाति को अपने सामर्थ्य का ज्ञान नही है और न उसमे उस को कार्यान्वित करने की संकल्प-शक्ति ही है।

साहस की कमी से ही अभी तक की सारी क्रान्तियां भग्न हुई हैं, और इसी बात के ज्ञान की ही अभी कमी है।

६

जिनके आँखें हैं वे देख सकते है कि साम्यवादी क्रान्ति के लिए दिन-प्रति-दिन नये-नये क्षेत्र खुलते जा रहे हैं।

जब कभी हम क्रान्ति का नाम लेते हैं, श्रमजीवी के चेहरे पर दुःख की एक छाया आ जाती है, क्योंकि उसके बच्चे भूखों मर रहे हैं और

इसलिए वह यह पूछता है कि "रोटी का क्या होगा ? हरएक को भरपेट रोटी मिल सकेगी या नहीं ? जिस प्रकार १७९३ में, फ्रांस मे, श्रमजीवियो को किसानो ने भूखो मार दिया था, यदि उसी प्रकार अब भी किसान लोग प्रगति-विरोधियों के चंगुल मे फंसकर हमको भूखों मारेंगे, तो हम क्या करेंगे ?"

श्रमजीवियों को किसान कितना ही धोखा दे, पर बडे शहरो के रहने वाले तो गॉवो के किसानों की सहायता बिना भी काम चला सकते है।

तब फिर जो लाखों श्रमजीवी आज दम घोटने वाले कारखानो मे काम कर रहे है वे अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने पर किस काम मे लगेंगे ? क्या क्रान्ति के बाद भी वे कारखानो मे ही बन्द रहेंगे ? जब अनाज समाप्त होने लगेगा, क्या तब भी वे निर्यात के लिए खेल-खिलौनों की सामग्री ही बनाते रहेंगे ?

नहीं ! हर्गिज नहीं !! वे शहर से निकल कर खेतो मे पहुँच जायेंगे। दुर्बल-से-दुर्बल व्यक्ति भी मशीन से काम ले सकेगा। मशीनो की सहायता से वे कृषि मे भी उसी प्रकार क्रान्ति कर डालेंगे जिस प्रकार प्रचलित संस्थाओ और विचारों मे करेंगे।

उस समय सैकडो एकड भूमि पर काच के छप्पर लग जायँगे और बडी ही कोमलता से स्त्रियाँ और पुरुष छोटे-छोटे पौधो का लालन-पालन करेंगे। इसके अतिरिक्त सैकडो एकड जमीन वाष्प-यन्त्रों से जोती जायगी और खाद द्वारा सुधारी जायगी। चट्टानो को तोड कर और पीस कर नकली मिट्टी बनाई जायगी और खेतो की सम्पन्नता मे वृद्धि की जायगी। कृषि का श्रम करने वाले लोग प्रसन्न अवस्था मे होगे। उस समय वे बारहमासी किसान न होंगे, परन्तु साल भर में से थोडा ही समय कृषि के लिए दिया करेंगे। खेती के काम और प्रयोगों मे वही लोग पथ-प्रदर्शन करेंगे जो कृषि के जानकार होंगे। परन्तु चिर-सुषुप्ति से जागे हुए लोगों मे जो महान् और व्यावहारिक उत्साह होगा और उनके हृदयो मे सब के कल्याण की जो भावना होगी, वही विशेष रूप से उनका पथ-प्रदर्शन करेगी।

उस समय दो-तीन मास में ही, ऋतु से पहले, फसल पैदा हो जायगी। लोगो की सबसे बडी आवश्कताओ की पूर्ति उसके द्वारा हो जायगी और लोगो के भोजन का प्रबन्ध हो जायगा। शताब्दियो तक आशा लगाये रहने के बाद, आखिरकार, अपनी भूख तृप्त कर सकेंगे और भरपेट खायँगे।

जनता की बुद्धि ही क्रान्ति करती और अपनी आवश्यकता को समझती है। वही खेती की नई-नई पद्धनियो के प्रयोग करेगी। उन पद्धतियो का सूक्ष्मरूप हम आजकल भी देखते है और काममे लाये जाने से वे सबमे फैल जायँगी। आजकल प्रकाश की ताकत से या कुटस्क के सर्दप्रदेश मे भी ४९ दिन मे जौ पक जाता है। पर क्रान्तियुग में तो प्रकाश की शक्ति के और भी प्रयोग होगे। पौधो को जल्दी-जल्दी बढ़ाने मे केन्द्रित की हुई रोशनी या नकली रोशनी से गरमी की बराबरी का काम लिया जायगा। कोई आविष्कारक भविष्य मे ऐसी मशीन का आविष्कार कर देगा जिससे सूर्य की किरणों को हम चाहे जिधर फेर सके और उनसे काम ले सके। तब तो कोयले की गरमी की भी आवश्यकता न रहेगी। पौधो को खूराक पहुँचाने के लिए तथा मिट्टी के तत्वो को अलग-अलग करने और परस्पर मिलाने के लिए, ज़मीन मे जिन अत्यल्प जीवाणुओ (Microorgansims) की आवश्यकता हुआ करती है, उनको पानी के साथ जमीन मे पहुँचाने का एक नया विचार हाल मे ही पैदा हुआ है। उस समय इसके भी प्रयोग होंगे।

भविष्य मे नये-नये प्रयोग तो बहुत किये जायँगे, परन्तु अभी हम कल्पना की सीमा मे प्रवेश नही करते। जो सत्य बाते वास्तव मे अनुभव के द्वारा सिद्ध हो गई है, उन्ही पर हम ठहर जाते है। जो खेती के तरीके आजकल काम मे आरहे है और बडे पैमाने पर किये जाते है, और जो उद्योग-धन्धो से भी संघर्ष करने मे विजयी सिद्ध हुए है, उनके द्वारा ही हम रुचि अनुकूल श्रम करते हुए अपने सारे आराम और शौक पूरे कर सकते है। विज्ञान के नये-नये अन्वेपणो से जिन नवीन तरीको का कुछ सूक्ष्म-दर्शन हुआ है, उनकी व्यावहारिता को भविष्यकाल सिद्ध कर

देगा। हमारा काम तो केवल उस रास्ते को खोल देना है जो मनुष्य की आवश्यकताओं और उन आवश्यकताओं की पूर्ति के उपाय का अध्ययन करता है।

क्रान्ति मे जिस बात की न्यूनता संभवत. रह सकती है, वह है उस क्रान्ति के चलाने वालों में साहस की कमी।

जवानी की उम्र में ही हमारे विचार संकुचित हो जाते हैं और प्रौढ अवस्था मे पिछले विचारो और तरीको की गुलामी दिमागो में भर जाती हैं, इस कारण हमारे अन्दर विचार करने का साहस नही होता। जब कोई नया विचार हमारे सामने आता है, तो हम उस पर अपनी सम्मति देने का साहस नही कर पाते। जिन सौ वर्ष की पुरानी किताबो पर धूल चढी हुई है, उन्हीं को हम बार-बार उठाते है और यह ढूंढते हैं कि पुराने विद्वानो का इस विषय मे क्या मत था।

क्रान्ति मे यदि विचार-साहस और कार्य-शक्ति की कमी न होगी, तो भोजन की भी कमी नही पड सकती।

फ्रान्स की क्रान्ति के महान् दिनों मे से सबसे सुन्दर और सबसे भव्य दिन वही था, जिस दिन पेरिस में आये हुए सारे फ्रान्स के प्रतिनिधि केम्प डि मार्स की भूमि पर फावडा लेकर काम करने लगे थे, और अपने फ़ेडरेशन-संगठन के प्रीतिभोजन के लिए उसे तैयार करने लगे थे।

उस दिन फ्रान्स में एकता थी, उसमे नया उत्साह था, और वे समझते थे कि भविष्य मे मिलकर जमीन पर काम करेंगे।

और आगे भी मिल कर ज़मीन पर काम करने से ही स्वतन्त्रता पाने वाले समाज अपनी एकता कायम कर सकेंगे और भेदभाव फैलानेवाले घृणा और अत्याचार को मिटा देंगे।

एकता की भावना ही एक ऐसी महान् शक्ति है जो मनुष्य की कार्यशक्ति और उत्पादक-शक्तियों को सौगुना बढा देती है। आगे इस एकता का अनुभव करने से ही मनुष्य पूरी शक्ति से अपनी भावी सफलता के लिए प्रयाण करेगा।

उस समय अज्ञात ख़रीददारों के लिए उत्पत्ति बन्द हो जायगी

और समाज अपनी ही आवश्यकताओं और रुचियो की पूर्ति का ध्यान रक्खेगा। उस समय प्रत्येक व्यक्ति के जीवित रहने और सुख से रहने की व्यवस्था अच्छी तरह हो जायगी। उस समय मनुष्य-मात्र को वह नैतिक संतोष प्राप्त होगा जो स्वतन्त्रतापूर्वक पसन्द किये हुए और स्वतन्त्रता-पूर्वक किये गये काम से मिला करता है; और वह आनन्द प्राप्त होगा जो दूसरों के जीवन को हानि न पहुँचाते हुए अपना जीवन व्यतीत करने में हुआ करता है।

उस समय, एकता के अनुभव से, लोगों मे नया साहस जागृत होगा, ज्ञान और कला की सृष्टि के उच्च आनन्दो की प्राप्ति के लिए सब मिलकर आगे बढेगे।

जिस समाज मे ऐसा साहस होगा वह न भीतरी मत-भेदो से डरेगा, न बाहरी शत्रुओ से।

भूतकाल की कृत्रिम एकताओ के मुक़ाबिले मे इस समाज में एक नया ही प्रेम होगा। हरएक व्यक्ति नया विचार और नया कार्य करेगा। हरएक व्यक्ति मे वह साहस होगा जो जनता की प्रतिभा के जागृत होने से ही उत्पन्न हुआ करता है।

ऐसी अदम्यशक्ति के सामने "षड्यन्त्रकारी बादशाहो" की शक्ति क्षीण हो जायगी। उन्हें उस साहस के सम्मुख नतमस्तक होना पडेगा।

उन्हे तो त्वरित-गति से भविष्य की ओर अग्रसर होने वाले मानव समाज के उस रथ में जुत जाना पडेगा जिसका कि साम्यवादी क्रान्ति के द्वारा निर्माण होगा।

———

प्रिंस क्रोपाटकिन[1]

[चरित्र चित्रण . ए० जी० गार्डनर]

"ओह ! उन दिनो कैसे-कैसे असाधारण शक्तिसम्पन्न प्रतिभाशाली महापुरुष होते थे और अब उन दिग्गजो के मुकाबिले " मेरे मित्र ने यह अधूरा वाक्य कहते हुए अपने हाथ को इस तरह उपेक्षाजनक ढंग से घुमाया, जिसका अभिप्राय यह था कि वर्तमान काल मे महापुरुषो का अभाव ही है, और उस अभाव को प्रकट करने के लिए उनके पास शब्द भी नही ! अपने मित्र के वाक्य को पूरा करते हुए मैने कहा—"जनाब, उन दिग्गजो के मुकाबिले के दिग्गज आज भी पाये जाते है।" मेरे मित्र ने मानो दृढतापूर्वक चुनौती देते हुए मुझसे पूछा—"मिसाल के लिए?" मैंने निवेदन किया—"जरा दबी हुई जबान से बोलिये, क्योकि मेरी मिसाल आपके नजदीक ही है।" मेरे मित्र ने उस ओर देखा, जिधर मैने इशारा किया था कि उनकी निगाह एक प्रौढ़ पुरुष पर पडी जो उस वाचनालय मे बात-चीत करने वाले समूह के बीच मे विद्यमान था। ठीक फौजी ढंग पर कन्धों को चौडा किये हुए वह नरपुंगव एक सिपाही की भांति चुस्त खडा हुआ था; लेकिन उसके प्रशस्त मस्तिष्क, भरी हुई भौहें, फैली हुई दाढ़ी तथा विशाल नेत्र इस बात की घोषणा कर रहे थे, मानो वह कोई दार्शनिक है। उसकी आँखो से बुद्धिमत्ता तथा परोपकारिता टपक रही थी, और वह बडी तेजी के साथ बातचीत कर रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि जितनी शीघ्रता के साथ विचार उसके दिमाग मे आ रहे हैं, उसका मुकाबिला भाषा के मन्द चाल से चलने वाले शब्द नही कर सकते। बातचीत करते हुए वह निरन्तर अपनी

---

१ यह चरित्र-चित्रण सन् १९१३ मे लिखा गया था, जब कि प्रिंस क्रोपाटकिन जीवित थे।

चायके प्यालेमे चम्मच चला रहा था; पर प्याला अभी मुँह तक गया नही था। मेरे मित्र ने पूछा—"आप का मतलब प्रिंस क्रोपाटकिन से है?" मैंने कहा—"जी हाँ" मित्र ने फिर पूछा—"क्या सचमुच आप ऐसा समझते है?"

हाँ, सचमुच प्रिंस क्रोपाटकिन एक असाधारण प्रतिभाशाली दिग्गज महापुरुष है। यदि जीवन तथा व्यक्तित्व के तमाम विभिन्न पहलुओ पर विचार किया जाय, तो निस्सन्देह प्रिंस क्रोपाटकिन पुराने जमाने की वीरतापूर्ण किस्से-कहानियो के नायक ही प्रतीत होगे। यदि वह इतिहास के प्रारम्भिक काल में उत्पन्न हुए होते, तो उन की कीर्ति एजेक्स की तरह, जिसने अन्याय का जबरदस्त विरोध किया था, गाथाओ मे गाई जाती; अथवा वे प्रोमेथियस के समान होते, जो धरती पर स्वतन्त्रता की अग्नि लाने के अपराध मे काकेशस पर्वत से जंजीरो द्वारा बाँध दिया गया था। कवि लोग उनके वीरतापूर्ण कार्यों से काव्यों की रचना करते और उनके संकट पूर्ण जीवन तथा उनके भाग निकलने की कथाये बालक-बालिकाओ को प्रोत्साहन देने और उनकी कल्पना-शक्ति को जाग्रत करने के काम मे आतीं। दरअसल इस जवाँमर्द की जिदगी के नाटक मे इतना विस्तार और इतनी सादगी है कि उसकी मिसाल आज के जमाने मे मिल नही सकती। आज इस समय, जब यह महापुरुष अपनी चाय को चलाता हुआ कुछ विश्राम लेता हुआ हमारे सामने एक प्रोफेसर के रूप में विद्यमान है, हमे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो हम रूस देश के महान् विस्तार को और उसकी दर्द-भरी कहानी को साक्षात् देख रहे है, अथवा मनुष्य की आत्मा उठकर कितनी ऊँचाई तक पहुँच सकती है. इसका दृष्टांत हमे प्रत्यक्ष दीख पडता है।

प्रिंस क्रोपाटकिन को हम बाल्यावस्था मे एक अत्यन्त प्राचीन तथा उच्च राजवंश मे उत्पन्न अपने पिता के साथ देखते है। यह समय है अत्याचार रूपी घनघोर अँधकार का। रात अँधेरी है—अन्याय अन्धकार का साम्राज्य है—और रूसी जाग्रति के सूर्य के निकलने मे अभी बहुत देर है। रूसी जार, निकोलस प्रथम का भयकर पंजा जनता के सिर पर है। गुलामी

की प्रथा का दौर-दौरा है और ग़रीब जनता गुलामी के धुँये के नीचे कराह रही है। बालक क्रोपाटकिन को जीवन के दो भिन्न-भिन्न प्रकार के—परस्पर-विरोधी—अनुभव होते हैं।

जब क्रोपाटकिन आठ वर्ष के थे, वे सम्राट ज़ार के पार्षद बालक बना दिये गए थे। उस समय वे महा शक्तिशाली जार के पीछे-पीछे चलते थे, और एक बार तो भावी साम्राज्ञी की गोद मे सो गए थे। जहां एक ओर उन्हे यह अनुभव हुआ, वहाँ दूसरी ओर उनकी कोमल आत्मा दासत्व प्रथा के भयंकर अत्याचारों को अपनी आखों देखकर झुलस गई। एक दिन प्रिंस क्रोपाटकिन के पिता घर के दास-दासियों से नाराज़ हो गए, और उनका गुस्सा उतरा मकार नामक नौकर पर, जो रसोइये का सहायक था। प्रिंस क्रोपाटकिन के पिता ने मेज पर बैठकर एक हुक्मनामा लिखा—"मकार को थाने पर ले जाया जाय और उसके एक सौ कोडे लगवाए जायँ।" यह सुन कर बालक प्रिंस क्रोपाटकिन एकदम सहम गए और उनकी आँखों में आँसू आ गए, गला भर आया। वे मकार का इन्तज़ार करते रहे। जब दिन चढने पर उन्होने मकार को, जिसका चेहरा कोडे खाने के बाद पीला पड गया था और बिलकुल उतर गया था, घर की एक अन्धकार मय गली मे देखा, तो उन्होने उसका हाथ पकड कर चूमना चाहा। मकार ने हाथ छुडाते हुए कहा—"रहने भी दो। मुझे छोड दो, तुम भी बडे होने पर क्या बिलकुल अपने पिता की तरह न बनोगे?" बालक क्रोपाटकिन ने भरे गले से जवाब दिया—"No, no, never" (नही; नही, हर्गिज़ नही।)

नाटक का पर्दा बदलता है। ज़ार निकोलस की अँधेरी रात दूर हो गई है; लेकिन उसके बाद दासत्व प्रथा बन्द होने के कारण थोडी देर के लिए जो उषाकाल आया था, उसे प्रतिक्रिया के अन्धकार ने ढक लिया और रूस फिर पुलिस के अत्याचारो से कुचला जाने लगा। सैकडों निरपराध आदमी फांसी पर लटका दिये गए और हज़ारों ही जेल मे ठेल दिये गए। सारे रूस पर भय और आतंक का साम्राज्य था; लेकिन भीतर ही भीतर रूस जाग्रत हो रहा था। रूसी ज़ार एलेकज़ेण्डर द्वितीय ने

अपने शासन सूत्र पुलिस के दो जालिम अफसरो को—ट्रेपोफ और शुवालोफ को—सौंप दिया था। वे चाहे जिसे फांसी पर लटका देते थे और चाहे जिसे निर्वासित कर देते थे, लेकिन फिर भी वे क्रान्तिकारी गुप्त समितियों की कार्रवाइयो को रोकने मे सफल नही हुए। ये समितियाँ दनादन स्वाधीनता तथा क्रान्ति का साहित्य जनसाधारण में बांट रही थी। इस घोर अशान्तिमय वायु मण्डल मे भेड की खाल ओढ़े एक अद्भुत् किसान, अदृश्य भूत की तरह, इधर से उधर घूम रहा है। उसका नाम बोरोडिन है। पुलिस के अफसर हाथ मल-मल कर कहते हैं—"बस अगर हम लोग बोरोडिन को किसी तरह पकड पावें, तो क्रान्ति की इस सर्पिणी का मुँह ही कुचल जाय; हाँ, बोरोडिन को और उसके साथी-संगीयो को।" लेकिन बोरोडिन को पकडना आसान काम नहीं। जिन जुलाहो और मजदूरो के बीच मे वह काम करता है, वे उसके साथ विश्वासघात करने के लिए तैयार नहीं। सैकडों की संख्या में पकडे जाते हैं, कुछ को जेल का दण्ड मिलता है और कुछ को फाँसी का! पर वे बोरोडिन का असली नाम और पता बतलाने के लिए तैयार नहीं!

सन् १८७४ की वसन्तऋतु—संध्या का समय है। सेण्ट-पीटर्सबर्ग के सभी वैज्ञानिक और विज्ञान-प्रेमी ज्याग्राफिकल सोसाइटी के भवन पर महान वैज्ञानिक प्रिंस क्रोपाटकिन का व्याख्यान सुनने के लिए एकत्र हुए है। फिनलैण्ड की यात्रा के परिणामो के विषय में उनका भाषण होना है। रूस के Diluval (जल-प्रलय) काल के विषय मे वैज्ञानिको ने जो सिद्धान्त अब तक क़ायम कर रखे थे, वे सब एक के बाद दूसरे खडित होते जाते है और अकाट्य तर्क के आधार पर एक नवीन सिद्धान्त की स्थापना होती है। सारे वैज्ञानिक जगत में क्रोपाटकिन की धाक जम जाती है। इस महापुरुष के मस्तिष्क के विस्तार के विषय मे क्या कहा जाय। उसका शासन भिन्न-भिन्न ज्ञानों तथा विज्ञानों के समूचे साम्राज्य पर है। वह महान गणितज्ञ है और भूगर्भ विद्या का विशेषज्ञ। वह कलाकार है और ग्रन्थकार (बीस वर्ष की उम्र में उसने उपन्यास लिखे थे), वह संगीतज्ञ है और दार्शनिक। बीस भाषाओं का वह ज्ञाता है, और सात भाषाओं मे वह आसानी के

साथ बात-चीत कर सकता है। तीस वर्ष की उम्र मे रूस के चोटी के विद्वानो मे—उस महान देश के कीर्ति-स्तम्भो मे—प्रिंस क्रोपाटकिन की गणना होने लगती है। प्रिंस क्रोपाटकिन को बाल्यावस्था में फौजी काम सीखना पडा था, और पॉच वर्ष बाद जब उनके सामने स्थान के चुनाव का सवाल आया, तो उन्होने साइबेरिया को चुना था। वहॉ सुधार की स्कीम जो उन्होने पेश की और आमूर की यात्रा करके एशिया के भूगोल की भद्दी भूलों का जिस तरह संशोधन किया, उससे उनकी कीर्ति पहले से ही फैल चुकी थी, पर आज तो भौगोलिक जगत मे विजय का सेहरा उन्हींके सिर बॉध दिया गया। प्रिंस क्रोपाटकिन ज्योग्राफिकल सोसाइटी के (Physical Geography) विभाग के सभापति मनोनीत किये गये। भाषण के बाद ज्यो ही गाडी मे बैठकर वह बाहर निकले, त्यो ही एक दूसरी गाडी उनके पास से गुजरी, एक जुलाहे ने उस गाडी में से उझक कर कहा—"मिस्टर बोरोडिन, सलाम !" दोनो गाडियॉ रोक दी गई। जुलाहे के पीछे से खुफिया पुलिस का एक आदमी उस गाडी में से कूद पडा और बोला—"मिस्टर बोरोडिन उर्फ प्रिंस क्रोपाटकिन, मैं तुम्हे गिरफ्तार करता हूँ।" उस जासूस के इशारे पर पुलिस के आदमी कूद पडे। उनका विरोध करना व्यर्थ होता, क्रोपाटकिन पकड लिये गए। विश्वासघातक जुलाहा दूसरी गाडी मे उनके पीछे-पीछे चला।

दो वर्ष बाद

क्रोपाटकिन को पीटर और पाल के किले में एक अकेली कोठरी मे रहते हुए दो साल बीत गये हैं—उस किले मे, जिसका इतिहास रूस के महान-से-महान और उच्च-से-उच्च देशभक्तो तथा कवियों की शहादत का इतिहास है, जहॉ वे अॅधेरी कोठरियों मे पागलपन की ओर अग्रसर हो रहे थे, जहां वे घुल-घुल कर मर रहे थे और जहॉ वे जीवित ही कब्र में गाड दिये गए थे। दो वर्ष बीत गये और क्रोपाटकिन का मुकद्दमा अब भी पेश नहीं हुआ ! बाहरी दुनिया से उनका सम्बन्ध बिलकुल नहीं था। मौत जैसा सन्नाटा था। आखिर तंग आकर कई महीने बाद उन्होंने आसपास की

कोठरियो मे रहनेवाले कैदियो से विचार परिवर्तन का एक ढंग निकाला, दीवार पर खटखट की आवाज़ की वर्णमाला बनाई और इस प्रकार संकेतों द्वारा उनसे बात-चीत होने लगी। जेल मे उन्होने अपनी तन्दुरुस्ती कायम रखने के लिए कोई-न-कोई व्यायाम करना मुनासिब समझा; पर वहाँ व्यायाम के लिए जगह कहाँ थी? इसलिए उन्होने कोठरी के एक कोने से दूसरे कोने तक कई हज़ार चक्कर लगा कर २ मील टहलना शुरू किया और स्टूल की मदद से जमनास्टिक करते रहे। उनके भाई ऐलेकज़ेण्डर ने बहुत कुछ आन्दोलन करके क्रोपाटकिन को लिखने का सामान दिलवा दिया था, जिससे वे Glacial के विषय में अपना महान ग्रन्थ लिख सके। इस ग्रन्थ की वजह से वे अपना दिमाग़ ठिकाने रख सके, नहीं तो कभी के पागल हो गये होते। लेकिन क्रोपाटकिन अपने स्वर की ध्वनि का अन्दाज़ ही भूल गये, क्योंकि जेल की कोठरी मे उन्हे गाने की मनाई कर दी गई थी। दो वर्ष बाद वे बीमार पड गये और इलाज के लिए फौज जेलखाने के अस्पताल में भेज दिये गये। यहाँ पर उन्हे तीसरे पहर के वक्त अस्पताल के सहन मे टहलने की आज्ञा मिल गई थी यद्यपि हथियारबन्द सिपाही बराबर उनके साथ रहते थे, और यही पर से वे भाग निकले। उनका यह भागना अत्यन्त आश्चर्यजनक था। ड्यूमा के उपन्यासो को छोड कर ऐसा सनसनीखेज किस्सा शायद ही कही पढने को मिले। उनके जीवन-चिरित्र का वह अध्याय, जिसमे इस भागने का वृत्तान्त है, हृदय को स्पन्दित करनेवाली एक खास चीज [illegible] जए—

क्रोपाटकिन ने अपने बाहर के दोस्तो से पत्र-व्यवहार करके भागने की सारी तरकीब निश्चित कर ली थी। जब लकडी लानेवालो के लिए फाटक खुला, उस समय क्रोपाटकिन टोप हाथ मे लिये टहल रहे थे। कोई अजनबी आदमी फाटक के सिपाही को बातो मे उलझाये हुए था। पडौस के घर मे बेला बज रहा था। भागने की घडी ज्यो-ज्यों नजदीक आती जाती थी, त्यो-त्यो बेला की ध्वनी भी तीव्र होती जा रही थी। क्रोपाटकिन भागे, फाटक पार किया, झटसे गाडी मे सवार हुए, घोडे सरपट दौडे,

सेन्ट-पीटर्सबर्ग के सबसे शानदार होटल मे खाना खाया (जब कि पुलिस उस महानगरी के प्रत्येक छुपने के स्थान के कोने-कोने को तलाश कर रही थी) किसीका पासपोर्ट लिया, फिनलैण्ड होकर स्वीडन की यात्रा की और वहाँ यूनियन जैक (ब्रिटिश झंडा) उड़ाने वाले जहाज़ पर सवार होकर इंग्लैण्ड जा पहुँचे। उनके जीवन की यह घटना किसी उपन्यास से बढकर मनोरंजक है। प्रिंस क्रोपाटकिन का आत्म-चरित हमारे युग का सर्वश्रेष्ठ आत्म-चरित है।

इस महापुरुषका जीवन दो प्रबल भावनाओ से प्रभावित रहा है। एक भावना तो है बौद्धिक संसार मे विजय प्राप्त करना और दूसरी मानव-समाज की स्वाधीनता के लिए उद्योग। अन्ततोगत्वा इन दोनो भावनाओ का स्रोत एक ही है, यानी मानव-समाज से प्रेम; और इस प्रेम की वजह से ही क्रोपाटकिन के व्यक्तित्व मे वैसा ही आकर्षक माधुर्य है जैसा सर्दी से ठिठुरने वाले आदमी के लिए सूर्य की किरणों में। क्रोपाटकिन के इस हृदयग्राही गुण को देखकर विलियम मोरिस की याद आ जाती है, क्योंकि विलियम मोरिस का भी स्वभाव वैसा ही प्रेमपूर्ण और सहृदयतायुक्त था, और वे साम्यवादी की अपेक्षा अधिक अराजकवादी थे। मैंने इन दो बातो का उल्लेख इसलिए किया है कि इन दोनो का सम्बन्ध है। साम्यवादी मनुष्य को केवल भावना मे ही देखता है और समाज को कानून द्वारा संचालित एक संस्थामात्र समझता है। साम्यवादी की इस चिन्ता-धारा का नतीजा यह होता है कि मनुष्य तथा समाज उसके मस्तिष्क तक ही पहुँच पाते है, पर वे उसकी मनुष्यता को स्पर्श नहीं कर पाते, लेकिन अराजकवादी, जिसे हद दर्जे का व्यक्तित्ववादी कहना चाहिए, मनुष्य को साक्षात और साकार रूप मे देखता है, और इस कारण मनुष्य के प्रति उसके हृदय मे प्रेम उत्पन्न होता है, क्योकि मनुष्य को वह देख सकता है, उसकी बात सुन सकता है और उसे छू सकता है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि अराजकवादी तो व्यक्ति के सुख तथा हित-साधनोके लिए चिंतित है और साम्यवादी को एक शासनप्रणाली की फिक्र है।

क्रोपाटकिन के राजनैतिक सिद्धान्तोका स्रोत है उनकी वैज्ञानिक तथा प्रेमपूर्ण विचार-धारा मे। उन्होने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ Mutual Aid[1] (पारस्परिक सहयोग) मे डार्विन के जीवन-संग्राम-सम्बन्धी उस सिद्धान्त का खंडन किया है, जिसमें इस प्रकृति को खूँख्वार सिद्ध किया गया है, और जिसमे यह बात साबित करने की चेष्टा की गई है कि प्रत्येक प्रकार का विकास जीवन-संग्राम का परिणाम है, एक-दूसरे से प्रतिद्वन्द्विता करने का नतीजा है और 'प्रत्येक को सम्पूर्ण समूह से युद्ध करना अनिवार्य है।' इस सिद्धान्त के मुकाबले में क्रोपाटकिन ने अपना यह सिद्धान्त उपस्थित किया है कि विकास, पारस्परिक सहायता, सहयोग और सम्मिलित सामाजिक उद्योग का परिणाम है। क्रोपाटकिन लिखते है—"जीवों में सबसे अधिक समर्थ वही होते है, जिनमे सबसे अधिक सहयोग-प्रवृत्ति पाई जाती है, और इस प्रकार सहयोग-प्रवृत्ति विकास का मुख्य कारण है, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से वह उस जीव-श्रेणी के हित की साधक है, क्योंकि वह उसकी शक्ति के क्षय को रोकती है और अप्रत्यक्ष रूप से वह उसकी बुद्धिमत्ता की उन्नत्ति के लिए सुविधा उत्पन्न करती है।"

इस सामाजिक भावना से, जो सब चीजों को विकसित करती है, प्रिंस क्रोपाकिन ने अपना व्यक्तिगत स्वाधीनता का सिद्धान्त निकाला है। उनका कहना है कि व्यक्तिगत स्वाधीनता के अबाध प्रयोग से सम्पूर्ण मानव-समूह की सेवा का भाव उत्पन्न होता है। उनके शब्द सुन लीजिए—

"अपने दुःख को प्रकट करने के लिए जितने आँसुओ की हमें ज़रूरत है, उनसे कहीं अधिक आंसू हमारे पास है, और जितना अधिक आनन्द न्यायपूर्वक हम अपने जीवन के कारण मना सकते है, उनसे कही अधिक आनन्द मनाने की शक्ति हममे विद्यमान है। एकाकी आदमी क्यों दु.खित और अशान्त रहता है? उसके दुःख तथा अशान्ति का कारण यही है

---

१ इस पुस्तक का अनुवाद 'संघर्ष या सहयोग' नाम से 'मंडल' से प्रकाशित हुआ है।

कि वह दूसरों को अपने विचारों तथा भावनाओं में शामिल नहीं कर सकता। जब हमें कोई बडी भारी खुशी होती है, उस समय हम दूसरो को यह जतला देना चाहते हैं कि हमारा भी अस्तित्व है, हम अनुभव करते हैं, प्रेम करते हैं।...उल्लास मय जीवन ही विकास की ओर दौडता है।... यदि किसी मे कार्य करने की शक्ति है, तो कार्य करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। 'नैतिक कर्त्तव्य' या धर्म को यदि उसके तमाम रहस्यवादी झाडझंखाड से अलग कर दिया जाॅय, तो वह इस सूत्र मे समृद्ध हो जाता है। 'The condition of the maintenance of life is its expansion.'—('जीवन का विस्तार जीवन को क़ायम रखने की अनिवार्य शर्त है।') क्या कोई पौधा अपने को फूलने से रोक सकता है ? कभी-कभी किसी पौधे के फूलने का अर्थ होता है उसकी मृत्यु; पर कोई मुजायका नहीं, उसका जीवन रस तो ऊपर की ओर चढ़ता है। यही हालत उस मनुष्य की होती है, जो ओज तथा शक्ति से परिपूर्ण होता है। वह अपने जीवन का विस्तार करता है। वह बिना हिसाब-किताब के दान करता है, क्योंकि बिना दान के उसका जीवन सम्भव नही। यदि इस दान-कार्य में उसे अपना जीवन भी देना पडे,—जैसे कि फूल के खिलने से उसका अन्त हो जाता है,—तो भी कोई चिन्ता नही, क्योंकि जीवन-रस तो—यदि वह जीवन-रस है—ऊपर को चढ़ेगा ही।"

इस तर्क द्वारा प्रिंस क्रोपाटकिन अपने नीति शास्त्र पर पहुँचते हैं,—उस नीति शास्त्र पर, जो किसी पर शासन नहीं चलाता, जो व्यक्तियों का निर्माण किसी खास मॉडल पर (ढॉचे में) करने में विश्वास नही रखता और जो धर्म, कानून या सरकार के नाम पर व्यक्तियो को अंग-भग नही करना चाहता। प्रिंस क्रोपाटकिन का नीति-शास्त्र व्यक्ति को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करता है। इसी नैतिकता के आधार पर उन्होने एक ऐसे समाज की कल्पना की है, जिसमें किसी प्रकार का बाहरी नियन्त्रण न होगा, जिसमे न कुछ पूंजीवाद होगा और न कोई सरकार और जिसमें प्रत्येक मनुष्य को अपनी रुची का कार्य चुनने और करने का अधिकार होगा। समाज की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए स्वाधीन समूह

होंगे और इन समूहो के संघ होगे। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि बर्गसन की फिलासफी और सिण्डीकैलिज्म के प्रयोगो का स्रोत प्रिंस क्रोपाटकिन की शिक्षाओ मे ही पाया जाता है।

क्रोपाटकिन अपने प्रतिपादित नीति-शास्त्र का अक्षरशः पालन करते हैं। वे बडी सादगी के साथ स्वाधीनता पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनके चेहरे पर प्रेमपूर्ण मुसकुराहट सदा खेलती रहती है। न उन्हे रुपये-पैसे की अभिलाषा है, न किसी पद-प्रतिष्ठा की। उन्होने रूस मे अपनी बडी जागीरों को लात मारकर लुकछिप कर इधर-उधर भटकने वाले क्रांतिकारी का निर्धनतापूर्ण जीवन स्वीकार किया और अपने वैज्ञानिक लेखो से जीविका चलाना उचित समझा। उन्होने अपने 'राजकुमार' के पद को तिलॉजली देकर गरीब मज़दूरो की सेवा का व्रत ग्रहण किया. और आज वह अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर-सभा तथा उसके आंदोलनो के केंद्र-स्थान—प्रेरक शक्ति—बने हुए है। रूस छोडे उन्हे सैंतीस वर्ष हो चुके, और वह अभी तक वहाँ लौट कर नहीं गये; पर रूस उन्हे नहीं भूला। रूसी सरकार ने उन्हे स्वीज़रलैण्ड से, जहाँ वह अपने पत्र 'La Revolte' का सम्पादन करते थे, निकलवा दिया। रूसी सरकार ने उन्हे चालाकी से पकडवा मँगाने का षड्यन्त्र भी किया; पर वह सफलन हीं हुई। सन् १८८७ मे जब क्रोपाटकिन ने अपना ग्रन्थ 'In Russian and French Prisons' (रूसी और फ्रांसीसी जेलखानो मे) छपाया, तो उस ग्रन्थ की सारी प्रतियाँ उडा दी गईं और प्रकाशक महोदय का कारोबार ही रहस्यपूर्ण ढंग से एक साथ बन्द हो गया!

हां, एक बार रूसी सरकार उनको दण्ड दिलाने मे सफल हुई। सन् १८८२ मे लायन्स मे जो बलवा हुआ था, उसमे फ्रांसीसी सरकार द्वारा वह पकडे गये। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये बलवे रूसी खुफिया पुलिसवालो ने कराये थे। क्रोपाटकिन उन दिनो लन्दन मे थे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्रोपाटकिन ने न तो तब और न पहले कभी हिंसात्मक उपायो का समर्थन किया था, पर उन पर यह इलज़ाम लगाया कि वे बलवे उन्हींकी प्रेरणा से हुए। वह फ्रांस वापस गये और उन्हे

४ वर्ष का कारावास, १० वर्ष पुलिस की निगरानी तथा अन्य कई दण्ड दिये गये। रूसी सरकार फूली न समाई और उत्साह मे आकर मुकद्दमा चलाने वालो को पदक दे डाले! उसकी यह भूल विघातक सिद्ध हुई। परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण यूरोप मे क्रोपाटकिन के छुटकारे के लिए आन्दोलन उठ खडा हुआ। फ्रांसीसी सरकार अपने हठ पर कायम रही; पर उसने क्रोपाटकिन के लिए जेल मे एक सहूलियत कर दी, यानी एक खेत उनको अपने कृषि-सम्बन्धी प्रयोगों के लिए दे दिया। वहां क्रोपाटकिन ने जो प्रयोग किये, उन्होने कृषि-जगत मे एक क्रान्ति ही उत्पन्न कर दी। उन प्रयोगो के आधार पर ही आगे चल कर उन्होने 'Field, Factories and Workshop'[1] नामक किताब लिखी थी। क्रोपाटकिन के छुटकारे के लिए आन्दोलन निरन्तर जारी रहा। अन्त मे जाकर फ्रेंच सरकार के एक उच्च पदाधिकारी को यह बात खुलेआम स्वीकार करनी पडी कि 'क्रोपाटकिन के छुटकारे मे कुछ राजनैतिक कारण बाधक है।' असली भेद आखिर जाहिर ही हो गया! प्रत्येक आदमी की ज़बान पर एक ही बात थी—'क्या रूसी सरकार को खुश करने के लिए ही क्रोपाटकिन को जेल मे रखा जायगा?' जब फ्रेंच सरकार को यह चुनौती दी गई, तो उसके पैर उखड गये, और तीन वर्ष जेल में रहने के बाद क्रोपाटकिन छोड दिये गए।

रूसी सरकार ने इस दुःखदायक समाचार को सुनकर क्या किया, सो भी सुन लीजिए। इस घटना के बाद सेन्ट-पीटर्सबर्ग-स्थित फ्रॉसीसी राजदूत के साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया गया कि वह इस्तीफा देकर पेरिस लौट आये।

× × ×

फिर मैंने अपने मित्र से पूछा—'कहिये जनाब, अब आपकी राय क्रोपाटकिन के विषय मे क्या है?'' मैने उनका परिचय क्रोपाटकिन से करा दिया था, और जब हम उनसे मिलकर लौटे, तब भी उन्हे चाय के

---

[1] इसका अनुवाद शीघ्र ही मण्डल से प्रकाशित होगा।

प्याले मे चम्मच चलाते हुए छोड आये थे !

मेरे मित्र ने उत्तर दिया—"यह तो मै कह नहीं सकता कि क्रोपाटकिन दिग्गज महापुरुष है या नही; पर इतना ज़रूर कहूँगा कि वह महात्मा है।"

पुनश्च

[बनारसीदास चतुर्वेदी]

४२ वर्ष विदेश मे रहकर सन् १९१७ मे रूस की राज्य-क्रान्ति के बाद क्रोपाटकिन अपनी मातृभूमि को लौटे। जनता ने उनका हृदय से स्वागत किया। जिस ट्रेन से वह रूस मे यात्रा कर रहे थे, उसको प्रत्येक स्टेशन पर लोगो की भीड घेर लेती थी, और 'क्रोपाटकिन आ गये,' 'क्रोपाटकिन आ गये,'—ये शब्द हर आदमी की ज़बान पर थे।

रूस मे क्रान्ति हो जाने के बाद जब लेनिन का शासन प्रारम्भ हुआ. उन दिनो क्रोपाटकिन मास्को के निकट डिमिट्रोव Dimitrov नामक ग्राम मे रहते थे। गोकि उनका स्वाथ्य ख़राब था,—वह ७९ वर्ष के हो चुके थे—तथापि उन्हे उतना ही भोजन सोविएट सरकार की शाखा की ओर से दिया जाता था, जितना बूढे आदमियो के लिए नियत था। उन्होंने एक गाय रख छोडी थी, और अपनी स्त्री तथा पुत्री के साथ वह इस कठिन परिस्थिति मे रहा करते थे। यार लोगों ने उनके गाय रखने पर भी एतराज किया ! ज़रा कल्पना कीजिए, जिसने अपने देश की स्वाधीनता के लिए ५० वर्ष तक कार्य किया, उसके लिए बुढ़ापे में, बीमारी की हालत मे एक गाय रखना भी आक्षेप का विषय समझा जाता है !

क्रोपाटकिन तो सरकारी शासन-प्रणाली के ख़िलाफ थे, इसलिए सरकार से शिकायत करना उनके सिद्धान्त के विरुद्ध था, और शिकायत उन्होने की भी नहीं, पर क्रोपाटकिन के कुछ मित्रों को यह बात बहुत अखरी, और उन्होने स्थानीय सोविएट के अधिकारियो से शिकायत कर ही दी, पर उसका परिणाम कुछ न निकला ! आखिरकार यह ख़बर लेनिन के कानों तक पहुँचाई गई। लेनिन क्रोपाटकिन के प्रशंसक थे।

उन्होने तुरन्त स्थानीय सोविएट को हुक्म लिख भेजा कि क्रोपाटकिन के भोजन की मात्रा बढ़ा दी जाय और उन्हे गाय रखने दी जाय। क्रोपाटकिन की पुत्री के पास लेनिन के हाथ का लिखा हुआ यह पर्चा अब भी मौजूद है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लेनिन और प्रिंस क्रोपाटकिन के सिद्धान्तो मे जबरदस्त मत भेद था। एक लेखक ने लिखा है—"यद्यपि क्रोपाटकिन बोल्शेविक लोगो के द्वारा क्रॉति का जो विकास हो रहा था, उसमे व्यावहारिक रूप से कोई भाग नहीं ले सकते थे, तथापि उन्हे इस बात की चिन्ता अवश्य थी कि बोल्शेविक लोग दमन की जिस नीति का आश्रय ले रहे थे वह स्वयं क्रान्ति के लिए हानिकारक थी, और मनुष्यता की दृष्टि से भी वह अनुचित थी। लेनिन ने अपने एक मित्र के द्वारा, जो प्रिंस क्रोपाटकिन के भी मित्र थे, क्रोपाटकिन के पास यह सन्देश भेजा कि मै आपसे मिलने के लिए उत्सुक हूँ और आपसे बात-चीत करने के लिए आपके ग्राम डिमिट्रोव आ भी सकता हूँ। क्रोपाटकिन राजी हो गये, और दोनो की बातचीत हुई। यद्यपि लेनिन सहृदयतापूर्वक मिले और उन्होने क्रोपाटकिन के विचारो को सहानुभूति के साथ सुना भी, पर इस बातचीत का परिणाम कुछ भी न निकला।"

प्रिंस क्रोपाटकिन उच्च कोटि के आदर्शवादी थे। वह अपने सिद्धान्तो पर समझौता करना जानते ही न थे। सोविएट सरकार ने क्रोपाटकिन से कहा था कि वह अपनी पुस्तक 'फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति' का अधिकार बहुत-सा रुपया लेकर सरकार को दे दे, क्योकि सोविएट सरकार उसे अपने स्कूलो मे पाठ्य-पुस्तक की भॉति नियत करना चाहती थी पर उन्होने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि वह एक सरकार की ओर से आया था। कैम्ब्रिज-यूनिवर्सिटी ने उन्हे भूगोल शास्त्र की अध्यापकी का काम करने के लिए निमन्त्रण दिया, पर साथ-ही-साथ यह भी कह दिया था कि हमारे यहॉ अध्यापक होने के बाद आपको अपने अराजक-वादी सिद्धान्तो का प्रचार बन्द कर देना पडेगा, आपने इस नौकरी को धता बता दी। अराजकवाद के प्रचारार्थ उन्होने जो कार्य किया था, उस

के बदले में एक पैसा भी उन्होंने किसीसे नही लिया। जब वह अत्यन्त गरीबी की हालत मे इंग्लैण्ड मे रहते थे, उन दिनों लोगो ने उन्हे दान देना चाहा, किसी-किसीने उन्हे रुपया भी उधार देना चाहा; पर आपने उसे भी नामंजूर कर दिया। घोर आर्थिक संकट के समय मे भी जो लोग उनके पास आते थे, उन्हे वह जो कुछ उनके पास होता था, उसमे से दे देते थे।

एक बार सुप्रसिद्ध करोडपति एण्ड्रू कारनेगी ने क्रोपाटकिन को अपने घर पर किसी पार्टी में निमन्त्रण दिया था। क्रोपाटकिन ने उस निमन्त्रण पत्र के उत्तर मे लिखा—"मैं उस आदमी का आतिथ्य स्वीकार नही कर सकता, जो किसी भी अंश मे मेरे अराजकवादी बन्धु बर्कमेन को जेल मे रखने के लिए ज़िम्मेवार है।"

पाठक पूछ सकते हैं, क्रोपाटकिन को अपने अंतिम दिन कैसे व्यतीत करने पडे? ७९ वर्ष की उम्र में वह अपनी नीति-शास्त्र (Ethics) नामक अन्तिम पुस्तक लिख रहे थे। किताबो के खरीदने के लिए उनके पास पैसा नही था। जब कभी मित्र लोग थोडा-सा पैसा भेज देते, तो एकआध आवश्यक पुस्तक वह खरीद लेते। पैसे की कमी के कारण ही वह कोई क्लर्क या टाइपिस्ट नहीं रख सकते थे, इसलिए अपने ग्रन्थ की पाण्डुलिपि बनाने के और चीज़ो के नकल करने का काम उन्हें खुद ही करना पडता था। भोजन भी उन्हे पुष्टिकर नहीं मिल पाता था। जिससे उनकी कमजोरी बढती जाती थी और एक धुंधले दीपक की रोशनी मे उन्हे अपने ग्रन्थ की रचना करनी पडती थी।"

यह वर्ताव किया गया, स्वदेश में, उस महापुरुष के साथ, जिसने लाखो की धन-सम्पत्ति पर लात मारकर अत्यन्त गरीबी की हालत मे वढईगीरी तथा जिल्दबन्दी करके अपनी गुज़र करना उचित समझा, जार के पार्श्वद और गवर्नर-जेनरल के सेक्रेटरी होने के वजाय जिसने किसानो तथा मज़दूरों का सखा होना अधिक गौरवयुक्त माना, संसार के वैज्ञानिको मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होने पर भी जिसने वैज्ञानिक अनुसन्धानो के कार्य को भारतवर्ष के एकान्त-वासी मोक्षाभिलापी

सन्यासियों की स्वार्थ-भावना के समान समझ कर तिलाँजलि दे दी और अराजकवाद के प्रचार के लिए जिसने अपने जीवन को बीसियों बार खतरे मे डाला, जिसने न केवल अपने देश रूस की स्वाधीनता के लिए, वरन् इंग्लैण्ड और फ्रांस आदि देशों के मज़दूरों के संगठन के लिए भी अपनी शक्ति अर्पित कर दी, जो ४२ वर्ष तक अपने देश से निर्वासित रहा, जो दरअसल ऋषि था—द्रष्टा था और जिसके सिद्धान्त कभी मानव-समाज के स्थायी कल्याण के कारण बनेंगे !

इसमे किसीको दोष देना अनुचित होगा, क्योंकि शासन के मोह में फँस कर मानव अपनी मनुष्यता खो कर मशीन बन ही जाते है। सच है—

'प्रभुता पाई काहि मद नाही ।'

८ फरवरी सन् १६२१ को ७८ वर्ष की उम्र मे प्रिंस क्रोपाटकिन का देहान्त हो गया। सोविएट सरकार ने कहा कि हम गवर्नमेन्ट की ओर से उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया करना चाहते हैं; पर उनकी पत्नी तथा लडकी ने इसे अस्वीकार कर दिया। अराजकवादियो ने मज़दूर संघ के भवन से उनके शव का जुलूस निकाला। २० हज़ार मज़दूर साथ-साथ थे। सर्दी इतनी जोरों की थी कि बाजे तक बर्फ के कारण जम गये! लोग काले झंडे लिये हुए थे और चिल्ला रहे थे—"क्रोपाटकिन के साथी-संगियों को—अराजकवादी बन्धुओ को—जेल से छोडो।"

सोविएट सरकार ने डिमिट्रोव का छोटा-सा घर क्रोपाटकिन की विधवा पत्नी को रहने के लिए दे दिया और उनका मास्कोवाला मकान क्रोपाटकिन के मित्रों तथा भक्तों को दे दिया, जहाँ उनके ग्रन्थ, कागज पत्र, चिट्ठियाँ तथा अन्य वस्तुये सुरक्षित हैं। क्रोपाटकिन के जो मित्र तथा भक्त संसार में पाये जाते है, उनकी सहायता से इस संग्रहालय का संचालन हो रहा है।

स्वाधीनता का यह अद्वितीय पुजारी युग-युगान्तर तक अमर रहेगा। उसका व्यक्तित्व हिमालय के सदृश महान और आदर्शवादिता गौरीशंकर शिखर की तरह उच्च है।

सस्ता साहित्य मण्डल : सर्वोदय साहित्य माला के प्रकाशन

[नोट—X चिन्हित पुस्तकें अप्राप्य हैं]

पुस्तक	लेखक	
१. दिव्य-जीवन	स्वेट मार्डेन	।=)
२. जीवन-साहित्य	काका कालेलकर	१।)
३. तामिल वेद	ऋषि तिरुवल्लुवर	।।)
४. भारत में व्यसन और व्यभिचार :	वैजनाथ महोदय	।।=)
५. सामाजिक कुरीतियाँX		।।)
६. भारत के स्त्री-रत्न [तीन भाग]	शिवप्रसाद पण्डित	३)
७. अनोखाX		१।=)
८. ब्रह्मचर्य-विज्ञान	जगन्नारायण देव शर्मा	।।=)
९ यूरोप का इतिहास	रामकिशोर शर्मा	२)
१०. समाज-विज्ञान	चन्द्रराज भण्डारी	।)
११. खद्दर का संपत्ति-शास्त्रX		।।≡)
१२. गोरो का प्रभुत्वX		।।=)
१३. चीन की आवाजX		।-)
१४. दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह	महात्मा गांधी	१।)
१५. विजयी बारडोलीX		२)
१६. अनीति की राह पर	महात्मा गांधी	।।=)
१७. सीता की अग्नि-परीक्षा	कालीप्रसन्न घोष	।-)
१८ कन्या-शिक्षा	स्व० चन्द्रशेखर शास्त्री	।)
१९. कर्मयोग	श्री अश्विनीकुमार दत्त	।=)
२०. कलवार की करतूत	महात्मा टाल्स्टाय	=)

२१. व्यावहारिक सभ्यता	गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र'	॥)
२२. अंधेरे में उजाला	महात्मा टाल्स्टाय	॥)
२३. स्वामीजी का बलिदान×		।-)
२४. हमारे जमाने की गुलामी×		।)
२५. स्त्री और पुरुष	महात्मा टाल्स्टाय	॥)
२६ सफाई	गणेशदत्त शर्मा	।=)
२७. क्या करे ?	महात्मा टाल्स्टाय	१)
२८. हाथ की कताई-बुनाई×		॥-)
२९. आत्मोपदेश×	एपिक्टेटस	।)
३०. यथार्थ आदर्श जीवन×		॥।-)
३१. जब अँग्रेज नहीं आये थे×	स्व० दादाभाई नौरोजी	।)
३२. गंगा गोविन्दसिंह×		॥=)
३३. श्री रामचरित्र	चिन्तामणि विनायक वैद्य	१।)
३४. आश्रम-हरिणी	वामन मल्हार जोशी	।)
३५. हिन्दी मराठी कोष×		२)
३६. स्वाधीनता के सिद्धान्त×		॥)
३७. महान् मातृत्व की ओर	नाथूराम शुक्ल	॥।=)
३८. शिवाजी की योग्यता	गो० दा० तामसकर	।=)
३९. तरगित हृदय	आचार्य अभयदेव	॥)
४०. हालैण्ड की राज्यक्रांति [नरमेध] मोटले : चन्द्रभाल जौहरी		१॥)
४१. दुखी दुनिया	राजगोपालाचार्य	।=)
४२. जिन्दा लाश×	महात्मा टाल्स्टाय	॥)
४३. आत्मकथा (नवीन सस्ता सस्करण) महात्मा गाँधी		१) ॥)
,, (सक्षिप्त सस्करण . कोर्स के लिए)		.-॥)

४४.	जब अंग्रेज आयेX		१।=)
४५.	जीवन-विकास	सदाशिव नारायण दातार	१।)
४६.	किसानो का बिगुलX		=)
४७	फासी	विक्टर ह्यूगो	।=)
४८	अनासक्तियोग और गीताबोधX		।=)
४९.	स्वर्ण विहानX		।=)
५०.	मराठो का उत्थान और पतन	गोपाल दामोदर तामसकर	२॥)
५१.	भाई के पत्र	रामनाथ 'सुमन'	१)
५२.	स्वगतX	हरिभाऊ उपाध्याय	।=)
५३.	युगधर्मX		१=)
५४.	स्त्री-समस्या	मुकुटबिहारी वर्मा	१॥)
५५.	विदेशी कपडे का मुकाबिलाX		॥=)
५६.	चित्रपट	शान्तिप्रसाद वर्मा	।=)
५७.	राष्ट्रवाणीX		॥=)
५८	इंग्लैण्ड में महात्माजी	महादेव देसाई	॥)
५९	रोटी का सवाल	प्रिंस क्रोपाटकिन	१)
६०.	दैवी सपद्	रामगोपाल मोहता	।=)
६१.	जीवन सूत्र	थॉमस केम्पिस	॥)
६२.	हमारा कलक	महात्मा गाँधी	॥=)
६३.	बुद्बुद्	हरिभाऊ उपाध्याय	॥)
६४	सघर्ष या सहयोग ?	प्रिंस क्रोपाटकिन	१॥)
६५.	गाँधी विचार दोहन	किशोरलाल मशरूवाला	॥)
६६.	एशिया की क्रान्तिX		१॥)
६७.	हमारे राष्ट्रनिर्माता (दूसरा भाग)	रामनाथ 'सुमन'	१॥)

६८.	स्वतंत्रता की ओर	हरिभाऊ उपाध्याय	१।।)
६९.	आगे बढ़ो	स्वेट् मार्डेन	।)
७०.	बुद्धवाणी	वियोगी हरि	।।=)
७१.	काँग्रेस का इतिहास	डॉ० पट्टाभि सीतारामैया	२।।)
७२.	हमारे राष्ट्रपति	सत्यदेव विद्यालंकार	१)
७३.	मेरी कहानी	जवाहरलाल नेहरू	२।।) १)
७४.	विश्व-इतिहास की झलक	" "	८) =)
७५.	हमारी पुत्रियाँ कैसी हों ?	चतुरसेन शास्त्री	।।)
७६.	नया शासन विधान (प्रान्तीय स्वराज्य)	हरिश्चन्द्र गोयल	।।।)
७७.	(१) हमारे गाँवों की कहानी	स्व० रामदास गौड़	।।)
७८.	(२) महाभारत के पात्र–१	आचार्य नानाभाई	।।)
७९.	गाँवों का सुधार और संगठन	स्व० रामदास गौड़	१)
८०.	(३) संतवाणी	वियोगी हरि	।।)
८१	विनाश या इलाज ?	म्यूरियल लेस्टर	।।।)
८२.	(४) अंग्रेजी राज में हमारी दशा	डॉ० अहमद	।।)
८३	(५) लोक-जीवन	काका कालेलकर	।।)
८४	गीता-मंथन	किशोरलाल मशरूवाला	१।।)
८५	(६) राजनीति प्रवेशिका	हेरल्ड लास्की	।।)
८६	(७) हमारे अधिकार और कर्तव्य	कृष्णचन्द्र विद्यालंकार	।।)
८७.	गांधीवाद : समाजवाद	संपादक : काका कालेलकर	।।।)
८८.	स्वदेशी : ग्रामोद्योग	महात्मा गाँधी	।।)
८९.	(८) सुगम चिकित्सा	चतुरसेन शास्त्री	।।)
९०.	पिता के पत्र पुत्री के नाम	जवाहरलाल नेहरू	।।)
९१	महात्मा गांधी	रामनाथ 'सुमन'	।=)
९२	हमारे गाँव और किसान	मुख्तारसिंह	।।)
९३	ब्रह्मचर्य	महात्मा गांधी	।।)
९४.	महात्मा गांधी : अभिनन्दन ग्रन्थ	सम्पादक : स० रा०	१।।) २)

क्रोपाटकिन की

रचनायें

१. भावी क्रांति का संगठन (रोटी का सवाल)

२. नवयुवकों से दो बातें

३. संघर्ष या सहयोग ?

४. खेती, फेक्टरियाँ और कारख़ाने (छप रही है)

५. आत्म-कहानी (छप रही है)

दाम : बारह आना